स्वतन्त्र भारत की एक झलक

डा० बाबूराम मिश्र

एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), डी० एस-सी० (लंदन)
(प्रोफेसर, पटना विश्वविद्यालय एवं सदस्य, बिहार विधान सभा)

प्रकाशन शाखा
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

भूमिका

प्रस्तुत रचना का प्रमुख उद्देश्य स्वतन्त्रता के पश्चात प्रथम दस वर्षों में भारत के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में हुई शान्तिपूर्ण क्रान्तियों का संक्षिप्त विवरण देना है। इन क्षेत्रों के विशद परिवर्तनों का सम्यक विश्लेषण इतनी छोटी रचना में करना कठिन है। इन विकासों का आधार भी स्वतन्त्रता के बाद वाली छोटी अवधि नहीं रही है। बहुमुखी प्रगतियां अपना मार्ग बहुत पहले से ही निश्चित करती रही हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रीय-विकासों का आधार भी वर्षों पूर्व से निर्मित होता रहा है। उनका स्थूल-रूप केन्द्रित होकर स्वतन्त्रता के पश्चात प्रकट हुआ है। प्रस्तुत रचना में इन्हीं का सुसम्बद्ध रूप देने का प्रयास हुआ है। स्वतन्त्रता के पश्चात प्रथम दस वर्षों में भारतीय जनता निजी प्रयासों तथा वाह्य सहयोगों और सद्भावनाओं के सुयोग से अपनी राजनैतिक संस्थाओं, आर्थिक स्थितियों और सामाजिक संगठनों को किस स्तर तक उन्नतिशील बना सकी है, इसी का विश्लेषण किया गया है। रचना को तीन खण्डों में इसी आधार पर विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में स्वतन्त्रता के पश्चात राजनैतिक क्षेत्र में हुए क्रान्तिपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख है। इसमें प्राथमिकता भारतीय संविधान को दी गयी है, क्योंकि यह सम्पूर्ण राष्ट्र को प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर सुसंगठित बनाने का आधार प्रस्तुत करता है। द्वितीय स्थान प्रथम और द्वितीय आम चुनावों को दिया गया है जो भारतीय जनता को प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुरूप स्वराज्य के प्रत्यक्ष अनुभव का अवसर देते हैं। इसके बाद राजनैतिक क्षेत्र के उन परिवर्तनों की व्याख्या है जिनसे भारत का वर्तमान राजनैतिक स्वरूप सुगठित हो सका है।

द्वितीय खण्ड में देश के आर्थिक क्षेत्र के क्रांतिपूर्ण परिवर्तनों की व्याख्या की गयी है। इसमें प्राथमिकता आर्थिक विकास योजनाओं को दी गयी है जिनके पंचवर्षीय खण्डों द्वारा देश की प्राकृतिक और मानवीय शक्तियों का उच्चतम प्रयोग करके देश की समृद्धि बढ़ायी जा रही है। कृषि प्रधान देश होने के कारण भूमि-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध यहां की आर्थिक प्रगति में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। स्वतन्त्रता के बाद इस क्षेत्र में किये गये परिवर्तनों का विवरण, योजनाओं के विश्लेषण के

बाद ही दिया गया है। केवल अखिल देशीय आधार पर विकास योजनाओं को चलाने अथवा भूमि व्यवस्था में सुधार लाने मात्र से ही ग्रामीणों का सर्वतोमुखी विकास सीमित अवधि में सम्भव नहीं था। ग्रामीणों की परम्परागत रूढ़िवादिता और निष्क्रियता मिटाने के लिए उनके बीच विकास के विशेष कार्यक्रमों का प्रारम्भ आवश्यक था। उसी की पूर्ति के लिए आधुनिकतम विधियों का प्रयोग करते हुए ग्रामीण-क्षेत्रों के सर्वतोमुखी विकास के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ और राष्ट्रीय प्रसार, सेवा खण्ड चलाये जा रहे हैं। इनका विवरण भूमि-सुधार के बाद वाले प्रकरण में दिया गया है।

आचार्य विनोबा जी के भूदान आन्दोलन को आर्थिक क्रान्ति की अपेक्षा सामाजिक क्रान्ति ही माना जा सकता है। इसका प्रारम्भ भूमिहीन श्रमिकों और छोटे-छोटे कृषकों की भूमि विपन्नता मिटाने के उद्देश्य से अवश्य किया गया, लेकिन इसका प्रसार देशवासियों की स्वामित्व सम्बन्धी मनोवृत्तियों को बदलने के लिए हो रहा है। इसके बाद वाले कार्यक्रम जैसे सम्पत्तिदान, जीवनदान, ग्रामदान आदि इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित करते हैं। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए भूदान आन्दोलन को आर्थिक-क्रान्ति के अन्तर्गत न रखकर सामाजिक क्रांतियों के अन्तर्गत प्राथमिकता दी गयी है। सामाजिक जीवन में प्रचलित कुरीतियों तथा कुप्रथाओं को मिटाने का प्रयास संवैधानिक और प्रचार-विधियों से हो रहा है। महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा के लिए तथा उन्हें शारीरिक और नैतिक शोषण से बचाने के लिए विशेष प्रयत्न हुए हैं। अपराधी मनोवृत्तियों वाले लोगों को सुधारने तथा दूसरों की कृपा पर जीने वाले अपाहिजों को राष्ट्र की तरफ से विशेष संरक्षण दिये जा रहे हैं। इनका विवरण रचना के तृतीय खण्ड के द्वितीय प्रकरण में दिया गया है। तृतीय खण्ड के अन्तिम अध्याय में अनुसूचित जातियों और जन-जातियों को विकसित बनाने के प्रयासों का उल्लेख है। भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के अनुकूल उन्हें विकसित बनाकर शिष्ट समाज में मिलाने के प्रयत्न हो रहे हैं। पाश्चात्य राष्ट्रों की तरह उन्हें मिटाने की प्रवृत्ति नहीं है। इस क्षेत्र के प्रयत्नों का विश्लेषण खण्ड के अन्तिम प्रकरण में किया गया है।

इन तथ्यों के संकलन के लिए देश के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक इतिहास पर प्रकाशित ग्रन्थों और सरकारी प्रकाशनों से सहायता ली गयी है। देशी रियासतों के विलयन वाले प्रकरण के लिए श्री वी० पी० मेनन की रचना से विशेष सहयोग मिला है। अन्य उन लेखकों के प्रति भी प्रस्तुत रचनाकार आभार

प्रकट करता है जिनकी रचनाओं से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में ग्रन्थ के सम्पादन में सहायता मिली है।

मुझे विश्वास है कि यह प्रयास देश के सामान्य नागरिकों को स्वतन्त्र भारत की विविध क्षेत्रीय गतिविधियों से अवगत कराने में सहायक हो सकेगा।

—लेखक

विषय-सूची

पहला अध्याय

हमारा भारत

विकास के पथ पर

स्वतंत्रता ने भारत के इतिहास में नव-युग का समारम्भ किया है। इसके पूर्व पराधीनता दूर करने में ही देश की सभी शक्तियां लगी हुई थीं। इसके मिलते ही विकास और निर्माण के नये रुख प्रारम्भ हो गये हैं। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक तीनों क्षेत्रों में नयी व्यवस्थाएं शान्ति पर क्रान्तिपूर्ण ढंग से लायी जा रही हैं। परिवर्तन का क्रम इतना तीव्र है कि दस वर्ष की अल्प अवधि में ही भारत बहुत-कुछ बदल गया है। स्वतंत्रता मिलने के ठीक पूर्व की स्थिति और आज के वातावरण में कोई समता नहीं रही। आधुनिक भारत जनता, जन-नेताओं और राज्य-कर्मचारियों के सहयोग से अपने राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन की अपूर्व क्रान्तियों से गुजर रहा है। यद्यपि परिवर्तन-क्रमों की इस प्राथमिक स्थिति में उसकी तीव्रता देखते हुए संतुलित पर्यवेक्षण करना कुछ संदिग्ध लगता है लेकिन फिर भी उनकी व्यापकता और विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रस्तुत रचना में नव-भारत की इन्हीं क्रान्तियों की झलक देने का प्रयास किया गया है।

स्वतन्त्र भारत के विभिन्न क्षेत्रों में क्रान्तिपूर्ण विकास-क्रमों को समझने के लिए उनकी प्रगति का आधार दृष्टि में रखना आवश्यक है। भारतीय जीवन के विविध पहलुओं में होनेवाले परिवर्तनों की सफलता का रहस्य भारतीयों की संगठित प्रगति-भावना तथा उनकी प्राकृतिक और मानवीय शक्तियों की सम्पन्नता में निहित है। प्रगति भावना को बल देनेवाली प्रस्तुत परिस्थितियां और उनकी अपूर्वता है। शताब्दियों के पश्चात भारतीयों को अपने विकास का क्रम और उन्नति का मार्ग स्वयं निर्मित करने का सुअवसर असंख्य देशभक्तों के कठोर श्रम और महान बलिदान से सुलभ हुआ है। अंग्रेजों की दमन और शोषण नीति से हुआ देश का ह्रास और राष्ट्रीय विकास का अवरोध अभी भी स्मृति-पटल पर स्पष्ट है। पारस्परिक संघर्ष और द्वेष के कारण आनेवाली निर्बलता और परिणामस्वरूप विदेशियों द्वारा विजित

और शासित होने के अनुभव भी सजीव हैं। इनके प्रकाश में अपनी प्राकृतिक और मानवीय शक्तियों का ठीक अनुमान करके उनके संगठित प्रयोगों द्वारा राष्ट्र को समृद्ध बनाने तथा पारस्परिक विग्रह व दुर्बलता लाने वाली प्रवृत्तियों और शक्तियों को समाप्त करने के प्रयास स्वाभाविक हैं। इसके अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों की आर्थिक और वैज्ञानिक उन्नति भी भारतीयों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में किसी राष्ट्र के लिए विकास करना केवल विकास के लिए ही नहीं, बल्कि समुन्नत राष्ट्रों के समकक्ष होकर अपनी अमूल्य निधि 'स्वतंत्रता' की सुरक्षा के लिए अनिवार्य हो गया है। सभी जानकार भारतीय इन तथ्यों से पूर्ण परिचित हैं। इसी के परिणामस्वरूप विकास की आधार-शिला---जन-चेतना---सुदृढ़ होती जा रही है।

भारतीयों की संगठित-प्रगति-भावना अपने विकास और कार्य का उचित क्षेत्र देश की प्राकृतिक और मानवीय शक्तियों की सम्पन्नता में पाती है। प्राकृतिक सम्पन्नता इसकी उपयुक्त स्थिति, आकार की विशालता, धरातल की विविधरूपता, उपयोगी जलवायु, विविध खाद्यान्नों, कच्चे मालों और खनिज पदार्थों की सुलभता तथा अपार पशुसम्पत्ति में विद्यमान है। मानवीय शक्ति यहां के नित्यप्रति बढ़ते हुए जन समूह से सुलभ है जिसमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ढंग से विशाल कार्य-क्षमता मिलती है। राष्ट्रीय विकास के इन्हीं महत्त्वपूर्ण उपकरणों का विश्लेषण आगे किया गया है।

प्रथम खण्ड

प्राकृतिक सम्पन्नता

उपयुक्त स्थिति और विशाल आकार

भारत की स्थिति पूर्वी गोलार्द्ध में ऐसे उपयुक्त स्थल पर है जहां से अधिकांश पूर्वीय और पश्चिमी देशों से जल और स्थल मार्ग द्वारा सम्बन्ध रखा जा सकता है। उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में हिन्द महासागर, पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में अरब सागर की प्राकृतिक सीमाओं के बीच सारा देश भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित है। उत्तरी अक्षांश रेखा ८° से ३०° तक और पूर्वी देशान्तर रेखा ६६° से ९७° तक यह फैला है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई लगभग २००० मील है और पूर्व से पश्चिम तक चौड़ाई लगभग १७०० मील है। इसकी स्थलीय सीमा ९३०९ मील और समुद्री किनारे ३५०० मील लम्बे हैं। जम्मू-काश्मीर सहित देश का क्षेत्रफल लगभग १२,६९,६४० वर्गमील है। आकार की दृष्टि से यह संसार के सभी बड़े देशों में सातवां स्थान रखता है। आकार की यह विशालता देश की भावी प्रगति की महानता की द्योतक है, क्योंकि इसका अधिकांश क्षेत्र उत्पादक है जिसकी प्राकृतिक अथवा कृषि-कार्य द्वारा प्राप्त उपजों को विविध लाभ-पूर्ण प्रयोजनों में लगा सकते हैं।

धरातल की विविधरूपता

सम्पूर्ण देश की प्राकृतिक बनावट समान नहीं है। इसको तीन अलग भागों में बांटा जा सकता है।

उत्तरी हिस्सा हिमालय का पर्वतीय प्रदेश है जिसमें कई श्रेणियां पामीर से आसाम तक लगभग १५०० मील की लम्बाई में फैली हैं। संसार की कुछ सबसे ऊँची चोटियां जैसे एवरेस्ट, गाडविन आस्टिन, कांचन जंघा इसी में स्थित हैं। श्रेणियों के बीच में कुछ उपजाऊ घाटियां और पठार भी हैं जो प्राकृतिक वृक्षों और शीतोष्ण कटिबन्धीय पैदावारों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें काश्मीर और कुलु की घाटियां अपनी शोभा के लिए अद्वितीय हैं। ये पर्वतीय प्रदेश ही भारत जैसे गर्म देश

में शीतकटिबन्धीय उपजों को देने में सहायक होते हैं। इनमें विविध प्रकार की उपयोगी लकड़ियां, औषधियां आदि भी सुलभ होती हैं। यह क्षेत्र भारत में अपार जल-विद्युत-शक्ति के उत्पादन का केन्द्र प्रस्तुत करता है। जैसा कि भूतत्ववेत्ताओं का कहना है, भारत के सर्वोत्कृष्ट खण्ड—नदियों का मैदान—इसी क्षेत्र से निकली नदियों द्वारा निर्मित और पोषित हुआ है।

देश का दूसरा प्राकृतिक खण्ड नदियों का मैदान है जो लगभग १५०० मील लम्बा और १५० से २०० मील तक चौड़ा है। इसमें रावी, व्यास, सतलज, गंगा, यमुना, गोमती, घाघरा, ब्रह्मपुत्र आदि अनेक नदियां बहती हैं जिनकी लायी हुई उपजाऊ मिट्टी से इसकी रचना हुई है। इस मैदान में उपजाऊ मिट्टी की गहराई कहीं-कहीं १३०० फुट से भी अधिक आंकी जाती है। भारत का यह मैदान अपनी उर्वरता के लिए विश्व में प्रख्यात है। जलवायु के अनुसार इसके विभिन्न खण्डों में अनेक कृषि पदार्थों की पैदावार होती है। खाद्यान्नों में धान, गेहूं, जौ, ज्वार-बाजरा, मक्का और दालें तथा व्यावसायिक उपजों में जूट, गन्ना, कपास, तिलहन और तम्बाकू उल्लेखनीय हैं। इनसे भारतीय जनता की खाद्य-समस्या ही नहीं प्रभावित होती, बल्कि अनेक दीर्घाकार एवं अल्पाकार उद्योगों को चलाने के लिए आवश्यक कच्चे माल भी सुलभ होते हैं। सम्पूर्ण देश की बड़ी जनसंख्या इसी खण्ड में निवास करती है। सुविख्यात आर्य-संस्कृति का उद्भव और विकास भी इसी क्षेत्र में हुआ था। नदियों के मैदान के दक्षिण में तीसरा प्राकृतिक खण्ड पठारों का है जिन्हें अरावली, सतपुड़ा, विंध्याचल, मैकल, अमरकण्टक आदि पहाड़ियां मैदान से अलग करती हैं। इन पहाड़ियों की ऊँचाई १५०० फुट से ४००० फुट तक है। इस पठारी प्रदेश के पश्चिमी खण्ड में पश्चिमी घाट की पहाड़ियां हैं जिनकी ऊँचाई सामान्यतः ३००० फुट के लगभग है। लेकिन कुछ हिस्सों में इनकी ऊँचाई ९००० फुट तक है। पूर्वी तरफ पूर्वी घाट की पहाड़ियां हैं जो पश्चिमी घाट की पहाड़ियों की तुलना में कम ऊँची हैं (लगभग १५०० फुट)। पूर्वी और पश्चिमी घाट सुदूर दक्षिण में नीलगिरि की पहाड़ियों द्वारा एक दूसरे से मिलते हैं। इन घाटों और समुद्र के बीच उपजाऊ तटीय मैदान हैं। पश्चिमी तटीय मैदान बहुत सँकरे होने के कारण अधिक उपयोगी नहीं हैं पर पूर्वी तटीय मैदान अधिक फैले होने के कारण कृषि पैदावारों के लिए लाभदायक हैं। पठारी प्रदेश के उत्तरी खण्ड में पश्चिम और नर्मदा और ताप्ती नदियां सतपुड़ा पहाड़ियों से होकर बहती हैं। पूर्वी तरफ महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदियां बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। ये नदियां सिंचाई के साधन के साथ जल-विद्युत-शक्ति का प्रभावपूर्ण स्रोत प्रस्तुत करती हैं। यह खण्ड कृषि

पदार्थों और वनीय उपजों के साथ खनिज पदार्थों का अपार भण्डार रखता है। आधुनिक उद्योगों को चलाने के लिए आवश्यक शक्ति का प्रमुख स्रोत—कोयला और अन्य लौह, अलौह धातुएं इसी क्षेत्र में सुलभ होती हैं। इसमें उष्ण कटिबंधीय व्यावसायिक पदार्थ जैसे रबर, शहतीर, गर्ममसाले उत्पन्न किये जाते हैं। तिलहन की उपज भी पर्याप्त मात्रा में होती है। इस प्रकार यह क्षेत्र अपने में भावी औद्योगिक प्रगति की तेज राशि सन्निहित रखता है।

जलवायु

देश की धरातल सम्बन्धी बनावट की उपयोगिता बढ़ाने और अनेक प्रकार की वनस्पतियों तथा कृषि-पदार्थों को उत्पन्न करने में यहां की जलवायु का महत्त्वपूर्ण योग है। अक्षांशीय स्थिति के आधार पर इसका उत्तरी हिस्सा सम-शीतोष्ण और दक्षिणी हिस्सा उष्ण प्रदेश में आता है। कर्क रेखा इसके बीचोबीच से गुजरती है। लेकिन प्राकृतिक स्थिति—उत्तर में विशाल पर्वत और दक्षिण में विस्तीर्ण जलराशि—के कारण मानसूनी जलवायु है। वर्ष भर में तीन ऋतुओं का चक्कर होता है। नवम्बर से फरवरी के अन्त तक जाड़े का मौसम रहता है। इसमें औसत तापमान ५५ फा० (पंजाब) से लेकर ७५ फा० (मद्रास) तक होता है। मार्च से आधे जून तक गर्मी का मौसम होता है। इसमें उत्तरी-पश्चिमी देश का तापमान बहुत अधिक बढ़ जाता है। गर्मी के बाद ही वर्षा प्रारम्भ होती है। यह मौसम आधे जून से सितम्बर-अक्टूबर तक चलता है। इसी मौसम में देश के अधिकांश में दक्षिणी-पश्चिमी मानसून से वर्षा होती है। जाड़े में उत्तरी-पूर्वी मानसून से मद्रास और केरल के कुछ भागों में वर्षा होती है। पश्चिमी तट, पश्चिमी बंगाल और आसाम में ८०" से अधिक वर्षा होती है। उत्तरी पूर्वी पठार और गंगा की मध्य घाटी में ४०" से ८०" तक वर्षा हो जाती है। मद्रास, दक्षिणी और उत्तरी-पश्चिमी पठार तथा गंगा की ऊपरी घाटी में २०" से ४०" तक वर्षा होती है। राजस्थान में वर्षा अतिन्यून और हिमालय प्रदेश में अत्यधिक होती है।

यहां की जलवायु सम्बन्धी विषमता के कारण ही विविध वनस्पतियां—उष्ण कटिबंधीय और मरुस्थली पैदावारों से लेकर शीत कटिबंधीय पैदावारों तक—उत्पन्न होती हैं। इसकी क्षेत्रीय विविधता बड़े पैमाने पर अंतर्देशीय व्यवसाय सुलभ करती है। जनता की आय बढ़ाने तथा सेवा आयोजन का प्रभावपूर्ण स्रोत प्रस्तुत करने-वाले अनेक उद्योगों और उद्यमों को संचालित कराने का श्रेय भी इन प्राकृतिक उपजों और कृषि-पैदावारों को ही है। समान धरातल की बनावट और समान

जलवायु से उपजों में समानता होती है। वैसी स्थिति में अन्यान्य उद्योगों को स्थापित करके राष्ट्रीय आय में वृद्धि लाना विकट समस्या होती। देश की अपूर्व समृद्धि की सम्भाव्यता यहां की विविध उपजों पर ही आधारित है।

शक्ति के स्रोत एवं खनिज सम्पत्ति

भारत की प्राकृतिक सम्पन्नता वानस्पतिक उपजों तक ही नहीं सीमित है। आधुनिक विशाल उद्योगों को चलाने के लिए आवश्यक शक्ति के स्रोत और विविध खनिज पदार्थ भी यहां सुलभ हैं। घरेलू कार्यों और कुछ कुटीर उद्योगों में लकड़ी, गोबर, कृषि उत्पादनों के निरर्थक अंश शक्ति के साधन के रूप में व्यवहृत होते हैं। बड़े उद्योगों में शक्ति-स्रोत के रूप में प्रायः कोयला, पेट्रोल और जल-विद्युत व्यवहृत होते हैं। कोयला निकालनेवाले देशों में भारत का सातवां स्थान है। इसे विशेषतः रानीगंज और झरिया से निकालते हैं। देश के कुल कोयला उत्पादन का लगभग ९० प्रतिशत इन्हीं दोनों क्षेत्रों से आता है। आसाम राज्य में भी कोयले का भण्डार है यद्यपि वह घटिया किस्म का है। पिछली खोजों से पता लगा है कि मद्रास और कच्छ में कोयला पाया जाता है। इस प्रकार कोयले की मात्रा हमारी आवश्यकता के अनुकूल अभी तो है ही भविष्य में भी सुलभ होगी। १९५५ के आंकड़ों के अनुसार देश में उस वर्ष लगभग ३८२ लाख टन कोयला, जिसका मूल्य लगभग ५६·०३ करोड़ रुपये होता है, निकाला गया। खानों में काम करनेवाले कुल श्रमिकों की संख्या के आधे से अधिक कोयला निकालने में लगे हैं।

कोयले से भी अधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति का स्रोत जल-विद्युत है। देश में इसे उत्पन्न करने के तीन प्रमुख क्षेत्र हैं—(१) हिमालय की श्रेणियां, हिमांचल प्रदेश से आसाम तक; (२) पश्चिमी घाट; (३) मद्रास में दक्षिणी पहाड़ियां। यद्यपि सम्पूर्ण देश में जल-विद्युत-उत्पादन की सम्भावना का सर्वेक्षण नहीं हो सका है—लेकिन ऐसा अनुमान है कि इस स्रोत से देश भर में लगभग ४०० लाख किलोवाट विद्युत-शक्ति उत्पन्न हो सकती है, जिसका प्रयोग उत्पादन कार्यों एवं सामान्य उपभोगों में हो सकता है। १९५५-५६ के आंकड़ों के अनुसार इससे ३४ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होती है। विभिन्न राज्यों में बहुप्रयोजनक और जल-विद्युत उत्पादक अनेक योजनाओं को चलाया जा रहा है। १९६०-६१ तक इनसे जल-विद्युत शक्ति लगभग ६९ लाख किलोवाट तक निकाली जा सकेगी।

पेट्रोल का उत्पादन देश में विशेषतः सीमित है। आसाम के डिगबोई नामक स्थान के आसपास से प्रतिवर्ष लगभग ६५० लाख गैलन पेट्रोल निकाला जाता

है। यह उत्पादन देश की कुल मांग के दसवें हिस्से से भी कम है। पेट्रोल की कमी पूरा करने के लिए औद्योगिक तथा शक्ति सुरासार (इंडस्ट्रियल ऐंड पॉवर अल्कोहल) का उत्पादन बढ़ाने का प्रयास हो रहा है। अभी इसका उत्पादन लगभग १८० लाख गैलन प्रतिवर्ष है। द्वितीय योजना के अन्त तक इसकी मात्रा दुगुनी करने का प्रयास है। इस प्रगति से यह विश्वास है कि इसके द्वारा पेट्रोल की कमी बहुत कुछ पूरी हो सकेगी। पिछली खोजों से यह भी पता लगा है कि समुद्री किनारों पर लगभग ५ लाख वर्गमील क्षेत्र में पेट्रोल मिलने की सम्भावना है। यदि यह सम्भावना स्थूल रूप ले सकी तो इस शक्ति में भी भारत सम्पन्न हो जायगा। यदि विशेष सफलता नहीं भी मिली तो चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं होगी। बढ़ती हुई जल-विद्युत शक्ति और पर्याप्त मात्रा में सुलभ कोयला हमें विकास का समुचित क्षेत्र दे सकेंगे। इनके अतिरिक्त परमाणु-शक्ति, सौर-ताप और वायु-शक्ति को भी बढ़ाने और उद्योगों के व्यवहार में लाने का प्रयास हो रहा है। इनसे भी विविध क्षेत्रों में विकास के लिए उचित शक्ति सुलभ हो सकेगी।

शक्ति-स्रोतों की पर्याप्त सुलभता खनिज पदार्थों की सम्पन्नता के साथ देश में आधुनिक प्रकार के मूल धात्विक उद्योगों के विकास का समुचित क्षेत्र प्रस्तुत करती है। विश्व के सर्वोत्कृष्ट कोटि के कच्चे लोहे का भण्डार यहां है। क्योंझर, बोनाई, मयूरभंज और सिंहभूमि से लेकर छत्तीसगढ़, बस्तर और दक्षिणी मध्य प्रदेश तक धरती के नीचे अच्छी कोटि का लोहा भरा पड़ा है। निम्न श्रेणी का लोहा रानीगंज, सलेम, मैसूर, रत्नगिरि और कुमायूं में भी पाया जाता है। देश का समस्त लौह भण्डार १००० करोड़ टन से भी अधिक आंका जाता है। १९५५ में लगभग ४६.५ लाख टन लोहा निकाला गया था। वर्तमान निकासी के आधार पर कुल लोहा आगामी २००० वर्षों से भी अधिक के लिए पर्याप्त है। मैंगनीज के उत्पादन में भारत विश्व में तीसरा स्थान रखता है। इसे मध्य प्रदेश क्योंझर, बोनाई, आंध्र और उड़ीसा की पहाड़ियों, सिंहभूमि, उत्तरी बम्बई, उदयपुर और मैसूर से निकाला जाता है। वार्षिक निकासी लगभग १५.८ लाख टन है। रसायनिक प्रक्रियाओं में व्यवहृत क्रोमाइट, क्योंझर, सिंहभूमि और मैसूर में मिलता है। अन्य लौह तथा उष्मसह धातुएं भी यहाँ मिलती हैं जैसे सिंहभूमि और मयूरभंज में वैनेडियम; सलेम मैसूर और राजस्थान में बम्बई की सीमा पर कच्चा मैगनेसाइट; दामोदर के कोयला क्षेत्र और कोलार में अग्निजित मिट्टी; मद्रास, मैसूर, रीवां, सिंहभूमि, खासी पहाड़ियों और काश्मीर में कोरंडम आदि।

अलौह धातुएं इस देश में अपेक्षाकृत कम हैं। कुछ जैसे निकल, कोबाल्ट,

टंगस्टन (tungsten) और टिन अप्राप्य हैं। सोना, ताँबा, अल्यूमिनियम, थोड़ी मात्रा में मिलते हैं। सोना कोलार की खान से, ताँबा सुवर्ण रेखा नदी के आसपास, उत्तरी राजस्थान, पश्चिमी गढ़वाल और कुल्लू घाटी में और अल्युमिनियम बनाने में व्यवहृत बॉक्साइट तथा लेटराइट मध्य प्रदेश और दक्षिणी प्रायद्वीप में मिलते हैं। अभ्रक निकालने में भारत का स्थान विश्व में सर्वश्रेष्ठ है। संसार की कुल निकासी का ७० से ८० प्रतिशत इसी देश से प्राप्त होता है। राजस्थान, आंध्र के नेलोर और बिहार के हजारीबाग जिले में इसका बाहुल्य है।

अन्य अलौह पदार्थों में अणु विखण्डन के लिए आवश्यक बेरिल और मोनाजाइट भी मिलते हैं। सीमेंट में व्यवहृत जिप्सम राजस्थान, मद्रास और उत्तरी बम्बई में पाया जाता है। खाद निर्माण के लिए आवश्यक एपाटाइट सिंहभूमि, हजारीबाग, मसूरी और तिरुचिरापल्ली में मिलता है।

कुछ अलौह पदार्थों की अपर्याप्तता इस देश में अवश्य है लेकिन औद्योगिक प्रगति का आधार प्रस्तुत करनेवाली लौह धातुओं और शक्ति-स्रोतों की सुलभता इसका विकास निश्चित कर देती है। मूल उद्योगों का प्रसार हो चुकने पर अन्य उद्योगों के लिए आवश्यक पदार्थ पारस्परिक विनिमय के आधार पर दूसरे देशों से प्राप्त किये जा सकते हैं और सभी क्षेत्रों में अनवरत उन्नति हो सकती है। सभी उन्नतिशील राष्ट्र सभी खनिज और वानस्पतिक उपजों में सम्पन्न नहीं होते। अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय के आधार पर अपनी कमियों को पूर्ण करते हुए वे प्रगति करते जाते हैं। भारत की विविध प्राकृतिक सम्पत्तियां उसे स्वयं और अंतर्राष्ट्रीय विनिमय के आधार पर स्थायी ढंग से उन्नति करने का क्षेत्र प्रस्तुत करती हैं।

पशु सम्पत्ति

भारत की प्राकृतिक सम्पत्ति का विवरण पशुओं का उल्लेख किये बिना अपूर्ण ही होगा, क्योंकि इसके निवासियों का मुख्य उद्यम कृषि, जो केवल बड़े जनसमूह को जीविका का साधन और सम्पूर्ण देश को खाद्यान्न ही नहीं देती बल्कि सभी भावी प्रगतियों का मूल आधार प्रस्तुत करती है, अभी पशु-शक्ति पर ही निर्भर है। इसके अतिरिक्त कृषकों के सहायक उद्यम और एक बड़े जनसमूह के मुख्य उद्यम के रूप में पशु-पालन बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। इन घरेलू पशुओं की संख्या १९५६ में की गयी पंचवर्षीय पशु-गणना के अनुसार इस प्रकार थी—गाय-बैल १५.८९ करोड़, भैंसें ४.४८ करोड़, भेड़ें ३.८७ करोड़ और बकरियाँ

५'६६ करोड़। यद्यपि इनमें से बहुत से पशु निरर्थक हैं और विदेशी मवेशियों की तुलना में इनकी उत्पादकता बहुत कम है फिर भी प्रतिवर्ष इनसे लगभग ६६४ करोड़ रुपये मूल्य की विविध उत्पत्तियां होती हैं। कुछ सुधारों के साथ पशु-पालन ग्रामीण और अर्द्धनागरिक क्षेत्रों में बहुत ही लाभपूर्ण उद्योग के रूप में बढ़ाया जा सकता है।

द्वितीय खण्ड

जन-शक्ति

संख्या—भारत की अपार और विविध प्राकृतिक सम्पत्तियों का उपयोग करने के लिए विशाल जन-शक्ति सुलभ है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या लगभग ३५ करोड़ ६९ लाख थी (जम्मू-काश्मीर तथा आसाम के आदिवासी क्षेत्रों को छोड़कर)। १९५६ के अनुमान से यह संख्या ३८ करोड़ ६५ लाख के लगभग (जम्मू और काश्मीर के साथ) है। इस प्रकार इसके लगातार बढ़ने का क्रम स्पष्ट है। अनुमान है कि प्रतिवर्ष १ $\frac{१}{४}$ प्रतिशत से जन-संख्या बढ़ रही है। पिछले कुछ वर्षों से बढ़ने की दर और भी अधिक हो गयी है क्योंकि स्वास्थ्य और सफाई की विशेष व्यवस्था होने से मृत्यु-दर पहले से घटी है पर जन्म-दर लगभग पूर्ववत है।

वितरण—सम्पूर्ण देश में जन संख्या का वितरण समान नहीं है। कुछ क्षेत्रों में औसत घनत्व प्रतिवर्ग मील अधिक है और कुछ में कम। घने बसे क्षेत्रों में केरल, पश्चिमी बंगाल, मद्रास, बिहार और उत्तर प्रदेश हैं जिनमें औसत घनत्व प्रति वर्ग मील क्रम से ९०१, ७७५, ५९८, ५७२ और ५५७ हैं। राजस्थान, मध्य प्रदेश, आसाम और जम्मू-काश्मीर में आबादी का घनत्व कम है। जन-समूह का यह वितरण प्राकृतिक सम्पत्तियों के सदुपयोग की दृष्टि से कहाँ तक उचित है और कितना उसमें परिवर्तन सम्भव है इसका निश्चय सम्पत्तियों की प्रयोग-विधि और जनता के सहयोग से करना होगा। अभी तक प्रचलित आर्थिक प्रयत्नों और अधिकांश प्राकृतिक सम्पत्तियों के उचित उपयोग के अभाव में यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत जनसंख्या के वितरण का कोई संगठित आधार नहीं रहा है और न तो यह आदर्श ही है।

कार्यशील जन-संख्या

देश की जन-शक्ति के सम्बन्ध में एक बात और विशेष उल्लेखनीय है। उपभोग के लिए एक विशाल जन-समूह अवश्य है लेकिन उसमें उत्पादन कार्यों में सक्रिय

भाग ले सकनेवालों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जन-संख्या का ३८·३ प्रतिशत १४ वर्ष तक के बच्चे हैं और ५५ वर्ष से ऊपर वाले लोग ८·३ प्रतिशत हैं। इस प्रकार उत्पादकता बढ़ाने में सक्रिय योग देने-वाले लोग कुल जन-संख्या का ५९·४ प्रतिशत हैं। इनमें से स्त्रियाँ, जो प्रति हजार पुरुष पर ९४७ की औसत से हैं, पुरुषों जितनी सक्रिय नहीं कहीं जा सकतीं। कुछ वर्गों में परम्परागत प्रथाओं के अनुसार स्त्रियां घरेलू कार्यों को छोड़ कर प्राय: निष्क्रिय ही रहती हैं। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए कार्यशील जनता की संख्या और भी कम समझनी चाहिए। पिछली जनगणना के अनुसार कार्यशील व्यक्तियों की संख्या लगभग १४ करोड़ ३२ लाख आती है। शेष २१ करोड़ ३७ लाख आश्रितों की संख्या है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का उत्पादन २½ व्यक्तियों में वितरित होता है। इस क्रम में सुधार लाने के लिए कार्यशील आश्रितों को कार्य में लगाना और सबकी उत्पादकता भी बढ़ाना आवश्यक है। अप्रयुक्त प्राकृतिक सम्पत्तियों के नये उपयोग और उत्पादन के नये क्रम इसके लिए उचित क्षेत्र प्रस्तुत कर सकेंगे।

इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने में कार्यशील व्यक्तियों का विभिन्न उद्यमों में वितरण समझना आवश्यक है। निम्नांकित तालिका इसे स्पष्ट करती है :—

	कार्यशील व्यक्तियों की संख्या (करोड़ में)	प्रतिशत
(१) कृषि, पशुपालन, वनोद्योग और मत्स्योद्योग में लगे लोग	१०३६	७२·४
(२) खानों, बड़े उद्योगों और कुटीर उद्योगों में लगे लोग	१५३	१०·६
(३) व्यवसाय, परिवाहन और समाचार संवहन में लगे लोग	१११	७·७
(४) अन्य सेवाओं में लगे लोग	१३३	९·३
योग	१४३३	१००·०

कुल कार्यशील व्यक्तियों का ७२·४ प्रतिशत कृषि कार्यों और खानों को छोड़-कर अन्य कच्चे मालों के उत्पादन में संलग्न है। खानों और उद्योगों में कार्य करने-

वालों की संख्या केवल १ करोड़ ५३ लाख है। इसी प्रकार व्यवसाय-परिवहन आदि में लगे लोगों की प्रतिशत कुल कार्यशील जनता का केवल ७·७ प्रतिशत है। इन दोनों दिशाओं में प्रसार की पर्याप्त सम्भावना प्रकृति-प्रदत्त सम्पदाओं से सुलभ है। स्वतन्त्र भारत के विकास-क्रमों का यही रुख है।

वैयक्तिक उत्पादकता और प्रशिक्षण

जन-शक्ति की उपयोगिता केवल उसकी संख्या से नहीं आँकी जा सकती, बल्कि उसकी कुशलता पर ही उत्पादकता निर्भर है। इसके लिए सामान्य प्राविधिक और वैज्ञानिक शिक्षा के साथ-साथ पारस्परिक सहयोग और संगठन लाना आवश्यक है। शिक्षा की दृष्टि से भारतीय जनता बहुत पीछे है। कुल जन-संख्या का केवल १६·६७ प्रतिशत शिक्षित है (१९५१ की जनगणना के आधार पर)। स्त्रियों में अशिक्षितों का प्रतिशत पुरुषों की अपेक्षा और भी अधिक है (लगभग ९२·१३ प्रतिशत)। आधुनिक विज्ञान और प्राविधिकी की शिक्षा तो बहुत पिछड़ी है। परिणामस्वरूप सभी प्रयत्नों में परम्परागत पद्धतियों का प्राबल्य स्वाभाविक है। इसी कारण सभी क्षेत्रों में कार्यकर्त्ताओं की औसत उत्पादकता उन्नतिशील पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत कम है। इसे बढ़ाने के लिए स्वतन्त्रता के पश्चात से ही संगठित प्रयास हो रहे हैं।

धर्म और भाषा सम्बन्धी विविधता

प्रशिक्षण का प्रचार होने से भारतीय जनता का ज्ञान विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ सकता है और उनकी कार्य-कुशलता भी अधिक हो सकती है। लेकिन उसका उपयोग सम्पूर्ण राष्ट्र के उत्थान के लिए किया जाना बिना राष्ट्रीय भावना बढ़ाये और पारस्परिक सहयोग तथा संगठन लाये सम्भव नहीं है। भारतीय जनता की विशालता के साथ उसकी भाषा तथा धर्म सम्बन्धी विषमता सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में संगठित करने में काफी बाधाएं उपस्थित करती है। विश्व की विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण यहां पाया जाता है। धर्म और भाषा सम्बन्धी विविधता भी अत्यधिक है। अनेक धर्मों के माननेवाले लोग अलग-अलग अनुपातों में रहते हैं। सबसे अधिक संख्या हिन्दुओं की है (८५ प्रतिशत)। उसके बाद क्रमश: मुसलमान (९·९२ प्रतिशत), ईसाई (२·३० प्रतिशत), सिख (१·७४ प्रतिशत), जैनी (·४५ प्रतिशत), बुद्ध धर्मावलम्बी (·०६ प्रतिशत), पारसी (·०३ प्रतिशत) और अन्य धर्मावलम्बी (·५ प्रतिशत) हैं। भाषा की अनेकता और भी अधिक

है। १९५१ की जनगणना के अनुसार देश में लगभग ८४५ भाषाएं बोली जाती हैं। इनमें से ७२० ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें से प्रत्येक के बोलनेवाले एक लाख से भी कम हैं। शेष में से ६३ अभारतीय भाषाएं हैं। भारतीय संविधान में राज्य भाषाओं के लिए मान्य चौदह भाषाओं---आसामी, बंगाली,गुजराती,हिंदी,कन्नड, काश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, तामिल, तैलगू और उर्दू---को बोलने वाली जनसंख्या लगभग ३२.४ करोड़ अर्थात कुल जनसंख्या का ९१ प्रतिशत है। इनमें भी हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी और पंजाबी बोलनेवाले इस वर्ग की कुल संख्या का ४६.३ प्रतिशत हैं। उसके पश्चात तैलगू, मराठी, तामिल, बंगाली, गुजराती, कन्नड, मलयालम, उड़िया और असामी भाषाभाषी क्रमशः आते हैं। संस्कृत बोलनेवालों की संख्या सबसे कम है।

भाषा और धर्म की अनेकता भारतीयों में क्षेत्रीय और वर्गीय भक्ति लाने का कारण बनती रही है। इसी से राष्ट्रीयता का प्रसार करना भी कठिन रहा। पारस्परिक सहयोग का अभाव और क्षेत्रीय भक्ति ही पिछली कई शताब्दियों से भारत के पतन और उसे पराधीन बनाने के प्रमुख कारण रहे।

जन-संगठन

ब्रिटिश शासन के विरुद्ध किये गये आन्दोलनों ने सम्पूर्ण भारतीय जनता को एक सूत्र में बांधने में बड़ी सहायता की। भाषा और धर्म का भेद-भाव समाप्त कर लोग बड़ी संख्या में अखिल देशीय संगठन, राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित हुए और इसके योग्य नेताओं और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के पथ-प्रदर्शन में कार्य करने लगे। उनके संगठित प्रयास और त्याग से ही भारत स्वतन्त्र हो सका। लक्ष्य की प्राप्ति के बाद ही शिथिलता आने और पुरानी विग्रहात्मक मनोवृत्तियों के व्यापक होने का भय था। इसे मिटाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्रीय भावना बढ़ाने और उसे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का अनुभव तथा सदुपयोग करने का क्षेत्र प्रस्तुत करने का प्रयास प्रारम्भ हुआ है। यह प्रयास ही सभी भावी प्रगतियों का आधार है। देश की आर्थिक प्रगति, जन-शक्ति और प्राकृतिक सम्पत्तियों के उच्चतम उपयोग राजनैतिक संगठन और प्रशासनिक सुव्यवस्था पर निर्भर है। पिछले दस वर्षों में इस ओर आश्चर्यमय उन्नति हुई है।

राजनैतिक चेतना से युक्त, राष्ट्रीय प्रगति के लिए संगठित और आधुनिकतम पद्धतियों के ज्ञान से दक्ष जन-शक्ति द्वारा विशाल प्राकृतिक सम्पत्तियों का सदुपयोग होने से प्राप्त उपभोग्य सामग्री सभी को लगभग समान रूप में सुलभ

हो—इसकी व्यवस्था करना राष्ट्रीय वैभव बढ़ाने के लिए अनिवार्य था। ऐसी सामाजिक परम्पराएँ यहां प्रचलित रहीं जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को आगे बढ़ने और मानवोचित जीवन बिताने का अवसर नहीं मिलता था। मानवीय प्रतिभा को विकास करने का स्वतन्त्र क्षेत्र भी सुलभ नहीं था। स्वतन्त्रता के पश्चात से इन सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं को मिटा कर और प्रत्येक व्यक्ति को जाति-वर्ग सम्बन्धी बाधाओं से मुक्त कर प्रगति का स्वतन्त्र क्षेत्र दिया जा रहा है।

तृतीय खण्ड

स्वतन्त्र भारत के विकास-क्रम

प्रगतिशील भारतीय चेतना स्वतन्त्रता के पश्चात से शीघ्रातिशीघ्र कल्याण राज्य को स्थूल रूप देने में संलग्न है। इसके लिए राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक तीनों क्षेत्रों में क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। सभी क्रान्तियों का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक नागरिक को न्यायोचित स्वतन्त्र और सम्पन्न जीवन बिताने का सुअवसर देते हुए राष्ट्र को सुदृढ़ और उन्नतिशील बनाना है।

राजनैतिक क्रान्तियाँ

इनमें प्राथमिकता राजनैतिक क्रान्तियों को दी जा सकती है क्योंकि उन्हीं के बल पर स्वतन्त्रता मिली और उन्हीं से उसे सुदृढ़ सुरक्षित बनाया जा सका है। और भारतीय जनता को सामन्तवादी और नौकरशाही व्यवस्था से निकालकर निरपेक्ष लोकतन्त्र के लिए उपयुक्त बनाना महत्त्वपूर्ण प्रयास रहा है। नागरिकों के मौलिक अधिकारों, राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों और लोकतन्त्र को सफलतापूर्वक चलाने की पद्धतियों और नियमों को क्रम-बद्ध संविधान के रूप में स्वतन्त्रता मिलने के तीन वर्ष बाद ही तैयार कर, सम्पूर्ण देश में लागू कर दिया गया। प्रत्येक नागरिक को लोकतन्त्र का प्रत्यक्ष अनुभव कराने के लिए संविधान के अनुसार आम चुनाव पाँचवें वर्ष पूर्ण शान्ति और मर्यादा के साथ सम्पन्न कराया गया। दसवें वर्ष दूसरा आम-चुनाव उतनी ही सफलता के साथ हुआ। भारत में लोकतन्त्र के सफल संचालन ने उन्नतिशील पाश्चात्य राष्ट्रों को आश्चर्यित कर दिया है और नये राष्ट्रों को इस मार्ग पर आगे बढ़ने का अपूर्व प्रोत्साहन दिया है।

लोकतन्त्र के सफल निर्माण और संचालन के साथ भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में कुछ और क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। देशी राज्यों का विलयन और राज्यों का पुनर्गठन, उनमें उल्लेख्य हैं। स्वतन्त्रता मिलते समय देश का विभाजन पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के रूप में तो अवश्यम्भावी था ही, साथ ही सभी देशी रियासतों के स्वतन्त्र होने का भय था। देशी रियासतों के स्वतन्त्र होने पर भारत का संगठन

और प्रगति असम्भव हो जाती। पारस्परिक संघर्षों का क्षेत्र उन्मुक्त हो जाता। लेकिन सरदार पटेल के प्रयास से यह आपत्ति टल गयी। देशी रियासतें भारत में मिल गयीं। देशी रियासतों के विलयन जैसा ही एक और क्रान्तिपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन हाल ही में राज्यों के पुनर्गठन के रूप में हुआ। भाषाओं के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग उग्रतर हो रही थी। इस रूप में विग्रहात्मक शक्तियों का विषम विस्फोट होने का भय था। लेकिन प्रधान मन्त्री पं० नेहरू और गृह-मंत्री पं० पन्त की प्रशासनिक दक्षता और विविध क्षेत्रों के नेताओं के सहयोग से यह कार्य भी कुशलतापूर्वक सम्पादित हो गया। इससे भारत का राजनैतिक मान-चित्र बहुत कुछ बदल गया। इन क्रान्तिपूर्ण परिवर्तनों ने देश को सुसंगठित प्रगति का राजनैतिक आधार प्रस्तुत किया है।

आर्थिक क्रान्तियाँ

देश की प्राकृतिक सम्पत्तियों और जन-शक्ति के उचित उपयोग द्वारा सम्पन्नता बढ़ाने और प्रत्येक व्यक्ति को सुखी बनाने के लिए विस्तृत पैमाने पर आर्थिक क्रान्ति हो रही है। राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति की ठीक-ठीक गणना करके कृषि, उद्योग, परिवहन, शिक्षा तथा समाज-सेवा सभी क्षेत्रों में संगठित योजनाओं द्वारा विकास लाने का प्रयास हो रहा है। पंचवर्षीय योजना पूरी होकर प्रगति का अपूर्व आधार प्रस्तुत कर गयी है। बड़े उद्योगों को विस्तृत रूप में स्थापित करने, कुटीर-उद्योगों के प्रसार द्वारा उपभोग्य सामग्रियों की उत्पत्ति बढ़ाने तथा सेवा-योजन का व्यापक क्षेत्र सुलभ करने और आय-वितरण की असमानता मिटाकर समाजवादी सामाजिक ढांचा स्थापित करने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना चल रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामवासियों को अपनी उन्नति आप करने की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए राष्ट्रीय सेवा खण्ड और सघन सामुदायिक विकास योजनाएं चलायी जा रही हैं। कृषिकार्य में प्रगति लाने के लिए भू-स्वामित्व में अपूर्व सुधार लाया गया है। मध्यस्थ भू-पतियों को हटाकर काश्तकारों और सरकार के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है। सहकारी खेती द्वारा आधुनिक पद्धतियों वाली बड़े पैमाने की खेती का प्रचार किया जा रहा है। इन प्रयत्नों से देश की प्राकृतिक सम्पत्तियों का सदुपयोग ही नहीं सम्भव है, वरन् जन-शक्ति की कार्यशीलता और उत्पादकता भी बढ़ रही है। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था के परम्परागत दोषों को मिटा कर वैज्ञानिक आधार पर प्रगति करने का उन्मुक्त क्षेत्र जनता को दिया जा रहा है। इनसे भारतीयों के आर्थिक स्तर की विषमता बहुत कुछ मिट जायगी।

गिल्गित एजेन्सी
अफगानिस्तान
जम्मू
व
काश्मीर
पंजाब
बलोचिस्तान
बहावलपुर
बीकानेर
जैसलमीर
खैरपुर
राजपूताना
जयपुर
जोधपुर
सिन्ध
कराची
दिल्ली
ग्वालियर
मध्य भारत
मध्य
बरार
बम्बई
हैदराबाद
गोआ
मैसूर
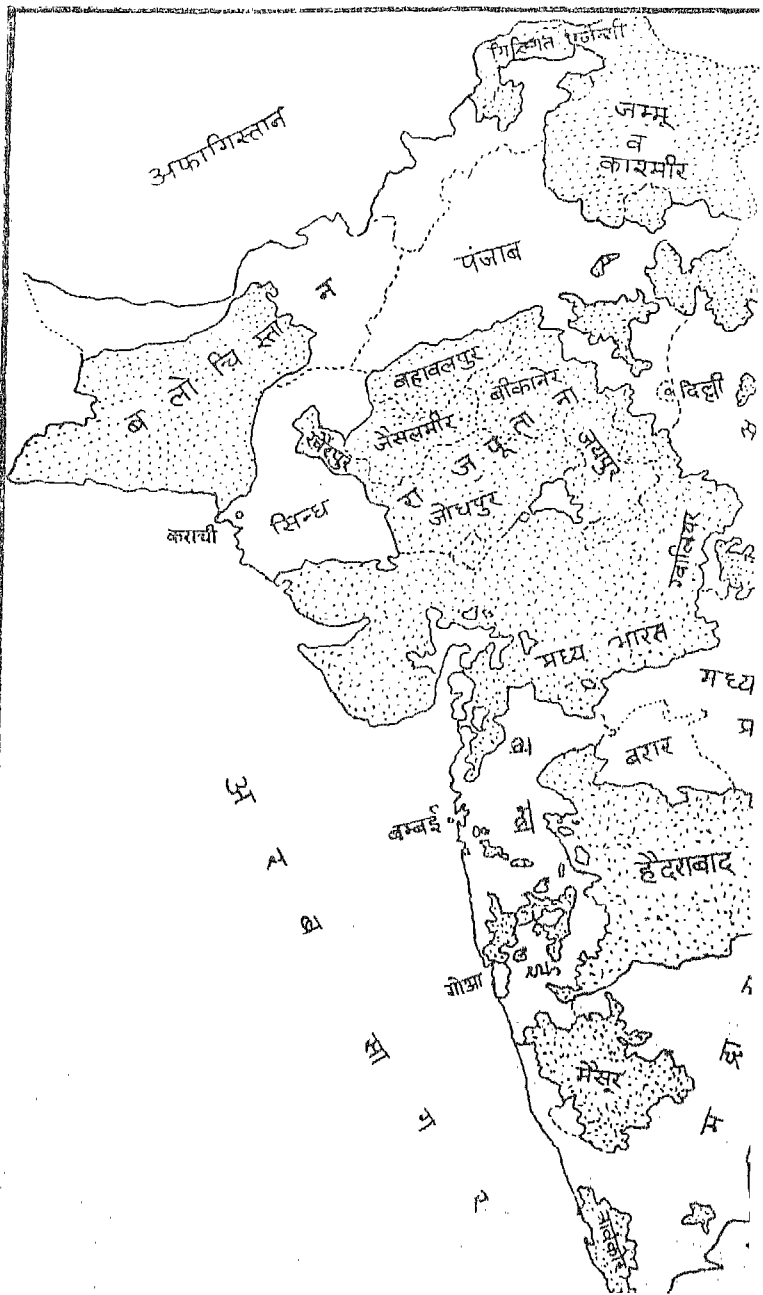
वे लोकतंत्र शासन में अपनी चेष्टा और योग्यता के अनुसार आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त कर सुखी और सन्तुष्ट जीवन बिता सकेंगे।

सामाजिक क्रान्तियाँ

भारतीय समाज में परम्परागत रूढ़ियों और कुप्रथाओं के कारण विशेष वर्ग के नागरिकों को स्वतन्त्र जीवन बिताने का अवसर नहीं मिलता था। महिलाएं और दलित जातियाँ विविध नियन्त्रणों और यातनाओं से पीड़ित थीं। इन्हें समाज में सम्मानपूर्ण स्थान देने के लिए विशेष कानूनों द्वारा पुरानी प्रथाओं को मिटाया जा रहा है। अब रूप-विशेष अथवा वर्ग-विशेष में जन्म लेने मात्र से ही किसी को इच्छानुसार विकास के अवसर से वंचित नहीं होना पड़ेगा। आर्थिक विपन्नता के कारण शोषित होने अथवा अनैतिक जीवन अपनाने को बाध्य होने से महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा की जा रही है। पिछड़ी और जन-जातियों के उत्थान के लिए विशेष प्रयास हो रहे हैं। इनके अतिरिक्त पराधीनता और अज्ञान के कारण जन-साधारण में फैली हुई संकीर्णता और स्वार्थपरता को मिटाया जा रहा है ताकि आर्य-संस्कृति की विशालता जन-जन में पुनः प्रवाहित हो उठे। वे अपनी सम्पत्ति और अपना जीवन समाज के लिए निःसंकोच दे सकें। इस प्रकार भारतीयता के अनुकूल आदर्श समाजवाद, जो समय के आवर्तन से लुप्त हो गया था, पुनर्जीवित किया जा रहा है। प्रातःस्मरणीय आचार्य विनोबा भावे की पद-यात्रा इसकी जीवनी शक्ति का संचार देश के कोने-कोने में कर रही है।

चतुर्थ खण्ड

स्वतन्त्र भारत की क्रान्तियों के उपकरण

स्वतन्त्रता के पश्चात से ही देश में राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्रान्तियां पूर्ण शान्ति पर बड़ी तीव्रता से हो रही हैं। इनका सफल संचालन जनता, जननेता और राज्य-कर्मचारी---तीनों के अपूर्व सहयोग से सम्भव हो सका है।

जनता

अशिक्षित और विपन्न रहते हुए भी भारतीय जनता ने इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों को लाने में जितना योग दिया है, वह एशिया और अफ्रीका के अन्य पिछड़े राष्ट्रों के लिए आदर्श है। पाश्चात्य विकसित राष्ट्र इनकी प्रगति और परिस्थितियों के अनुसार अपने को बदलने की क्षमता से आश्चर्यित हैं। देश में नये संविधान को सफलतापूर्वक चलाना, शान्तिपूर्ण देशव्यापी चुनावों से लोकतन्त्र शासन सुसंगठित कराना, देशी राज्यों को भारत संघ में समाविष्ट करना और अपेक्षाकृत सहिष्णुतापूर्ण वातावरण में राष्ट्र के विभिन्न राज्यों को पुनर्गठित करना जनता के सक्रिय सहयोग से ही सम्भव हो सका है। आर्थिक क्रान्तियों के अन्तर्गत सामुदायिक विकास-योजनाओं की प्रगति जनता के बल पर हो रही है। सिंचाई की बड़ी योजनाओं में जनता से सुलभ **श्रम-दान** महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भूमि-प्रबन्ध-सुधार और जमींदारी-उन्मूलन में भी जनता का योग प्राप्त हुआ है। आचार्य विनोबा का भूदान-यज्ञ भारतीयों की उदारता और राष्ट्र-भक्ति के सम्बल पर **बढ़ रहा है**। इसके अन्तर्गत जीवन-दान, सम्पत्ति-दान, **ग्रामदान** के नये क्रम जनता के उत्साह और समाज-प्रेम के प्रतीक हैं। किसी भी दूसरे राष्ट्र में केवल दान के आधार पर समाज की सम्पत्ति सम्बन्धी दुर्व्यवस्था सुधारने का प्रयास करना सम्भव नहीं है। भारतीयों में गौरवपूर्ण प्राचीन आर्य संस्कृति की प्रच्छन्न पृष्ठ-भूमि ही इन प्रयोगों को सफल बनाने में सहायक हो रही है।

भारत
विभाजन के बाद
जम्मू व काश्मीर
श्रीनगर
पश्चिमी पाकिस्तान
पंजाब
उत्तर प्रदेश
दिल्ली
राजपूताना
जयपुर
लखनऊ
नेपाल
भूटान
आसाम
शिलांग
मणिपुर
पूर्वी पाकिस्तान
पटना
बिहार
विन्ध्य प्रदेश
मध्य भारत
मध्य प्रदेश
नागपुर
कच्छ
सौराष्ट्र
कलकत्ता
उड़ीसा
कटक
बम्बई
हैदराबाद
सिकन्दराबाद
आंध्र
गोआ
मैसूर
बंगलौर
मद्रास
लंका
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
अण्डमान द्वीप
निकोबार द्वीप
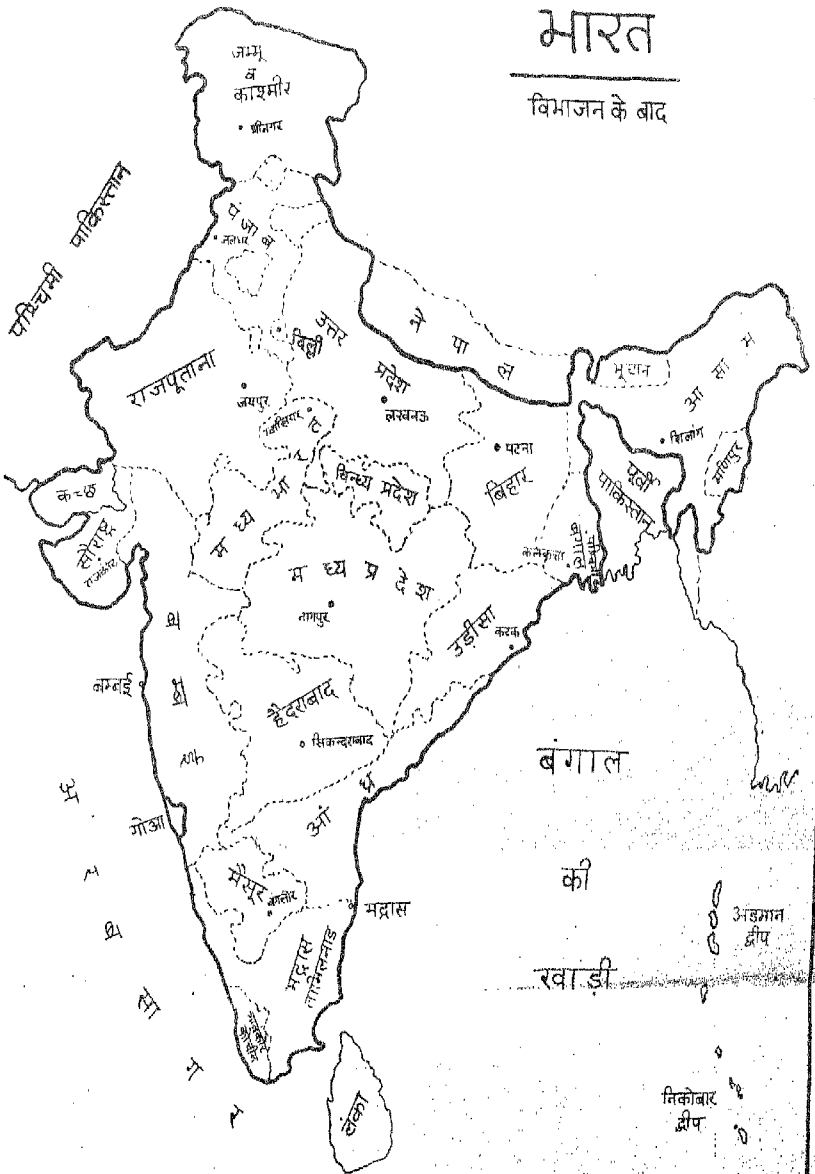
जन-नेता

भारतीय जनता को आगे बढ़ने की प्रेरणा और विकास करने का स्वतन्त्र क्षेत्र देने में जन-नेताओं का विशेष हाथ रहा है। उनकी सद्भावना और निरन्तर चेष्टा ही देश में धर्म-निरपेक्ष पूर्णांग लोकतन्त्र और कल्याण राज्य स्थापित करने में मुख्य रूप से सहायक हुए हैं। स्वतन्त्रता मिलने पर वे शासन-क्रम को अपने वैयक्तिक स्वार्थों के अनुकूल दूसरा रूप दे सकते थे। लेकिन अपनी देश-भक्ति और समाज-प्रेम से प्रेरित हो उन्होंने शीघ्रातिशीघ्र लोकतन्त्र के सफल संचालन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की। सभी दृष्टि से भारतीय नागरिकों की स्वतन्त्रता सुरक्षित बनाने के लिए संविधान की रचना, आम चुनाव की सामयिक, विधिवत व्यवस्था द्वारा लोकतन्त्र का प्रयोग, आर्थिक विकास के लिए संगठित योजनाओं का निर्माण एवं संचालन तथा सामाजिक कुरीतियों को मिटाने के लिए प्रचार और कानून-निर्माण भारतीय नेताओं के सद्भावपूर्ण प्रयास द्वारा ही सम्भव हुआ है। इन्हीं के आह्वान करने से जनता अपनी प्रस्तुत स्थिति, क्षेत्र और शक्ति का अनुभव करने लगी है।

राज्य-कर्मचारी

राष्ट्र के विविध क्षेत्रों में प्रगति लाने में राज्य-कर्मचारियों का सहयोग भी सराहनीय है। उन लोगों ने, जो स्वतन्त्रता के पूर्व तक अंग्रेजी-सत्ता को दृढ़ता-पूर्वक चलाने में योग देते रहे, स्वतन्त्रता मिलते ही अपनी कार्य-कुशलता और अनुभव को स्वतन्त्र राष्ट्र-निर्माण की ओर मोड़ दिया। लोकतन्त्र की सभी विधियों का सफल प्रयोग इन्हीं के सहयोग से सम्भव हुआ है। शासन-यंत्र के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे, कार्यपालिका, न्याय, पुलिस, एकाउंट्स और आडिट आदि विभागों में कार्य करनेवाले सभी कोटि के अधिकारियों ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का उचित प्रारम्भ और सफल संचालन करने में आशातीत योग दिया है। इनके अभाव में प्रशासन सम्बन्धी शिथिलता सभी प्रगतियों में बड़ी बाधक बन जाती। पहले इन्हीं में से अधिकांश लोग जनता और जन-नेताओं को त्रस्त रखने का कारण बनते थे, लेकिन स्वतन्त्रता के बाद से ही राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति करने में ये जनता और जन-नेता के परम विश्वस्त सहयोगी बन गये हैं। अनेक विकास योजनाओं का सफल संचालन राज्य-कर्मचारियों के प्रयासों का ही परिणाम रहा है। ये विशेष परिस्थितियों में अपने अनुभव के आधार पर जननेताओं को राष्ट्र-निर्माण के व्यावहारिक मार्गों का संकेत भी देते हैं। हमारी जल, स्थल और नभ सेनाओं

और उनमें कार्य करनेवाले वीर सैनिकों तथा अधिकारियों ने स्वतन्त्र राष्ट्र को बाह्य आक्रमणों और आंतरिक विध्वंसकारी शक्तियों से सुरक्षित रखने में योग दिया है। काश्मीर की बढ़ती ज्वाला को शान्त करने और हैदराबाद के कुचक्रों को दबाने में इनकी तत्परता सराहनीय है।

उज्ज्वल भविष्य

नव-राष्ट्र-निर्माण के ये तीन सबल आधार-स्तम्भ——जनता, जन-नेता और राज्य-कर्मचारी, देश को अपने पूर्व गौरव पर पहुँचाने में संलग्न हैं। इनके सतत प्रयास से राष्ट्र-चेतना बढ़ती जा रही है। पारस्परिक विग्रहों को सदा के लिए मिटाने का क्रम सफलतापूर्वक आगे बढ़ रहा है। विभिन्न क्षेत्रों और वर्गों में भाषा और व्यवहार सम्बन्धी अन्तर रहते हुए भी राष्ट्रीय घनिष्ठता अधिक होती जा रही है। अपनी प्राकृतिक सम्पत्तियों और मानवीय शक्तियों का सुसंगठित उपयोग करता हुआ स्वतन्त्र भारत दिन-प्रतिदिन सम्पन्न और सुदृढ़ हो रहा है। एशिया और अफ्रीका के अन्य राष्ट्र इसे अपना प्रदर्शक और इसकी प्रगति को अपना आदर्श मानने लगे हैं। पाश्चात्य विकसित राष्ट्र इसकी मैत्री को अपूर्व महत्त्व देने लगे हैं और इसके लोकतन्त्रीय प्रयोगों को बड़ी उत्सुकता से देखते हैं। आजादी के पिछले दस वर्षों में भारत की प्रगतियों की विविधता और विशालता देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह दिन दूर नहीं है जब भारत अपनी प्राकृतिक और मानवीय शक्तियों के पूर्ण संवर्द्धन से विश्व में अद्वितीय स्थान ग्रहण करेगा और अन्य सभी राष्ट्रों को शान्ति और सहयोग का महिमामय पाठ व्यावहारिक ढंग से पढ़ा सकेगा।

राजनैतिक क्रान्तियाँ
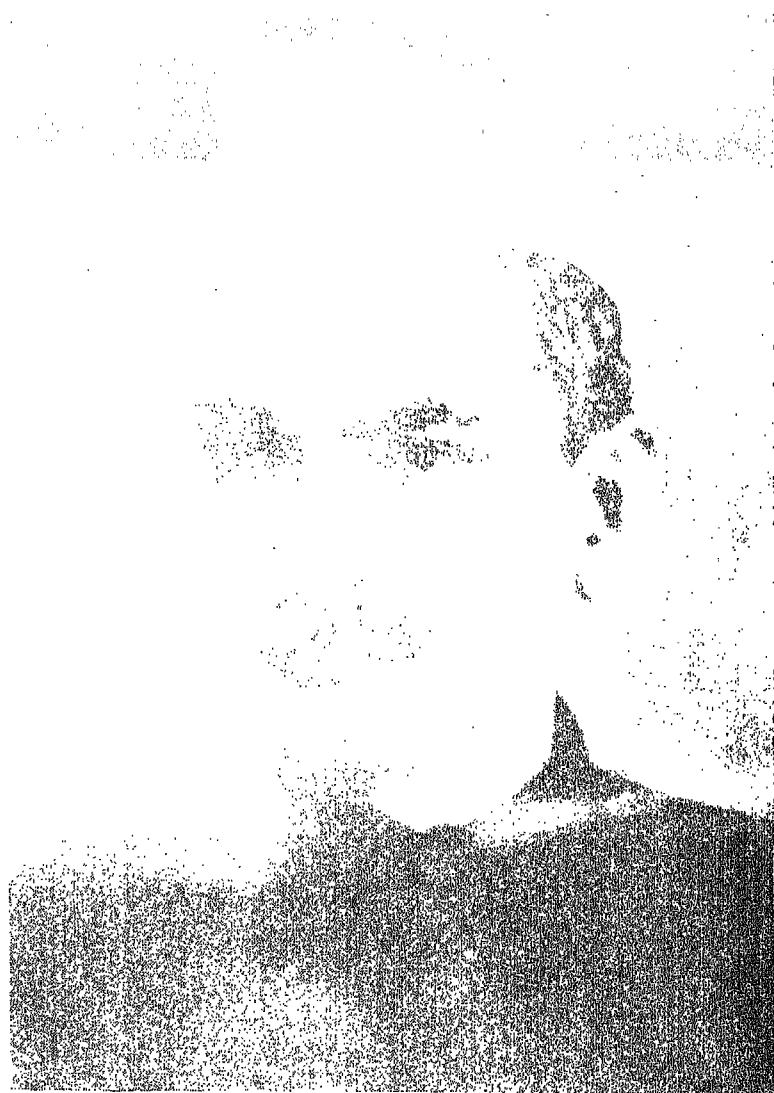
दूसरा अध्याय

भारतीय संविधान

संविधान-लोकतन्त्र का आधार-स्तम्भ

भारत के इतिहास में १५ अगस्त, १९४७ का दिन अपूर्व महत्त्व रखता है। यह देश कई शताब्दियों के पश्चात इसी दिन विदेशी शासन से मुक्ति पा सका। परतन्त्रता की बेड़ी तोड़ने और स्वतन्त्रता के वैभव का रसास्वादन करने का अवसर जितनी शान्त और अहिंसात्मक पद्धति से यहाँ सुलभ हुआ वह विश्व के इतिहास में अनोखा है। विदेशी सत्ता का यह आश्चर्यमय अन्त अनेक देशभक्तों के कठोर श्रम और चिर-स्मरणीय राष्ट्र-पिता बापू के कुशल, आध्यात्मिकतापूर्ण नेतृत्व से सम्भव हो सका है। स्वतन्त्रता मिलने के पूर्व तक सभी प्रयत्नों का लक्ष्य उसकी प्राप्ति की ओर था। लेकिन उसके मिलते ही उसकी सुरक्षा और प्रयोग के लिए अत्यधिक सतर्कता आवश्यक हो गयी। समस्या केवल बाहरी शक्तियों द्वारा स्वतन्त्रता अपहरण को रोकने की ही न थी बल्कि, भीतरी घातक और विग्रहपूर्ण प्रवृत्तियों को मिटाकर सच्चे अर्थ में जनता का शासन स्थापित करना था। स्वतन्त्रता की सुविधाओं का उपयोग कुछ सीमित वर्गों द्वारा किये जाने को रोकना भी था तथा सभी व्यक्तियों को प्रगति का समान अवसर देना था। इसके लिए वैदिक युग के उत्कृष्ट गणतन्त्र के आदर्शों को आधुनिक लोकतन्त्र के सिद्धान्तों से समन्वित कर सम्पूर्ण देश की जनता का शासन जनता द्वारा ही चलाये जाने का क्रम प्रारम्भ करना था। तभी चिर-संयोजित आदर्श राम-राज्य की कल्पना साकार हो सकती थी।

लेकिन यह विशद प्रयोग बड़े अनिश्चित आधारों पर करना था। भारतीय जनता सदियों से पराधीनता की बेड़ी में जकड़ी थी। अंग्रेजों के आने के पूर्व भी उसे अपनी उचित व्यवस्था और प्रगति के अनुरूप प्रशासन निश्चित करने का अधिकार न था। राजशाही और सामन्तवादी क्रम प्रचलित थे। शिक्षा और आर्थिक विकास के अभाव में अपने अधिकार और कर्त्तव्यों का भी उन्हें ज्ञान नहीं था। राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ नहीं थी। साम्प्रदायिकता, जातीयता और प्रादेशिकता का प्रभाव था। वैयक्तिक स्वार्थों के सम्मुख सामाजिक हितों की

प्रमुखता व्यापक नहीं थी। जो कुछ भी उसका प्रसार था वह समाज के नाम पर नहीं बल्कि, जाति और धर्म के नाम पर था। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत वाले भारत खण्ड में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम कुछ वर्षों से राजनैतिक चेतना जगने लगी थी। कांग्रेस संस्था का प्रसार और उसके कार्य-क्रमों का क्षेत्र भी विशेषतः यहीं तक सीमित था। देशी रियासतों और उनमें रहनेवाली लगभग ९ करोड़ जनता इनसे विशेष रूप से प्रभावित नहीं थी। ब्रिटिश भारत में भी राजनैतिक चेतना और संगठन का प्रभाव केवल शिक्षित, विवेकी जनों पर ही था। परम्परागत दासता के संस्कारों से आक्रान्त अधिकांश जनता राजनैतिक प्रगतियों की ओर न तो जागरूक थी और न उन्हें बहुत महत्त्व ही देती थी। रूढ़िवादिता और भाग्य-आश्रित्व परिस्थितियों का सम्यक विश्लेषण करने और दूरदर्शिता के आधार पर उचित निष्कर्ष निकालने में और बाधक थे।

ऐसे असंगठित तथा कुंठित समाज में पूर्णांग लोकतन्त्र को सफल बनाना था। उसकी परम्पराओं को प्रगतिशील आधार पर स्थापित करना अनिवार्य था। जनता को राष्ट्र और नागरिकता के तात्पर्य, उसके पारस्परिक सम्बन्धों, नागरिक के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से परिचित कराना था। गणतन्त्र-शासन के आधार-भूत सिद्धान्तों का भी प्रचार करना था ताकि जनता में नयी व्यवस्था के प्रति विश्वास दृढ़ हो सके। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारत का क्रमबद्ध लोकतन्त्रीय संविधान शीघ्र ही बनाना अपरिहार्य था। इसी से जनता नयी स्थिति के प्रति जागरूक हो सकती थी। जन-चेतना से ही लोकतन्त्र की परम्पराएं सुदृढ़ बनायी जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री वुडरो विलसन का यह कथन बहुत ही उपयुक्त है कि स्वातन्त्र्य और स्वातन्त्र्य-संस्थाओं को ऐसे राष्ट्र द्वारा सुरक्षित नहीं रखा जा सकता, जिसकी जनता अपने प्रशासन की प्रकृति नहीं समझती। संविधान द्वारा जनता प्रशासन की प्रकृति को सरलता-पूर्वक समझ लेती है।

जन-जागृति और प्रजातन्त्रात्मक संस्कारों के लिए ही नहीं, बल्कि लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिए भी लिखित संविधान का होना आवश्यक है। लोकतन्त्र में प्रशासन की स्थिरता संविधान द्वारा ही होती है। शासन चलानेवाले व्यक्ति निश्चित अवधि के पश्चात बदला करते हैं। यदि संविधान के रूप में पूर्व-निर्णीत आधार न हो तो जनता के प्रतिनिधियों में होनेवाले प्रत्येक बार के परिवर्तन से शासन-नीति ही बदल सकती है और शासन-क्रम भी परिवर्तित हो सकता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र का संगठित विकास बहुत कुछ रुक सकता है। इस प्रकार

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात ही जनता का शासन अर्थात लोकतन्त्र स्थापित करके उसे सफलतापूर्वक संचालित करने, जनता में उसके प्रति जागृति और निष्ठा उत्पन्न करने तथा शासन के इस सिद्धान्त को स्थिर करके राष्ट्र को संगठित रूप से विकसित करने के लिए संविधान की उपयुक्त रचना अनिवार्य समझी गयी। राष्ट्रीय सरकार ने इस कार्य की अनिवार्यता के अनुरूप ही इसे प्राथमिकता भी दी।

भारतीय संविधान की रचना

भारत में संविधान बनाने के संगठित प्रयास का प्रारम्भ दिसम्बर सन् १९४६ से माना जा सकता है जबकि कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार कार्य करनेवाली संवैधानिक सभा की स्थापना की गयी। लेकिन यह कार्य अधिक नियमित रूप से स्वतन्त्रता मिलने के बाद २९ अगस्त, १९४७, से संविधान आलेखन समिति की नियुक्ति होने पर चला। इस बीच में संविधान सभा ने भारतीय संविधान के मौलिक सिद्धान्तों का निर्धारण कर लिया था। पं० नेहरू द्वारा १३ दिसम्बर, १९४६ को प्रस्तावित और २२ जनवरी, १९४७ को संविधान सभा द्वारा पास किये गये प्रस्ताव में नव-राष्ट्र की रूप-रेखा और उसके संविधान की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट किया गया।

इस प्रस्ताव के अनुसार ब्रिटिश भारत, देशी रियासतों और भारत में सम्मिलित होनेवाले अन्य क्षेत्रों को स्वतन्त्र-सर्वसत्ता-सम्पन्न गणतन्त्र घोषित करने का निश्चय हुआ। भारत संघ और उसके अंगों की पारस्परिक स्थिति और उनके प्रशासनिक अधिकारों की भी व्याख्या की गयी। प्रस्ताव में यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट किया गया कि भारत गणतन्त्र की सभी शक्तियाँ और अधिकार जनता से प्राप्त होंगे। जनता के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय सुरक्षित होंगे। मर्यादा तथा कानून की सीमा के अन्तर्गत उन्हें अपने विचारों की अभिव्यक्ति की तथा विश्वास, आस्था और उपासना की स्वतन्त्रता मिलेगी। सभी के लिए स्थिति और अवसर की समानता रहेगी। अल्प-संख्यकों, दलितों, पिछड़ों और जन-जातियों के हितों को पूर्णतया सुरक्षित रखा जायगा और उन्हें विकास की विशेष सुविधा दी जायगी। प्रस्ताव में यह भी व्यक्त था कि सभी प्रकार से शिष्ट राष्ट्रों के कानून और न्याय के अनुसार भारतीय गणतन्त्र-राज्य और उसके भूमि, वायु, समुद्र, सम्बन्धी अधिकारों को सुरक्षित रखा जायगा। यह भी प्रयास होगा कि यह प्राचीन पुण्य-भूमि विश्व में पुनः अपने गौरवपूर्ण पद को प्राप्त करे और विश्वशान्ति तथा मानव-जाति के कल्याण में पूर्ण योग दे।

जैसा कि भारतीय संविधान के प्रमुख अंगों के विश्लेषण से स्पष्ट होगा, इस प्रस्ताव की आत्मा ही विस्तृत रूप में उसमें निरूपित हुई है।

संविधान-आलेखन-समिति के कार्य को सुविधापूर्ण बनाने के लिए कई सहायक समितियाँ बनायी गयी थीं। इनमें संघ-संविधान समिति, संघ-शक्ति समिति, प्रान्तीय संविधान समिति उल्लेखनीय हैं। इन्हीं के सुझावों के आधार पर और संविधान सभा के निर्णयों को सम्मिलित करके फरवरी, १९४८ में "संविधान का प्रारूप" आलेखन समिति ने प्रकाशित किया। प्रारूप में पहले के निर्णयों के प्रतिकूल केन्द्र को अधिक सत्ता-सम्पन्न बना दिया गया। यह परिवर्तन देश के विभाजन और उससे उत्पन्न अनेक विषम समस्याओं के कारण अनिवार्य था।

संविधान सभा में विचार-विमर्श के लिए यह प्रारूप ४ नवम्बर १९४८ को आया। इसकी सामान्य रूप-रेखा पर विचार होने के पश्चात १५ नवम्बर से इसके एक-एक अनुच्छेद का विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। यह क्रम अगले वर्ष की १७ अक्तूबर तक चलता रहा। विश्लेषण-क्रम में आये सभी संशोधनों को सम्मिलित करके प्रारूप की अन्तिम आवृत्ति १४ नवम्बर से २६ नवम्बर तक हुई। अन्तिम दिन संविधान सभा ने इसे अपना लिया। २६ जनवरी, १९५० से भारतीय गणतन्त्र की घोषणा के साथ भारत का नया संविधान पूर्ण रूप में लागू किया गया है।

भारतीय संविधान की रचना संविधान सभा में आये देश के सुयोग्य विद्वानों द्वारा विश्व के प्रतिष्ठित देशों के संविधानों के पर्याप्त अध्ययन के पश्चात की गयी है। सभी विशिष्ट संविधानों के उत्कृष्ट सिद्धान्तों का इसमें सामंजस्य करने का प्रयास किया गया है। इसके मौलिक अधिकारों की व्याख्या संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संविधान से, संघीय व्यवस्था कैनाडा से और अनेक स्थल आस्ट्रेलिया के संविधान से मिलते हैं। व्यापक अध्ययन और गम्भीर विचारों से संपुटित यह संविधान अपने आकार और कार्य-प्रणाली, दोनों दृष्टियों से विश्व में अपूर्व कहा जा सकता है। इसमें ३९५ अनुच्छेद और ९ अनुसूचियाँ हैं। इसकी गठन संघात्मक पर प्रकृति केन्द्रात्मक है। इसके अन्तर्गत विभिन्न राज्यों को स्वायत्तता अवश्य मिली है लेकिन अधिकांश शक्तियाँ केन्द्र में ही निहित हैं। इससे पूरे देश की एकता संगठित रखने में सरलता होती है। इसका प्रशासन-क्रम राष्ट्रपतीय है लेकिन कार्य प्रणाली संसदीय है। राष्ट्रपति संसद के प्रति उत्तरदायी मन्त्रि-मण्डल की सलाह से कार्य करते हैं। विशेष परिस्थितियों में सुरक्षा और प्रगति के लिए सम्पूर्ण देश का शासन राष्ट्रपति द्वारा चलाये जाने की भी व्यवस्था है। भारतीय संविधान की एक और विशेषता है इसकी लोच। राज्यों और केन्द्र के पारस्परिक अधिकारों में कभी भी

आवश्यकता पड़ने पर संसद द्वारा परिवर्तन किये जा सकते हैं। विशेष परिस्थितियों में इसके अनुच्छेदों में संसद द्वारा संशोधन लाने की भी व्यवस्था है। इसलिये संविधानों के सामान्य दोष—जड़ता और संकीर्णता—से यह रहित है। लागू होने लेकर अब तक इसमें सात संशोधन हो चुके हैं। अन्तिम संशोधन राज्य-पुनर्गठन के सम्बन्ध में हुआ है। संविधान के प्रमुख तत्त्वों का विश्लेषण आगे किया गया है।

द्वितीय खण्ड

भारतीय संविधान के प्रमुख तत्त्व

संविधान का प्रारम्भ भारतीय जनता के उन हितों की सुरक्षा के आदर्श के साथ होता है जिसे प्राप्त करने के लिए स्वातन्त्र्य संग्राम हुए और जिसकी सुलभता ही सर्वसत्ता-सम्पन्न भारत-गण-तन्त्र की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य रही है। संविधान की प्रस्तावना में इन्हीं उद्देश्यों और उन्हें प्राप्त करने के संकल्प को इस प्रकार व्यक्त किया गया है :—

हम भारतवासी भारत को सर्व-सत्ता-सम्पन्न गणतन्त्र बनाने और इसके सभी नागरिकों के लिए नीचे लिखी बातों को सुरक्षित रखने का दृढ़ संकल्प करते हैं :—

न्याय —सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक।

स्वतन्त्रता—विचारों की, अभिव्यक्ति की, विश्वास, आस्था और उपासना की।

समानता—सामाजिक स्थिति की और अवसर की।

भ्रातृभाव—नागरिकों में इस भावना का प्रसार, व्यक्ति की गरिमा और देश की एकता की प्रतिष्ठा।

इन उद्देश्यों की पूर्ति से संकीर्ण राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सीमाओं से पीड़ित भारत की अधिकांश जनता को स्वतन्त्र, गौरवपूर्ण जीवन बिताने का सुअवसर प्राप्त होगा। इससे नागरिकों के वैयक्तिक जीवन की अपूर्णता के कारण राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह में उत्पन्न होने वाले अवरोधों को सदैव के लिए दूर करने का प्रयास सफल हो सकेगा।

नागरिकों के मौलिक अधिकार

उपर्युक्त उद्देश्यों के अनुरूप संविधान में भारतीय नागरिकों को सात मौलिक अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों के बल पर ही वे विधान के अन्तर्गत अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार प्रगति करते हुए सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है :—

समता का अधिकार

भारतीय समाज में परम्परागत प्रथाओं के कारण सभी व्यक्तियों की स्थिति और अवसर की समानता न थी। जाति, धर्म आदि के कारण एक दूसरे में बड़ा विभेद होता था। विकास और प्रगति का उन्मुक्त क्षेत्र न मिलने से देश की मानवीय शक्ति का सदुपयोग सम्भव न था। संविधान में सभी नागरिकों को समान समझे जाने और समान वैधानिक सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है (अनु० १४)। धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि के आधार पर किसी नागरिक के प्रति विभेद नहीं होगा और न तो इसके आधार पर किसी को दूकानों, जलपान और भोजनगृहों और आमोद-स्थलों पर जाने अथवा ऐसे कुओं, तालाबों, स्नान-घाटों और सड़कों के व्यवहार से रोका ही जा सकता, है जो पूर्णतः या अंशतः सरकारी कोष से रखे जाते हों अथवा जिन्हें सर्वसाधारण के व्यवहार के लिए उत्सर्ग कर दिया गया हो (अनु० १५)। इसी प्रकार सरकारी पदों पर नियुक्त होने के लिए भी सभी नागरिक समान अधिकार रखते हैं (अनु० १६)। पिछड़ी, दलित, जातियों को उठाने के लिए तथा उनके प्रति होनेवाले अमानुषिक व्यवहारों को समाप्त करने के लिए "अस्पृश्यता" को सभी प्रकार से मिटा दिया गया है। इसके आधार पर किसी व्यक्ति को अस्पृश्य ठहराना कानून द्वारा दण्डनीय अपराध है (अनु० १७)। इस प्रकार समानता के अधिकार से सभी भारतीयों को अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने का क्षेत्र सुलभ हो सका है।

स्वतन्त्रता का अधिकार

प्रत्येक भारतीय को सामाजिक अनुशासन के अन्तर्गत स्वतन्त्रता का अनुभव कराने के लिए स्वतन्त्रता-अधिकार संविधान में सम्मिलित किया गया है। इसके अनुसार सभी नागरिकों को भाषण और भाव-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। वे निरस्त्र हो शान्ति से एकत्र हो सकते हैं, अपना संघ या संगठन बना सकते हैं, सम्पूर्ण भारत में स्वतन्त्रतापूर्वक घूम सकते हैं, भारत के किसी भाग में बस सकते हैं। उन्हें सम्पत्ति क्रय करने, रखने अथवा बेचने की स्वतन्त्रता भी प्राप्त है। वे कोई भी उद्यम व्यापार या व्यवसाय कर सकते हैं। लेकिन स्वतन्त्रता के इन सभी अधिकारों का प्रयोग सरकार द्वारा बनाये नियमों के अन्तर्गत ही हो सकता है (अनु० १९)। इससे भारतीय नागरिकों को सामाजिक नियमों के अन्तर्गत स्वच्छन्द जीवन बिताने का सुअवसर सुलभ हो सका है।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

विशेषतः पिछड़े समाज में कुछ वर्गों द्वारा विपन्न और निराश्रय लोगों की शक्ति और यौवन का शोषण होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इससे साधनहीनों को दूसरों की सम्पन्नता और तृप्ति का साधन बनना पड़ता है। अपनी प्रगति और विकास का क्षेत्र शोषण के कारण उन्हें नहीं मिलता। इस दुर्व्यवस्था से बचने के लिए भारतीय नागरिकों को संविधान में शोषण से सुरक्षा पाने का अधिकार प्राप्त है। किसी व्यक्ति से बेगार लेना अथवा किसी अनैतिक उद्देश्य से किसी व्यक्ति का शोषण करना संविधान द्वारा वर्जित कर दिया गया है (अनु० २३)। किसी निर्माण या खान या अन्य किसी जोखिमपूर्ण कार्य में १४ वर्ष से कम आयु-वाले बच्चों की नियुक्ति वर्जित कर दी गयी है (अनु० २४)। इस प्रकार साधन-हीन पुरुषों, युवतियों और बच्चों को शोषित होने से बचने का उपयुक्त क्षेत्र सुलभ हो सका है।

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार

भारत के सभी नागरिकों को सार्वजनिक सुव्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत अन्तःकरण की स्वतन्त्रता है और अपना धर्म मानने तथा प्रचार करने का अधिकार है। लेकिन किसी भी धार्मिक अथवा परम्परागत प्रथा से सम्बन्धित किसी भी आर्थिक, वित्तीय-राजनैतिक या अन्य कार्य को सरकार द्वारा विनियमित या प्रतिबंधित किया जा सकता है। समाज-कल्याण या सुधार के लिए प्रथाओं में परिवर्तन भी किया जा सकता है। सार्वजनिक हिन्दू धार्मिक संस्थाओं में सभी वर्ग के हिन्दुओं को सम्मिलित होने का अधिकार है (अनु० २५)। धार्मिक-संस्थाओं की स्थापना, उनका संचालन, उनके लिए चल-अचल सम्पत्तियों की प्राप्ति और प्रयोग की भी स्वतन्त्रता है। लेकिन किसी व्यक्ति को कोई धर्म मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। सरकारी सहायता से चलनेवाली शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा न रखने का क्रम भारत-संविधान की धर्म-निर-पेक्षता का उदाहरण है। (अनु० २८)।

संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

भारत के सभी नागरिकों को अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि को अपनाने का अधिकार है। अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार वे कोई भी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में जाति, धर्म, वंश, भाषा आदि के कारण किसी प्रकार का विभेद

नहीं किया जा सकता (अनु० २९)। भाषा अथवा धर्म के आधार पर कोई भी अल्पसंख्यक अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा-संस्थाएं खोल सकते हैं। सरकार द्वारा ऐसी संस्थाओं को उचित सहायता भी दी जायगी। धर्म अथवा भाषा के कारण किसी प्रकार का विभेद नहीं होगा (अनु० ३०)।

सम्पत्ति रखने का अधिकार

भारत के प्रत्येक नागरिक को अपनी निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार है। केवल विशेष परिस्थितियों में जनहित के लिए विशेष कानून द्वारा सरकार नागरिकों से सम्पत्ति ले सकती है। लेकिन इसके लिए सुनिश्चित सिद्धान्तों पर क्षतिपूर्ति करना अनिवार्य है (अनु० ३१)।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार

भारतीय नागरिकों को संविधान द्वारा प्राप्त अपने विविध अधिकारों में पड़ने-वाली बाधाओं और विघ्नों से छुटकारा पाने अथवा अधिकारों को सुरक्षित बनाने के लिए न्यायालय में जाने का अधिकार है (अनु० ३२)।

संविधान के इन अधिकारों से भारतीय नागरिकों का जीवन गौरवपूर्ण हो गया है। भारत-सरकार इन्हें सभी प्रकार से सुरक्षित बनाने का प्रयास करती है। लेकिन विशेष परिस्थितियों में देश की सुरक्षा के लिए अथवा सामाजिक शिष्टता और नैतिकता के लिए विशेष कानून द्वारा इन अधिकारों को सीमित बनाया जा सकता है। किसी उद्यम विशेष को अपनाये जाने के सम्बन्ध में भी सरकार द्वारा प्रावैधिक योग्यता का प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। किसी व्यवसाय, उद्योग या सेवा को करने का अधिकार केवल सरकार अथवा उसके नियन्त्रण और स्वामित्व के अन्तर्गत कार्य करनेवाले प्रमण्डल के लिए सुरक्षित किया जा सकता है। इन सीमाओं को निश्चित करने में राष्ट्र-हित की वृद्धि ही प्रमुख माप-दण्ड है।

राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त

हमारे संविधान में गणतन्त्र-राज्य के उद्देश्यों और उसके नागरिकों के मौलिक अधिकारों की व्याख्या के पश्चात ही उन सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण हुआ है जिनसे राज्य-नीति निश्चित होती है। इनके व्यवहार से वे व्यवस्थाएं सुलभ हो रही हैं जो सम्पूर्ण राष्ट्र को संविधान की प्रस्तावना में वर्णित उद्देश्यों की ओर अग्रसर बना रही हैं। ये निर्देशक सिद्धान्त न्यायालयों द्वारा लागू नहीं किये जा सकते

लेकिन देश की प्रशासन-नीति-निर्धारण में इनका मौलिक स्थान रहता है और विविध कानूनों को बनवाने में भारत सरकार इनका प्रयोग करती है (अनु० ३७)।

इन सिद्धान्तों का मूल तत्त्व यह है कि सरकार जन-कल्याण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे और जहां तक हो सके ऐसे समाज के निर्माण और सुरक्षा की चेष्टा करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो (अनु० ३८)। वह अपनी नीति ऐसी रखे जिससे प्रत्येक नागरिक (नर या नारी) को जीविकोपार्जन का यथेष्ट साधन सुलभ हो। देश की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण ऐसा हो जिससे सबका अधिक से अधिक हित हो। आर्थिक व्यवस्था ऐसी रहे कि धन और उत्पादन के साधन कुछ ही लोगों के हाथ केन्द्रित न हों; पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले; पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के स्वास्थ्य, शक्ति और आयु का अनुचित लाभ न उठाया जाय; वे आर्थिक आवश्यकताओं से ऐसे कार्य करने को बाध्य न हों जो उनकी आयु और शक्ति के प्रतिकूल हों। बच्चों तथा युवावस्थावालों को शोषण और चारित्रिक तथा आर्थिक पतन से बचाया जाय (अनु० ३९)।

इनके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में स्वायत्त-शासन की सुविधा देने के लिए सरकार उचित शक्तियों और अधिकारों से युक्त ग्राम-पंचायत बनाये। वह अपनी शक्ति भर सबको काम और शिक्षा देने तथा बुढ़ापा, रुग्णावस्था और बेकारी में सहायता देने की व्यवस्था करे (अनु० ४०, ४१)। सभी प्रकार के खेतिहर, औद्योगिक या अन्य प्रकार के मजदूरों के लिए ऐसे कानून या आर्थिक संगठन बनाये जायँ जिससे उन्हें जीवन-यापन के लिए पर्याप्त मजदूरी मिल सके और कार्य करने की ऐसी व्यवस्था हो जिससे वे अपने अवकाश तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों का आनन्द उठा सकें और सुखी जीवन बिता सकें। ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक विकास के लिए सहकारिता या अन्य सिद्धान्तों पर कुटीर-उद्योगों के प्रसार में योग देना भी सरकार का कर्तव्य है (अनु० ४३)।

अपनी प्रशासन-नीति में भारत-सरकार इस बात पर ध्यान रखती है कि सम्पूर्ण देश के नागरिकों के लिए एक ही व्यवहार-संहिता (सिविल कोड) लागू हो और शिक्षा सम्बन्धी ऐसी व्यवस्था हो कि संविधान लागू होने के दस वर्षों के भीतर ही चौदह वर्ष तक की उम्रवाले देश के सभी बच्चे अनिवार्यतः शिक्षा पाने लगें (अनु० ४४, ४५)।

समाज के पिछड़े वर्गों विशेषतः अनुसूचित जातियों और जन-जातियों की शिक्षा और उनके आर्थिक हितों की सुरक्षा को राज्य-नीति में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है ताकि इन वर्गों को शोषण और सामाजिक अन्याय से बचाया जा सके (अनु० ४६)। जनता के पौष्टिक-आहार-स्तर तथा जीवन-स्तर को उठाना और जन-स्वास्थ्य में सुधार लाना सरकार के प्राथमिक कर्त्तव्यों में सम्मिलित माना जाता है। इस सम्बन्ध में स्वास्थ्य के लिए अहितकर मादक द्रव्यों और पेयों का उपभोग (औषधि रूप के अतिरिक्त) निषिद्ध करना राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में प्रमुख है (अनु० ४७)।

आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के आधार पर कृषि और पशु-पालन की उन्नति भी सरकार को करनी है। पशुओं की नस्ल सुधारने और दूध देनेवाले अथवा ढुलाई करनेवाले पशुओं की हत्या बन्द करने पर विशेष ध्यान देना है (अनु० ४८)। राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों और ऐतिहासिक अथवा कलात्मक दृष्टि से प्रसिद्ध स्थानों और वस्तुओं को नष्ट होने, हटाये जाने, खराब किये जाने या विदेश भेजे जाने से बचाना भी सरकार का कर्त्तव्य है (अनु० ४९)।

संविधान के अनुच्छेद ५० में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रशासन के अन्तर्गत कार्यपालिका और न्यायपालिका क्षेत्रों को विलग बनाने की नीति सरकार अपनाये। इससे अंग्रेजी शासन में प्रचलित दोष——कार्यपालिका और न्यायपालिका के सम्मिश्रण——को दूर करने का प्रयास हुआ है।

राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों की व्याख्या के अन्तिम खण्ड में भारत-सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनायी जानेवाली नीति का आधार दिया गया है। इसके अनुसार भारत-सरकार के निम्न कर्त्तव्य हैं——

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बढ़ाने का प्रयास करना; राष्ट्रों के साथ न्यायोचित और मर्यादापूर्ण सम्बन्ध रखना; विभिन्न संगठित राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सन्धि-शर्त्तों की मर्यादा बढ़ाने में योग देना; और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का समझौता पंच-निर्णयों से किये जाने में योग देना।

जैसा कि आगे दिये गये विवरण से स्पष्ट होगा भारत-सरकार उपर्युक्त निर्देशक सिद्धान्तों का अधिक से अधिक निर्वाह अपनी नीतियों के निर्माण और संचालन में कर रही है। उसमें जो कुछ भी त्रुटियाँ हैं वे केवल उपयुक्त परिस्थितियों के अभाव में ही हैं।

निर्देशक सिद्धान्तों की व्यावहारिक प्रगति

उपर्युक्त निर्देशक सिद्धान्तों में से अधिकांश को अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वतन्त्रता के पूर्व ही अपने उद्देश्यों के रूप में मान लिया था और अवसर मिलने पर उन्हें अपने कार्यक्रमों में परिणत करने का प्रयास भी करती रही। यही कारण था कि स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात ही इन्हें साकार बनाने के संगठित प्रयास प्रारम्भ हो गये। संविधान बनने और लागू होने के पूर्व इन्हें कार्यान्वित किये जाने के क्रम में प्रगति भी हुई। संविधान ने इनको संगठित बनाने और देश के प्रशासन-क्रम को उन पर चलाने का आधार प्रस्तुत किया है। स्वतंत्र भारत के सभी क्षेत्रों में अपनायी जानेवाली नीतियों और कार्य-क्रमों में ये सिद्धान्त ही लक्षित होते हैं।

जन-कल्याण के लिए आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रयत्नों के क्रम में ही भारत-सरकार ने १९४८ की अप्रैल में अपनी औद्योगिक नीति घोषित की। राष्ट्र के सभी क्षेत्रों में संगठित विकास लाने और जनसाधारण के आयस्तर में वृद्धि लाने के लिए ही पंचवर्षीय आयोजनों का आरम्भ किया गया। प्रथम आयोजन का उद्देश्य देश के विभाजन से उत्पन्न आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान करके भावी प्रगति का ठोस आधार प्रस्तुत करना था। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन के अन्तर्गत संतुलित औद्योगीकरण और समाजवादी समाज के निर्माण के प्रयास संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों के अनुरूप ही रहे हैं।[1] आर्थिक और नैतिक शोषण से प्रत्येक नागरिक को बचाने के लिए विशेष कानून बनाये गये हैं।[2]

महिलाओं और बालकों की भलाई के लिए खोली गयी संस्थाओं को सहयोग देने के लिए १९५३ में केन्द्रीय सामाजिक कल्याण परिषद खोली गयी। यह परिषद समाज-सेवा-संस्थाओं विशेषतः महिलाश्रमों और शिशु-सुधार केन्द्रों को आर्थिक सहायता देती है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी ऐसी ही संस्थाओं को खोलने का प्रबन्ध किया जा रहा है। नगरों में सहकारिता सिद्धान्त पर छोटे-छोटे उद्योगों को खोल कर उसमें विपन्न महिलाओं को जीविका देने की व्यवस्था हो रही है।

प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में निश्चित सिद्धान्त को व्यापक ढंग से अपनाने

१. इसका विस्तृत विवरण अध्याय ६ में देखिए।

२. इस सम्बन्ध के विस्तृत विश्लेषण १०वें और ११वें अध्याय में देखिए।

का प्रयास हो रहा है। केन्द्र और राज्य सरकारें इसके प्रसार में संलग्न हैं। पिछड़े राज्यों में इसके लिए केन्द्र द्वारा विशेष अनुदान दिये गये हैं। इन प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप देश में प्रारम्भिक पाठशालाओं की संख्या १९५०-५१ में २,२५,०१८ से बढ़कर १९५५-५६ में ३,०३,३१३ हो गयी। पाठशाला जानेवाले बालकों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। १९५०-५१ में ६ से ११ तक के उम्रवाले बालकों का ४२ प्रतिशत पढ़ने जाता था। १९५५-५६ में उनका प्रतिशत बढ़कर ५१ हो गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक यह प्रतिशत बढ़कर ६२ ·७ हो जायगा। अन्य प्रकार की शिक्षा प्रसारित करने के भी प्रयास हो रहे हैं। स्पष्ट है कि भारत-सरकार शिक्षा-प्रसार सम्बन्धी अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक है।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात से ही जन-स्वास्थ्य-सुधार की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में १२५·५ करोड़ रुपये चिकित्सा और जन-स्वास्थ्य-सुधार के लिए खर्च किये जाने का निश्चय किया गया था। उसमें ४१·७ करोड़ रुपये १९५१ से ५४ तक, २७·२ करोड़ रुपये १९५४-५५ में, और शेष १९५५-५६ में खर्च हुए। इन व्ययों के परिणामस्वरूप मृत्यु दर में पर्याप्त कमी हुई (१९४७ में १९·७ से घटकर १९५४ में १२·९ प्रति हजार हो गयी), बालमृत्यु दर और विविध महामारियों से होनेवाली मृत्यु दरों में भी पर्याप्त कमी आयी है। इससे भारतीयों की औसत आयु २६ से बढ़कर ३२ हो गयी। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन काल में जन-स्वास्थ्य के लिए कुल २७३·८२ करोड़ रुपये व्यय करने को सोचा गया है। इन आंकड़ों से सरकार द्वारा जन-स्वास्थ्य सुरक्षा के लिए किये जानेवाले प्रयत्न स्पष्ट होते हैं।

भारत-सरकार ने "नशाबन्दी" सम्बन्धी निर्देशक नीति का पालन राजस्व की पर्याप्त हानि उठाते हुए भी किया है। राज्य-पुनर्गठन के पूर्व आंध्र, बम्बई, मद्रास, कुर्ग, कच्छ और केरल में पूर्ण नशाबन्दी तथा आसाम, दिल्ली, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्य भारत, मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन और हिमांचल प्रदेश में आंशिक नशाबन्दी थी। राज्य-पुनर्गठन के पश्चात से भी मद्रास और बम्बई में लगभग पूर्ण नशाबन्दी रही है। अन्य सभी राज्यों में कम या अधिक आंशिक नशाबन्दी है। इस प्रकार अब भारत संघ के सम्पूर्ण क्षेत्र का ३२·८ प्रतिशत और सम्पूर्ण जनसंख्या का ४०·५ प्रतिशत नशाबन्दी के अन्तर्गत आ चुका है। नशाबन्दी करने से सरकार के राजस्व में काफी क्षति पहुंची है। १९४६-४७ में मादक द्रव्यों से होनेवाली आय ५०·२ करोड़ रुपये थी लेकिन १९५०-५१ में इसकी मात्रा घट कर २७ करोड़ रुपये हो गयी। तब से लगातार इसकी मात्रा में कमी आती

रही है। कुल राजस्व में इसका प्रतिशत १९५१-५२ में ११·६ था और वही घट-कर १९५५-५६ में ५·८ हो गया। इतनी क्षति उठाने पर भी सामाजिक हित के लिए भारत सरकार ने "नशाबन्दी" नीति कार्यान्वित करना आवश्यक समझा है। इस ओर प्रगति भी निर्बाध रही है।

गांवों में स्वायत्त शासन की सुविधा देने के लिए ग्राम पंचायतों को बनाने का जो सिद्धान्त संविधान में व्यक्त है उसे भी सक्रिय रूप देने का यथेष्ट प्रयास हुआ है। देश के अधिकांश राज्यों ने ग्राम पंचायत अधिनियम बनाकर ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायतें स्थापित करायी हैं। सम्पूर्ण भारत के कुल गांवों के आधे के लग-भग पंचायतों के अन्तर्गत आ चुका है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक इन पंचायतों की संख्या बढ़ाकर ढाई लाख के लगभग कर दी जायगी और देश के अधिकांश गांव इनके क्षेत्र में आ जायँगे। ये पंचायतें ग्राम विकास के सभी कार्यों को चलाती हैं तथा ग्रामीणों के पारस्परिक झगड़ों का फैसला भी करती हैं। न्याय संबन्धी कार्यों के लिए अदालत पंचायतें और न्याय पंचायतें स्थापित की गयी हैं। इनसे ग्रामीणों को अपने झगड़े निपटाने के लिए कचहरियों में जाने और अना-वश्यक समय, शक्ति तथा धन व्यय करने से छुटकारा मिल गया है।

दलित जातियों और आदिवासियों का सुधार करने के लिए निश्चित सिद्धान्तों का प्रयोग सरकार द्वारा यथेष्ट रूप में किया गया है। समाज से उनके प्रति अस्पृ-श्यता की भावना मिटाने के लिए १९५५ में एक विशेष अधिनियम बना जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को किसी धार्मिक, सांस्कृतिक या मनोरंजन के स्थान अथवा भोजनालयों, जलपानगृहों आदि में छुआछूत के आधार पर जाने से वर्जित करना दण्डनीय घोषित किया गया है। पिछड़े वर्गों को सभी प्रकार से बढ़ाने का प्रयास हो रहा है। इनको शिक्षा-दीक्षा तथा नौकरी आदि देने में समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया जाता है। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन काल में इनके विकास के लिए लगभग ९ करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों की पूर्ति ने भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाने में अपूर्व योग दिया है। विश्व-शान्ति के लिए भारत के प्रयास अत्यन्त महत्वपूर्ण समझे गये हैं। कोरिया में शान्ति लाने और दक्षिणी तथा उत्तरी कोरिया के युद्ध कैदियों का प्रश्न हल कराने में भारत का महत्वपूर्ण योग रहा है। कोरिया की समस्या हल करने के लिए संयुक्त-राष्ट्र संघ द्वारा नियुक्त एन० एन० आर० सी० का सभापतित्व भारत ने ही किया। १९५४ में चीन और भारत के प्रधान मन्त्रियों ने मिल कर विश्व-शान्ति के लिए पंचशील के सिद्धान्तों का नारा

लगाया। इसके अनुसार यदि विश्व के सभी देश एक दूसरे के राज्य और प्रभुत्व की प्रतिष्ठा रखें, अनाक्रमणता का व्यवहार करें, एक दूसरे के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न करें, आपसी समानता और पारस्परिक हितों का ध्यान रखें तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व बनाये रखें तो युद्ध की सम्भावना ही समाप्त हो जाय। एशिया और अफ्रीका के सभी राष्ट्रों का अधिवेशन बुलाने और उनमें पंचशील के आदर्शों को जगाने का प्रयास भी भारत ने किया है। गत वर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ के निरस्त्रीकरण आयोग के सम्मुख निरस्त्रीकरण की योजना भारत के प्रतिनिधि श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने रखी। मिस्र और अल्जीरिया के सम्बन्ध में भारत सरकार की जो नीति रही है वह उसके निर्देशक सिद्धान्तों के ही अनुरूप है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत सरकार के कार्यों की दिशा और गति संविधान में वर्णित निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार ही निश्चित होती रही है। संविधान में केवल सहायक रूप में व्यक्त हुए तथ्यों का इतना नियमित प्रतिपालन भारत के सर्वतोमुखी विकास का आधार रहा है। यही इसकी महती सफलता का गूढ़ रहस्य है।

तृतीय खण्ड

संविधान में प्रशासन की व्यवस्था

(क) केन्द्रीय प्रशासन

राष्ट्रपति—संविधान के अनुसार भारत का प्रशासन संसदीय पद्धति से होता है। भारतीय प्रशासन के सर्वोच्च प्रमुख राष्ट्रपति हैं। केन्द्र की समस्त कार्य-पालिका शक्ति उनमें केन्द्रित है। वे सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति भी हैं। उनका चुनाव केन्द्र की संसद के दोनों सदनों और राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य पांच वर्ष के लिए करते हैं। वे ३५ वर्ष से कम आयु के न हों और उन्हें लोक सभा के चुनाव में खड़े होने की अर्हता रखने वाला भारत का नागरिक होना चाहिए। संविधान भंग के दोष पर विशेष रूप से मुकदमा चला कर ही उन्हें पदच्युत किया जा सकता है। शासन के सर्वोच्च प्रमुख की हैसियत से राष्ट्रपति संविधान के अनुसार निश्चित पदों पर नियुक्तियां करते हैं। वे संसद को बुलाते, उसमें समय-समय पर भाषण देते और उसे स्थगित करते हैं; विशेष परिस्थितियों में अध्यादेशों को जारी करते तथा विधेयकों पर स्वीकृति देते हैं; वे कुछ परिस्थितियों में दण्डों को कम या एकदम क्षमा भी कर सकते हैं और केन्द्र-शासन को प्रत्यक्ष रूप से अथवा संविधान में दी गयी पद्धतियों के अनुसार अपने सहायकों द्वारा चलाते हैं।

उपराष्ट्रपति—संविधान के अन्तर्गत केन्द्र की कार्यपालिका में राष्ट्रपति के बाद उपराष्ट्रपति का स्थान है। उपराष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों के सदस्य करते हैं। ये भी ३५ वर्ष से कम आयु के न हों और इनमें राज्य-सभा में चुने जाने की अर्हता हो। इनका कार्य-काल ५ वर्ष होता है। ये राज्य-सभा के अध्यक्ष होते हैं और राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में राष्ट्रपति का भी कार्य करते हैं।

मन्त्रिमण्डल—संविधान के ७४वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति के कार्यों में सलाह और सहायता देने के लिए एक मन्त्रिमण्डल होता है जिसके प्रमुख प्रधान मन्त्री होते हैं। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं। अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करते हैं लेकिन उन नियुक्तियों में प्रधान मन्त्री की

सलाह लेते हैं। मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व सामूहिक है और राष्ट्रपति की इच्छा के अनुसार इसका कार्यकाल होता है पर लोक सभा के प्रति यह उत्तर-दायी है। संघ के विविध विषयों के प्रशासन के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल के निर्णयों को राष्ट्रपति तक पहुंचाना प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य है। मन्त्री के विशेष निर्णयों अथवा विधान सम्बन्धी प्रस्तावों को भी प्रधान मन्त्री द्वारा लाने पर राष्ट्रपति मान सकते हैं लेकिन यदि वे चाहें तो उन पर पूर्ण मन्त्रिमण्डल की राय लेने के लिए उन्हें पुनः सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के सम्मुख प्रस्तुत करा सकते हैं।

महाप्राभिकर्त्ता—संविधान की धारा ७६ के अनुसार राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को, जो सर्वोच्च न्यायालय में जज बनाये जाने की योग्यता रखता है, महाप्राभिकर्त्ता के रूप में नियुक्त करते हैं। इनका कार्यकाल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर होता है। इन्हें भारत सरकार को कानूनी मामलों में सलाह देनी होती है। राष्ट्रपति द्वारा सौंपे हुए वैधानिक प्रकृति के अन्य कार्य भी इन्हें करने पड़ते हैं। इसके अति-रिक्त संविधान में अथवा देश के अन्य किसी विधान में इनके लिए निश्चित किये गये कार्यों को भी करना पड़ता है। देश के सभी न्यायालयों की कार्यवाही देखने का अधिकार भी इन्हें होता है।

संसद

संघ सरकार की विधान-पालिका संसद है। इसमें दो सदन हैं:—
१—राज्य-सभा, २—लोकसभा।

राज्य सभा—इसमें २५० सदस्य होते हैं जिनमें से १२ राष्ट्रपति द्वारा नाम-जद किये जाते हैं शेष चुनाव द्वारा आते हैं। नामजद किये हुए लोग साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा में अपने विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव के कारण ही लिये जाते हैं। चुनाव से आये लोग राज्यों और केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि होते हैं जिन्हें राज्य-विधान-सभाओं के सदस्य चुनते हैं। राज्य-सभा में प्रत्येक राज्य और केन्द्रीय क्षेत्र के कितने प्रतिनिधि रहेंगे, इसका निश्चय संविधान के अन्त में चौथी अनुसूची के विवरण के अनुसार करना होता है।

राज्य-सभा भंग नहीं होती। केवल उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष अलग हो जाते हैं और नये चुनावों द्वारा इन रिक्त स्थानों की पूर्ति की जाती है।

लोक सभा—लोक-सभा में ५०० सदस्य होते हैं जिनका चुनाव विभिन्न राज्यों के लोक-सभा क्षेत्रों से वयस्क मताधिकार के अनुसार जनता द्वारा किया

जाता है। इस सभा में २० सदस्य केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों से संसद द्वारा निश्चित पद्धति के अनुसार चुने जाते हैं। प्रत्येक राज्य से लोक सभा के लिए चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या जनसंख्या के एक निश्चित अनुपात में नियत होती है। प्रतिनिधि का जनसंख्या से यह अनुपात सभी राज्यों में प्रायः समान है।

लोक-सभा का कार्य-काल अपनी प्रथम बैठक से पांच वर्ष तक होता है। संकट-कालीन परिस्थितियों में इसकी अवधि संसदीय कानून द्वारा एक वर्ष तक के लिए बढ़ा दी जा सकती है।

केन्द्र की न्यायपालिका—हमारे संविधान में केन्द्र की न्यायपालिका के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था हुई है। इसमें राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक मुख्य न्यायाधिपति और १० न्यायाधीश होते हैं। १९५६ के पूर्व न्यायाधीशों की संख्या केवल ७ थी। ये न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु तक अपने पद पर रह सकते हैं। इसमें वे ही व्यक्ति न्यायाधीश नियुक्त हो सकते हैं जो कम से कम पांच वर्ष तक किसी एक अथवा कई उच्च न्यायालयों में निर्विराम न्यायाधीश रहे हों, अथवा एक साथ १० वर्ष तक किसी एक अथवा कई उच्च न्यायालयों में वकालत करते रहे हों; अथवा जिन्हें राष्ट्रपति प्रतिष्ठित विधिवेत्ता मानें। आवश्यकता पड़ने पर किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी इस न्यायालय में एतदर्थ न्यायाधीश बना सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय अथवा संघीय न्यायालय के अवकाश-प्राप्त न्याया-धीशों को भी इसमें नियुक्त किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को हटाने के लिए राष्ट्रपति की वह आज्ञा आवश्यक है जिसकी सहमति प्रत्येक सदन के कम से कम दो-तिहाई सदस्यों से प्राप्त हो चुकी हो।

अपने पद से अवकाश ग्रहण करने पर इस न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश किसी भी अदालत में वकालत नहीं कर सकता।

नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक—संविधान के १४९ से १५१ अनुच्छेदों के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा नियन्त्रक और महालेखा-परीक्षक की नियुक्ति की जाती है। यह अधिकारी संघ और राज्यों के खातों का निरीक्षण करता है। इसका कर्त्तव्य यह देखना है कि संसद अथवा विधान सभाओं द्वारा निश्चित अथवा वि-नियोग अधिनियम में उल्लिखित राशि से अधिक खर्च किसी भी मद में न किया गया हो। केन्द्र और राज्यों के खातों के सम्बन्ध में इसकी वार्षिक रिपोर्ट क्रमशः राष्ट्र-पति और राज्यपालों को दी जाती हैं जो इन्हें संसद और राज्य विधान सभाओं के सम्मुख रखते हैं।

(ख) राज्यों का प्रशासन

राज्य-सरकारों की व्यवस्था संविधान के छठें खण्ड में दी गयी है। यह केन्द्रीय व्यवस्था से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

१—**कार्यपालिका**—राज्य की कार्यपालिका में राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के साथ मन्त्रिमण्डल आते हैं।

राज्यपाल—प्रत्येक राज्य में राष्ट्रपति द्वारा पांच वर्ष के लिए एक राज्यपाल नियुक्त किया जाता है। इनका कार्य-काल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है। ३५ वर्ष की अवस्था से अधिक कोई भी नागरिक इस पद पर नियुक्त होने की अर्हता रखता है। राज्यपाल किसी भी केन्द्र अथवा राज्य की विधान-सभा का सदस्य नहीं हो सकता और न तो अन्य किसी लाभ वाले पद को ही रख सकता है।

मन्त्रिमण्डल—राज्यपाल के कार्यों में सहायता और सलाह देने के लिए संविधान में मन्त्रि-मण्डल की व्यवस्था की गयी है। इसका प्रमुखमुख्य-मन्त्री होता है। लेकिन राज्यपाल सभी कार्य इनकी सलाह से नहीं करता। संविधान के अनुसार उसे कुछ कार्य अपने विवेक से ही करने होते हैं। मुख्य-मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है। अन्य मन्त्रियों को भी राज्यपाल ही नियुक्त करते हैं लेकिन उनकी नियुक्ति मुख्य-मन्त्री के सुझाव से होती है। सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल अपने कार्यों के लिए विधान-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है।

महाधिवक्ता—केन्द्रीय शासन के महाप्राभिकर्त्ता की भांति राज्य शासन में कानूनी मामलों पर सलाह देने के लिए तथा राज्यपाल द्वारा सौंपे गये कानूनी कार्यों को करने के लिए महाधिवक्ता की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है। इस अधिकारी का कार्यकाल राज्यपाल की इच्छानुसार ही होता है।

विधान-मंडल—संविधान के अनुसार बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मैसूर, पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में विधान के दो सदन होते हैं—एक को विधान परिषद और दूसरे को विधान-सभा कहते हैं। अन्य राज्यों में केवल एक ही सदन—विधान-सभा होता है। संविधान में उल्लिखित पद्धति के अनुसार किसी राज्य की विधान-सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के आधार पर संसद ऐसा कानून बना सकती है जिससे किसी राज्य में दूसरी सभा बन सके अथवा जहां दोनों में से एक को समाप्त कर दिया जाय।

विधान-परिषद—किसी भी राज्य के विधान-परिषद में उसके विधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या के एक-तिहाई या ४०, जो भी अधिक हो, से कम

सदस्य नहीं हो सकते। परिषद के कुल सदस्यों की संख्या के एक-तिहाई सदस्य विधान-सभा के सदस्यों द्वारा बाहरी लोगों में से चुने जाते हैं, एक-तिहाई नगर-पालिका, जिला-परिषद और अन्य स्थानीय अधिकारियों के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। सदस्यों की कुल संख्या के $\frac{1}{12}$ उच्च शिक्षण-संस्थाओं में कार्य करने वाले अध्यापकों द्वारा तथा $\frac{1}{12}$ ही तीन वर्ष से अधिक पहले के पंजीकृत स्नातकों द्वारा चुने जाते हैं। शेष राज्यपालों द्वारा साहित्य, विज्ञान, कला सहकारिता आन्दोलन और समाजसेवा में विशिष्ट स्थान रखने वाले व्यक्तियों में से मनोनीत किये जाते हैं। केन्द्र की राज्य-सभा की तरह विधान-परिषद भी स्थायी होती है। हर दूसरे वर्ष कुल सदस्यों के एक-तिहाई अलग होते हैं और रिक्त स्थान की पूर्ति चुनाव द्वारा पुनः कर दी जाती है।

विधान-सभा—संविधान के अनुच्छेद १७० के अनुसार विधान-सभा के सदस्यों की संख्या कम से कम ६० और अधिक से अधिक ५०० होती है। सदस्यों का चुनाव राज्य के अलग-अलग विधान-मण्डल क्षेत्रों से वयस्क-मताधिकार के अनुसार जनता द्वारा किया जाता है। राज्य में विधान-मण्डल चुनाव-क्षेत्र इस ढंग से बनाये जाते हैं कि हर क्षेत्र की जन-संख्या लगभग समान हो जिससे प्रति सदस्य मतदान करने वाली जनसंख्या का अनुपात बराबर हो सके। विधान-सभा का कार्य-काल सामान्यतः पांच वर्ष होता है यदि इससे पूर्व ही इसका समापन न कर दिया जाय।

न्यायपालिका—राज्य के न्याय प्रशासन का शीर्ष उसका उच्च न्यायालय होता है। इसमें एक न्यायाधिपति और कुछ न्यायाधीश होते हैं। न्यायाधिपति की नियुक्ति राष्ट्रपति, राज्य के राज्यपाल और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधि-पति की सलाह से करते हैं। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करते हैं लेकिन उनकी नियुक्ति में उच्च न्यायालय के न्यायाधिपति की ही सलाह ली जाती है। ये न्यायाधीश ६० वर्ष की उम्र तक अपने पद पर रह सकते हैं। यदि कर्त्तव्यों की त्रुटि के कारण किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को समय से पूर्व ही पदच्युत करना आवश्यक हो तो इसके लिए वही पद्धति अपनायी जाती है जिसे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाने के लिए अपनाते हैं। उच्च न्यायालय में न्यायाधीश बनने के लिए भारत में किसी व्यक्ति को किसी जगह १० वर्ष तक न्यायाधीश रहना चाहिए अथवा वह लगातार १० वर्ष तक एक या कई उच्च न्यायालयों में वकालत कर चुका हो।

(अ) राज्यों और केन्द्र में सम्बन्ध

केन्द्र और राज्यों के बीच विधान सम्बन्धी और प्रशासनिक दो प्रकार के सम्बन्ध हैं। इसकी व्याख्या संविधान के ११वें खण्ड में की गयी है। किसी नये राज्य की स्थापना करना अथवा किसी पुराने राज्य के क्षेत्र की सीमा, नाम आदि परिवर्तित करना केन्द्रीय संसद के अधिकार के अन्तर्गत है लेकिन उसके लिए संविधान में उल्लिखित पद्धति अपनानी पड़ती है।

विधान सम्बन्धी सम्बन्ध—केन्द्र और राज्यों में विधान सम्बन्धी अधिकारों का विभाजन संविधान की ७वीं अनुसूची में दी गयी व्यवस्थाओं के अनुसार होता है। उसमें विधान बनाने के विषयों की तीन सूचियां हैं—केन्द्र-सूची, राज्य-सूची, और समवर्ती सूची। केन्द्र-सूची में अखिल भारत की दृष्टि से महत्वपूर्ण ९७ विषय हैं जैसे सुरक्षा, विदेशी संबंध, संवहन, मुद्रा और चलन, बैंकिंग और बीमा, आयात-निर्यात प्रशुल्क आदि जिनमें कानून बनाने का अधिकार केवल संसद को है। राज्य-सूची में ६६ ऐसे विषय हैं जिनमें राज्य विधान-सभा को कानून बनाने का पूर्ण अधिकार है। इन विषयों के अन्तर्गत राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था रखने का प्रबन्ध, न्याय प्रशासन, स्वायत्त-शासन, जन-स्वास्थ्य और सफाई, शिक्षा, कृषि, वन, जंगली जीव-जन्तुओं की रक्षा आदि प्रमुख हैं। तीसरी सूची ४७ ऐसे विषयों की है जिनमें कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय संसद और राज्य विधान-सभाओं दोनों को है। इसमें आर्थिक आयोजना, सामाजिक सुरक्षा, विद्युत, समाचारपत्र, पुस्तकें, उद्योग व व्यवसाय आदि सम्मिलित हैं। संसद द्वारा बनाये गये कानून सम्पूर्ण देश में लागू होते हैं जबकि विधान-सभा के कानून राज्य भर में ही लागू होते हैं। केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों के लिए राज्य-सूची के विषयों पर भी संसद ही कानून बनाती है।

इन तीनों सूचियों के बाहर जितने भी अवशिष्ट विषय आते हैं उन पर केन्द्रीय संसद का एकमात्र अधिकार होता है। यदि किसी विषय पर केन्द्र और राज्य—दोनों के कानून होते हैं और उनके कुछ अंशों में विरोध होता है तो उस अंश के लिए केन्द्र का कानून ही लागू माना जायगा। कभी-कभी राज्य विधान परिषद के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के आधार पर केन्द्रीय संसद एक साल के लिए उन विषयों पर भी कानून बना सकती है जो राज्य-सूची में सम्मिलित किये गये हैं। एक साल से अधिक संसदीय कानून राज्य में लागू करने के लिए परिषद से उपर्युक्त रीति से पुनः प्रस्ताव स्वीकृत कराने की आवश्यकता होती है।

प्रशासनिक सम्बन्ध—केन्द्र और राज्यों की कार्यपालिका अपने-अपने विधान शक्तियों की पूर्ति करती हैं। लेकिन संविधान के अनुसार केन्द्र अपने प्रशासन

सम्बन्धी कुछ कार्यों को राज्यों और उनके कर्मचारियों को भी सौंप सकता है। इस क्रम में संविधान के अन्तर्गत राज्यों पर यह वैधानिक दायित्व रहता है कि वे अपने यहां लागू होने वाले केन्द्रीय और संसदीय कानूनों का निर्वाह करायें, केन्द्र की प्रशासनिक शक्ति के प्रयोग में बाधक न बनें।

राज्य भी अपने प्रशासनिक कार्यों को भारत सरकार या उसके अधिकारियों को सौंप सकते हैं। किसी भी राज्य में राष्ट्रीय अथवा सैनिक महत्त्व के मार्गों अथवा समाचार-संवहन के साधनों का निर्माण करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। केन्द्रीय सरकार राज्य-सरकारों को अपने क्षेत्र में रेल की सड़कों की सुरक्षा का भार सौंप सकती है। विभिन्न राज्यों से बहने वाली नदियों के पानी के वितरण अथवा नियन्त्रण के सम्बन्ध में, यदि उन राज्यों के बीच मतभेद है तो उसका निबटारा संसद द्वारा बनाये गये कानून से होता है। इसी प्रकार राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले मतभेदों को सुलझाने, सबके हित के विषयों की जांच करने तथा उन पर विचार करने और समन्वय की नीति तथा कार्य-विधि पर सुझाव देने के लिए राष्ट्रपति अन्तर्राज्यीय परिषद बना सकते हैं।

चतुर्थ खण्ड

वित्त-प्रबन्ध

संविधान के बारहवें खण्ड में राष्ट्र के वित्त, उसकी संपत्तियों और संविदाओं का समुचित विवरण दिया गया हैं। करों का कानून बनाने के लिए केन्द्र और राज्यों की अलग-अलग सूचियां दी गयी हैं। केन्द्र और राज्यों में राजस्व-वितरण की पद्धति का भी उल्लेख किया गया है। केन्द्रीय सरकार अपनी सूची में व्यक्त ८२ से ९२ क तक के मदों में कर और प्रशुल्क लगाने का अधिकार रखती है। उसी प्रकार राज्य सरकारों को भी अपनी सूची के ४५ से ६३ तक के मदों में कर लगाने का अधिकार है। इनके अतिरिक्त संविधान में करों की कुछ ऐसी कोटियां व्यक्त हैं जिनमें केन्द्र और राज्य-सरकारों का समान हित रहता है और उनका विभाजन विविध अनुपातों में किया जाता है। करों की कोटियाँ नीचे दी हुई हैं :—

१—वे कर, जिन्हें केन्द्रीय सरकार लगाती है और राज्य सरकारें अपने लिए वसूलती हैं। इनमें औषधियों तथा सुगन्धित पदार्थों पर लगाये जाने वाले उत्पादन कर, न्याय प्रशासन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में व्यवहृत टिकटों का मूल्य प्रमुख हैं।

२—वे कर, जिन्हें केन्द्रीय सरकार लगाती और वसूलती है लेकिन उनकी शुद्ध आय राज्यों को ही दे दी जाती है। इनमें कृषिभूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्तियों के कर जैसे मृत्युकर, रेल, समुद्र अथवा वायु-मार्ग द्वारा ले जाने वाले सामानों और यात्रियों पर कर, शेयर बाजारों के व्यवहारों पर टिकट के अतिरिक्त कर, दो राज्यों के बीच होने वाले क्रय-विक्रय सम्बन्धी कर प्रमुख हैं।

३—वे कर, जिन्हें केन्द्रीय सरकार लगाये और वसूल करे, लेकिन जिसकी शुद्ध आय केन्द्र और राज्यों में विभक्त कर दी जाय। इनमें आयकर प्रमुख हैं।

४—वे कर, जिन्हें केन्द्रीय सरकार लगाये और वसूल करे, लेकिन जिनकी प्राप्ति का राज्यों में वितरण केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर हो। इनमें प्रथम कोटि में बताये गये उत्पादन कर को छोड़ अन्य सभी उत्पादन कर आते हैं।

संविधान में केन्द्र और राज्य सरकारों को अपने समेकित बीमों की जमानत पर संसद और विधान-सभाओं में निश्चित राशि तक ऋण लेने का अधिकार है। केन्द्रीय सरकार राज्य-सरकारों को भी ऋण दे सकती है और उनके द्वारा लिए जाने वाले ऋणों की गारंटी भी कर सकती है।

विभिन्न राज्यों और केन्द्र के बीच करों की प्राप्तियों का विभाजन करने के लिए तथा केन्द्र द्वारा राज्य-सरकारों को सहयोग के रूप में दिये जाने वाले अनुदानों की राशि निश्चित करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर वित्त-आयोग की नियुक्ति की जाती है। प्रथम वित्त-आयोग नवम्बर, १९५१ में नियुक्त हुआ था। इसकी रिपोर्ट फरवरी १९५२ में प्रकाशित हुई। द्वितीय आयोग अप्रैल १९५६ में नियुक्त किया गया है। इसकी अन्तिम रिपोर्ट भी प्रकाशित हो चुकी है।

संविधान के इसी खण्ड में केन्द्र और राज्य-सरकारों के खातों की परीक्षण विधि का भी उल्लेख है जिसे निरीक्षक और महालेखा-परीक्षक के तत्वावधान में कार्य करने वाले कर्मचारी करते हैं।

व्यापार और वाणिज्य

संघ के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापार और वाणिज्य को स्वतन्त्रतापूर्वक चलाने के लिए संविधान के तेरहवें खण्ड में सामान्य सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है। अनुच्छेद ३०२ के अनुसार केन्द्रीय संसद द्वारा व्यापार सम्बन्धी स्वतन्त्रता में जनहित के लिए कुछ सीमाएं लगायी जा सकती हैं। इसी प्रकार राज्य-सरकारें भी जनहित के लिए सीमाएं लगा सकती हैं लेकिन सीमाएं ऐसी नहीं हो सकतीं, जिनसे राज्यों में एक दूसरे से भेद-भाव हो। व्यापार और वाणिज्य की स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपयुक्त नियमों पर विचार करने अथवा लागू कराने के लिए संसद द्वारा विशेष अधिकारी की नियुक्ति हो सकती है।

पंचम खण्ड

विविध व्यवस्थाएं

जन-सेवा

सम्पूर्ण देश की प्रगति प्रशासन की उत्तमता पर निर्भर है और उत्तम प्रशासन योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति, उनकी सेवा-शर्तों और पदोन्नति अथवा पद-ह्रास की उचित व्यवस्थाओं पर आधारित है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए संविधान के चौदहवें खण्ड में जन-सेवा में संलग्न कर्मचारियों के उचित प्रवन्ध की व्याख्या हुई है। इसके अन्तर्गत केन्द्र-जन-सेवा-आयोग और राज्य-जनसेवा-आयोग की नियुक्ति और कार्यविधि का भी विश्लेषण किया गया है।

राष्ट्र-भाषा

संविधान के अनुच्छेद ३३४ के अनुसार देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। किन्तु संविधान लागू होने के बाद से १५ वर्ष तक अंग्रेजी चालू रखने की व्यवस्था की गयी। इसी बीच में पांच वर्ष बीतने पर राष्ट्रपति को एक हिन्दी आयोग नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। इस आयोग को हिन्दी की प्रगति की जांच करनी थी और यह बतलाना था कि हिन्दी का प्रयोग किस प्रकार अधिक से अधिक अंग्रेजी के स्थान पर सरकारी कामों में किया जा सकता है। इस आयोग की संस्तुतियों पर विचार करने के लिए ३० सदस्यों की एक संसदीय समिति चुनाव द्वारा बनायी जायगी जिनमें २० सदस्य लोक सभा से और १० सदस्य राज्य-सभा से चुने जायंगे।

जून १९५५ में २१ सदस्यों का सरकारी भाषा-आयोग श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। इसकी रिपोर्ट पहली अगस्त १९५६ को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत हुई। संसदीय समिति ने इस पर विचार भी कर लिया है।

अनुच्छेद ३४३ के अनुसार ही राष्ट्रपति को यह भी अधिकार दिया गया कि वे अंग्रेजी भाषा के लिए निश्चित १५ वर्ष की अवधि के भीतर ही केन्द्र के कुछ

सरकारी कार्यों के लिए हिन्दी का प्रयोग प्रारम्भ करा सकते हैं। १९५५ में केन्द्र के कुछ कार्यों को हिन्दी में राष्ट्रपति द्वारा प्रारम्भ भी करा दिया गया।

अनुच्छेद ३५१ के अनुसार केन्द्रीय सरकार पर हिन्दी भाषा का प्रचार करने तथा इसे देश के विविध संस्कृति वाले क्षेत्रों में अभिव्यक्ति का माध्यम होने योग्य बनाने का दायित्व भी सौंपा गया है। इस दायित्व की पूर्ति के लिए भारत सरकार स्वयं प्रयत्नशील रही है और राज्य सरकारों को भी अनुदान आदि देकर इस ओर प्रगति करने के लिए बढ़ावा देती रही है। इसके अतिरिक्त हिन्दी शब्द-कोष, विश्व-कोष, व्याकरण आदि प्रकाशित कराने तथा विज्ञान, प्रशासन और प्राविधिक क्षेत्रों में व्यवहृत शब्दों और केन्द्रीय अधिनियमों को हिन्दी में अनुवाद कराने की भी व्यवस्था केन्द्र सरकार द्वारा की गयी है। सेनाओं में प्रयुक्त आदेशात्मक शब्दों का हिन्दी रूपान्तर तैयार करने का भी प्रयत्न हो रहा है। इन सभी दिशाओं में पर्याप्त प्रगति हुई है।

संविधान के अनुसार कोई भी राज्य अपनी सरकारी भाषा एक या कई क्षेत्रीय भाषाओं अथवा हिन्दी को बना सकता है। क्षेत्रीय भाषाओं में केवल १४ भाषाएं मान्य हैं जिनकी गणना संविधान की आठवीं अनुसूची में की गयी है। राज्य और केन्द्र के बीच अभी अंग्रेजी भाषा ही पत्र-व्यवहार में प्रयुक्त है लेकिन हिन्दी अपनाने वाले राज्य केन्द्र के साथ दिसम्बर १९५५ से हिन्दी में व्यवहार करने लगे। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों की कार्यवाहियों में संविधान की धारा ३४८ के अनुसार अंग्रेजी भाषा ही व्यवहृत होती है।

संकटकालीन व्यवस्था

संविधान के अनुच्छेद ३५२ के अनुसार युद्ध अथवा आंतरिक दुर्व्यवस्था से उत्पन्न संकटकालीन परिस्थितियों में राष्ट्रपति राज्यों का शासन एक विशिष्ट क्रम से चलाने का आदेश दे सकते हैं और संविधान के २६८ से २८० अनुच्छेदों में व्यक्त राज्यों के अधिकार को स्थगित कर सकते हैं। राष्ट्रपति की यह घोषणा दो महीनों के भीतर ही लोक-सभा और राज्य-सभा द्वारा स्वीकृत हो जानी चाहिए।

अनुसूचित जातियों और आदिवासियों के लिए विशेष व्यवस्था

हमारे संविधान में देश के सभी नागरिकों के लिए समान राजनीतिक और सामाजिक अधिकार सुरक्षित बनाने की उपयुक्त व्यवस्था हुई है। इसके साथ ही अल्प-

संख्यकों और पिछड़े वर्गों की सुरक्षा और प्रगति के लिए विशेष व्यवस्थाएं की गयी हैं। इनके लिए संसद में और विधान-सभाओं में जगहें सुरक्षित की गयी हैं; सरकारी पदों पर नियुक्ति के लिए अधिमान्यता (तरजीह) दी जाती है और इनमें शिक्षा-प्रसार के लिए विशेष प्रयास किया जा रहा है। देश के आदिवासी क्षेत्रों और पिछड़ी जातियों में सुधार लाने का विशेष भार भारत सरकार को सौंपा गया है।[१] अनुच्छेद २४४ और पांचवीं अनुसूची के अनुसार आसाम को छोड़ कर देश के अन्य सभी पिछड़े वर्गों के प्रदेशों के विशेष प्रशासन और नियन्त्रण का प्रबन्ध संविधान में किया गया है। आसाम के आदिवासी क्षेत्रों के प्रशासन की व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद २४५ (२) में की गयी है। इसके अनुसार पहले आसाम के गवर्नर को ही इन क्षेत्रों का प्रशासन सौंपा गया था। अब उसे केन्द्र शासन के अन्तर्गत ला दिया गया है। उन जिलों के प्रतिनिधियों की परिषद बनायी जा सकती है। इस परिषद को प्रशासन के सभी अधिकार दिये जाते हैं।

इन प्रावधानों के अनुसार यह प्रयास किया जा रहा है कि भारतीय जनता का पिछड़ा वर्ग उन्नति करे और समाज में प्रतिष्ठित बन सके। भारत सरकार का यह प्रयास आधुनिक प्रगतिशील राष्ट्रों के सम्मुख एक अनोखा उदाहरण है। हमें पिछड़ी जातियों को मिटाना नहीं है अपितु उन्हें उठाकर, शिक्षित और शिष्ट बनाकर अपने में मिला लेना है। यह पद्धति हमारी प्राचीन संस्कृति के आदर्श "सर्वे सुखिनः सन्तु" से अनुप्राणित है।

निष्कर्ष

संविधान के प्रमुख तत्वों के संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जिन आदर्शों को सामने रखकर इसे बनाने का प्रयास किया गया था लगभग उन सभी का सफल निरूपण इसमें हुआ है। भाषा और व्यवहार सम्बन्धी विविधता देखते हुए सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में संबद्ध रखने के लिए केन्द्र की शक्तियां बढ़ाना आवश्यक समझा गया। हमारे संविधान का अधिक केन्द्रीकृत होना इसी दृष्टिकोण पर आधारित है। इसके अभाव में विग्रहात्मक शक्तियों के उग्र होते ही राष्ट्रीय एकता का छिन्न-भिन्न होना सरल था। देश के सभी क्षेत्रों में विकास की गति में साम्य रखने के लिए भी केन्द्र को सत्ता-युक्त और साधन-सम्पन्न बनाया गया है।

१. इसके विस्तृत विवरण के लिए ११वां अध्याय देखिए।

हमारा संविधान प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर आधारित है। चुनाव के माध्यम से जन-मत की अभिव्यक्ति केन्द्र और राज्य दोनों के प्रशासन संचालकों के प्रति होती है। जनता के प्रतिनिधि ही लोक-सभा और विधान-सभाओं में जाकर प्रशासन-नीति और व्यवस्था निर्धारित करते हैं। निर्वाचित सदस्यों की तुलना में मनोनीत सदस्यों की संख्या नगण्य रहती है। पांच वर्ष की सीमित अवधि के पश्चात नये चुनावों का क्रम सदस्यों को जनता की इच्छाओं और आशाओं के प्रति जागरूक रखते हैं। इससे जनता द्वारा जनता के प्रशासन का महिमामय स्वरूप साकार होता है।

देश में प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियों को सुरक्षित रखने के लिए संविधान में विशेष क्रम सम्मिलित किये गये हैं। सम्पूर्ण शासन-यन्त्र के प्रमुख राष्ट्रपति के कार्यों को भी उचित सीमाओं में संयत रखने के लिए संसद को महाभियोग लगाने का अधिकार दिया गया है। जन-मत-अभिव्यक्ति को उचित समय और क्षेत्र प्रस्तुत करने के लिए स्वतन्त्र चुनाव-आयोग की व्यवस्था है। इसी के निर्देशों के अनुसार चुनाव कराये जाते हैं। विविध सरकारी क्षेत्रों में होने वाले व्ययों की उपयुक्तता का विश्लेषण करने के लिए महालेखा-परीक्षक अपने पूर्ण विभाग के साथ कार्य करता है। उसका प्रतिवेदन राज्य-विधान-सभा और लोकसभा के सम्मुख रखा जाता है ताकि जन-प्रतिनिधि सरकारी आय और व्ययों से अवगत हो सकें। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सरकार राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों की पूर्ति किस स्तर तक कर रही है। यद्यपि इनकी शत-प्रतिशत पूर्ति अभी तक सम्भव नहीं हो सकी है लेकिन उस दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है। ये अभाव सरकारी उपेक्षा से नहीं बल्कि उन सीमाओं के कारण हैं जिन्हें धीरे-धीरे समाप्त करके देश की समृद्धि बढ़ाने में भारत सरकार संलग्न है।

संविधान लागू होने के बाद सात वर्षों में ही सात संशोधन किये गये हैं। संशोधनों के इस बाहुल्य से कुछ लोग यह अर्थ निकालते हैं कि भारतीय संविधान बहुत विस्तृत होते हुए भी अपूर्ण और कुछ क्षेत्रों में अनुपयुक्त है। लेकिन ये परिवर्तन अपूर्णता अथवा अनुपयुक्तता के द्योतक नहीं है। प्रधान मंत्री पण्डित नेहरू के ही शब्दों में ये हमारे देश की सजीव, स्फूर्तिमय जनता की प्रगति के चित्र हैं। संविधान को सदैव के लिए स्थिर और जड़वत बनाना राष्ट्र की प्रगति को रोकना है क्योंकि एक बार स्थिर किये गये नियम बढ़ते हुए राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुरूप सदैव नहीं हो सकते। उपयुक्त परिवर्तनों के लिए सक्षम भारतीय संविधान प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्थाओं को अधिक उपयोगिता के साथ संचालित रखने में

योग देता है और विकासोन्मुख नव-राष्ट्र को सतत प्रगति का सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करता है। इसी पर बढ़ता हुआ भारतीय लोकतन्त्र अपने जीवन के प्रथम दस वर्षों में ही अपनी सर्वसाधारण व्यावहारिकता, आम चुनाव, का दो बार सफल प्रयोग कर चुका है। वयस्क मताधिकार के इस सक्रिय रूप से भारतीय जनता स्वतन्त्र वातावरण में अपने अपूर्व अधिकारों और राष्ट्र में गौरवपूर्ण अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकी है। इन चुनावों की पद्धति और संचालन विधि का विश्लेषण अगले अध्याय में किया गया है।

तीसरा अध्याय

भारत में चुनाव

चुनाव—लोकतन्त्र का व्यावहारिक रूप

पिछले अध्याय में यह बतलाया गया है कि लोकतन्त्र का व्यावहारिक रूप चुनाव है। इसी से जनता देश के शासन में अपनापन का अनुभव करती है। चुनाव से वह अपने प्रतिनिधियों को चुनती है, जो शासन-नीति बनाते और उसे संचालित रखते हैं। हमारे संविधान में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, संसद के दोनों सदनों के सदस्यों तथा राज्य-सभाओं के सदस्यों के चुनाव की विधि का उल्लेख हुआ है। उसी में संसद-सदस्यों और राज्य-सभा के सदस्यों की योग्यता, अनुसूचित जातियों और आदिवासियों के प्रतिनिधियों की व्यवस्था भी स्पष्ट की गयी है। शासन-भार संभालने वाला दल चुनाव में किसी प्रकार अनुचित प्रभाव न रख सके, इसके लिए चुनाव-आयोग की नियुक्ति का प्रबन्ध है। यह आयोग पूर्णतः स्वतन्त्र और निष्पक्ष ढंग से चुनाव कराता है। प्रति पांचवें वर्ष उपर्युक्त सभी पदों के लिए आम-चुनाव होता है जिसमें देश के सभी वयस्कों को मत देने का अधिकार है। केवल वे ही लोग जो किसी अपराध या अन्य कारण से दोषी हो जाने के कारण मत-दान के अधिकार से वंचित कर दिये गये हों, मत नहीं दे सकते। स्वतन्त्रता प्राप्त होने से अब तक दो बार आम-चुनाव देश में हो चुके हैं। उनमें जितनी सुगमता और शान्ति भारतीय जनता ने दिखायी वह संसार के प्रजातन्त्र देशों के सम्मुख आदर्श है। उसे देखने के लिए इंडोनेशिया, सूडान, नेपाल आदि देशों के प्रतिनिधि भारत में आये थे।

भारत में चुनाव की प्राचीन परम्परा

लोकतन्त्र शासन और चुनाव भारत के लिए एकदम नया प्रयोग नहीं है। प्राचीन भारत में यह व्यवस्था बहुत समय तक प्रचलित थी। जैसा कि बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है, ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी तक में वहां "क्षुद्रक मल्ल संघ" नामक एक विशाल लोकतन्त्र राज्य था। ग्रीक साहित्य में भी भारत के गणराज्यों की चर्चा

मिलती है। इनमें सभी पुरुष वयस्कों को आम सभा में भाग लेने और मत देने का अधिकार था। जनसंख्या बढ़ने और संघ-राज्यों का क्षेत्र व्यापक होने पर सभी पुरुषों का शासन-नीति-निर्धारण में भाग लेना सम्भव नहीं रहा, इसलिए चुनाव द्वारा प्रतिनिधियों को चुनने और भेजने की व्यवस्था आरम्भ की गयी। हिन्दू-राजनीति के ऐतिहासिक विश्लेषण में चुनाव, मतदान आदि का विवरण मिलता है। कुछ लोकतन्त्रों में केवल उच्च परिवारों को मतदान का अधिकार था। लेकिन कुछ में सभी वयस्क पुरुष मत दे सकते थे। विद्रोहियों को भी कृत्रिम नागरिक बनाकर मतदान का अधिकार मिलता था। मतदान-पत्र के लिए रंग-बिरंगी "शलाकायें" प्रयुक्त होती थीं। इनका संग्रह विशेष अधिकारी जिन्हें "शलाका ग्राहक" कहते थे, गुप्त अथवा स्पष्ट रीति से करते थे।[१]

चुनाव के आधार पर लोकतन्त्र की व्यवस्था हमारे देश में बहुत दिन तक प्रचलित रही। बड़े साम्राज्यों के स्थापित होने पर भी ग्रामों और नगरों में स्वायत्त-शासन ही रहता था। जनता द्वारा बनायी गयी सभाएं और पंचायतें ही उन क्षेत्रों की देखरेख करती थीं। मुगल काल में भी इन सभाओं और पंचायतों का प्रचलन गांवों और नगरों में था। अंग्रेजों के केन्द्रित शासन प्रारम्भ करने पर ही गांवों से जनता के शासन का लोप हुआ क्योंकि उनके नये शासन-क्रम में माल, न्याय और अन्य कानूनी मामले केन्द्रित कर लिये गये।

ब्रिटिश-शासन में चुनाव की व्यवस्था

लेकिन अंग्रेजी-शासन काल में ही कुछ समय बाद मतदान के आधार पर जनता के प्रतिनिधियों को स्वायत्त-शासन चलाने का अधिकार नगरों और ग्रामीण क्षेत्रों में दिया जाने लगा। सन् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के मुताबिक केन्द्र और प्रान्त सरकारों के विधान-मण्डलों में जनता के प्रतिनिधि चुनाव द्वारा भेजे जाने लगे, पर चुनाव में मत देने का अधिकार सभी वयस्कों को नहीं था। केवल कर, सम्पत्ति, शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यक शर्तों को पूरा करने वाले लोगों को ही मतदान करने का अधिकार था। इस प्रकार विविध प्रान्तों की कुल जनता के १४ प्रतिशत को ही मतदान की सुविधा थी। देशी रियासतों में मतदान

१. प्रथम चुनाव पर प्रकाशित चुनाव-आयोग की रिपोर्ट देखिए—अध्याय २, पृष्ठ ७।

का अधिकार और जन-प्रतिनिधियों के विधान-मण्डलों की व्यवस्था नाममात्र ही थी।

कुछ लोगों का यह मत था कि भारत ऐसे बड़े देश में जहां करोड़ों की संख्या में जनता रहती है और जिनमें शिक्षितों की संख्या बहुत कम है, पूर्ण बालिग मताधिकार देना सम्भव नहीं है[1] लेकिन हमारी संविधान सभा ने स्वतन्त्रता मिलने के पूर्व से ही पूर्ण बालिग मताधिकार के प्रयोग से केन्द्र की संसद और प्रान्तों की राज्य-सभाओं में जनता के प्रतिनिधियों को भेजने का निश्चय कर लिया था और नवम्बर, १९४७ में ही सभी राज्य सरकारों को यह सूचना भेजी गयी थी कि वे अपने यहां चुनाव सम्बन्धी सभी प्रशासनिक समस्याओं पर विचार करें और संविधान लागू होने के बाद शीघ्रातिशीघ्र चुनाव कराने की उचित तैयारी, मतदाताओं की सूची बनाना आदि पूर्ण करें।

१. देखिए प्रथम गोलमेज परिषद की भारतीय मताधिकार समिति की रिपोर्ट।

द्वितीय खण्ड

संविधान के अन्तर्गत चुनाव सम्बन्धी प्रावधान

संविधान बनाते समय मौलिक अधिकारों वाली उपसमिति ने यह सुझाव दिया था कि बालिग मताधिकार संविधान के अन्तर्गत मौलिक अधिकार के रूप में रखा जाय। लेकिन अल्पसंख्यकों और मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में नियुक्त सलाहकारिणी समिति ने उपर्युक्त सुझाव से सहमत होते हुए भी यह विचार प्रकट किया कि संविधान में इसके लिए अलग खण्ड रखना ही अधिक उपयुक्त होगा। तदनुसार संविधान के अनुच्छेद ३२६ में यह प्रावधान हुआ कि लोक सभा और विधान सभाओं के सदस्यों का चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर किया जायगा। इस प्रावधान से भारत में संसदीय प्रजातन्त्र शासन की प्राचीन परम्परा को नवजीवन प्राप्त हुआ; विदेशी शासन से कुचली गई पूर्ण प्रजातन्त्रीय जन-भावना को प्रस्फुटित होने का नया क्षेत्र मिला।

राष्ट्रपति का चुनाव

देश का शासन-यन्त्र चलाने के सर्वोच्च अधिकारी राष्ट्रपति से लेकर राज्य के विधान-मण्डल के सदस्यों तक के चुनाव की पद्धति का उल्लेख संविधान में किया गया है। राष्ट्रपति का चुनाव जनता प्रत्यक्ष रूप से नहीं करती। संसद और राज्य-विधान-सभाओं में भेजे गये उसके प्रतिनिधि सदस्य ही राष्ट्रपति के निर्वाचक होते हैं। इन सदस्यों के मतदान की संख्या इस प्रकार निश्चित की जाती है कि विभिन्न राज्यों को राष्ट्रपति के चुनाव में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। विधान-सभाओं के सदस्य की मतदान संख्या निश्चित करने के लिए राज्य की कुल जन-संख्या में उसकी विधान-सभा के सदस्यों की कुल संख्या का भाग देते हैं। लब्धि जितने हजार आती है प्रत्येक सदस्य को उतने मत राष्ट्रपति के चुनाव में देने का अधिकार होता है। लब्धि यदि पूर्ण हजार में नहीं आयी तो शेष यदि ५०० या उससे अधिक है तो उसे भी एक हजार मान लेते हैं, लेकिन यदि वह ५०० से कम है तो उसे छोड़ देते हैं।

संसद के दोनों सदनों—लोकसभा और राज्य-सभा—के सदस्यों के मतों की संख्या इस प्रकार निकाली जाती है। सभी राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्यों को कुल जितने मत देने के अधिकार हैं उनमें दोनों सदनों के चुनाव द्वारा आये हुए सदस्यों की संख्या से भाग देते हैं, जो लब्धि आती है उतने ही मत उनमें से प्रति सदस्य को देने का अधिकार है। यदि लब्धि पूर्णांक नहीं आती तो शेष आधे से अधिक होने पर पूर्णांक मान लिया जाता है। आधे से कम होने पर छोड़ दिया जाता है।

उपर्युक्त समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर राष्ट्रपति का चुनाव गुप्त शलाका-पद्धति (सीक्रेट बैलेट सिस्टम) के अनुसार होता है। (अनुच्छेद ५५)

राष्ट्रपति केवल पांच वर्ष तक अपने पद पर रह सकते हैं। पदावधि समाप्त होने के पूर्व ही दूसरा चुनाव हो जाना चाहिए। यदि अवधि से पूर्व ही राष्ट्रपति का पद मृत्यु, त्यागपत्र अथवा निष्कासन से रिक्त होता है तो उसकी पूर्ति भी उपर्युक्त विधि से चुनाव द्वारा की जाती है। नये राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच वर्ष ही होता है। (अनुच्छेद ६२)

उपराष्ट्रपति का चुनाव

संविधान के अनुच्छेद ६६ के अनुसार उपराष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों के सदस्यों की सम्मिलित बैठक में किया जाता है। प्रत्येक सदस्य समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर गुप्त शलाका-पद्धति के अनुसार मत देता है। राज्य-विधान-सभाओं के सदस्य उपराष्ट्रपति के चुनाव में भाग नहीं लेते।

राष्ट्रपति की तरह उपराष्ट्रपति भी पांच वर्ष तक के लिए चुने जाते हैं और कार्यावधि समाप्त होने के पूर्व ही दूसरा चुनाव हो जाता है, (अनुच्छेद ६१,६८) जिससे पांच वर्ष पूरा होने के बाद ही दूसरे उपराष्ट्रपति स्थान ग्रहण कर सकें। मृत्यु, त्याग-पत्र अथवा निष्कासन से यदि अवधि के पूर्व ही उपराष्ट्रपति का स्थान रिक्त होता है तो उसकी पूर्ति शीघ्रातिशीघ्र दूसरे चुनाव से होती है। नये उपराष्ट्र-पति पांच वर्ष तक स्थानापन्न रहते हैं। (अनुच्छेद ६८)

पुराने राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति का चुनाव दुबारा हो सकता है। उनके चुनाव में यदि किसी प्रकार का विवाद अथवा शंका हो तो उसका निबटारा सर्वोच्च न्यायालय करता है। यदि राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति का चुनाव इस न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया जाता है तो भी घोषणा की तिथि से पहले तक के उनके कार्य अवैध नहीं होते।

राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धित अथवा तज्जनित किसी भी विषय को संसद कानून बनाकर नियन्त्रित कर सकती है। लेकिन यह नियन्त्रण संविधान के अंतर्गत ही हो। (अनुच्छेद ७१)

संसद के दोनों सदनों के सदस्यों का चुनाव

(१) राज्य सभा के सदस्यों के चुनाव—अनुच्छेद ८० के अनुसार राज्य-सभा के बारह सदस्य राष्ट्रपति द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से नामजद किये जाते हैं जो साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा में विशिष्ट ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव रखते हों।

शेष सदस्य, जिनकी संख्या अधिक से अधिक २३८ हो सकती है, राज्यों और १९५६ के संविधान के पश्चात केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि होते हैं।

(२) राज्यसभा में राज्यों और केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की संख्या संविधान की चौथी अनुसूची के अनुसार वितरित होती है। राज्यों के पुनर्गठन और संविधान के सातवें संशोधन के पूर्व प्रथम अनुच्छेद "ए" और "बी" वर्ग के राज्यों में राज्यसभा के निश्चित प्रतिनिधि विधान सभा के चुने हुए सदस्यों द्वारा समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल हस्तान्तरणीय मत से चुने जाते थे। प्रथम अनुसूची "सी" वर्ग के राज्यों के प्रतिनिधि संसद द्वारा पास किये गये कानून के अनुसार राज्यसभा के लिए चुने जाते थे। संशोधन के पश्चात सभी राज्यों में "ए" और "बी" वर्ग के राज्यों की प्रणाली अपनायी जाती है। "सी" वर्ग के राज्यों की प्रणाली केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों में लागू होती है।

लोकसभा के सदस्यों के चुनाव

सप्तम संशोधन के पूर्व लोक सभा के कुल सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या ५०० हो सकती थी जिनका चुनाव विविध राज्यों के मतदाताओं द्वारा होता था। लेकिन इस संशोधन के पश्चात से केवल राज्यों के चुनाव क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रूप में चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ५०० हो गयी। केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों से अधिक से अधिक २० और सदस्य संसद द्वारा निश्चित प्रणाली के अनुसार चुने जाते हैं। इस प्रकार सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या ५२० हो सकती है। (अनुच्छेद ८१) इनमें से अधिक से अधिक दो सदस्य "आंग्ल भारतीय" वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हो सकते हैं। (अनुच्छेद ३३१)।

लोक सभा के सदस्य के लिए चुनाव क्षेत्र निश्चित किया जाता है। क्षेत्र की सीमा जन-संख्या पर आधारित होती है। प्रत्येक क्षेत्र में लगभग समान जन-संख्या रहती है। इससे देश भर में लोकसभा के प्रति सदस्य पर पड़नेवाली जन-संख्या का अनुपात प्रायः समान होता है। प्रत्येक पांच लाख जनता पर अधिक से अधिक १ सदस्य हो सकता है। इसी आधार पर विभिन्न राज्यों में लोकसभा के सदस्यों की संख्या निश्चित होती है। राज्यों में लोकसभा के सदस्यों का चुनाव-क्षेत्र भी इसी ढंग से निश्चित होता है। (अनुच्छेद ८१)। प्रत्येक जनगणना के पूर्ण होने पर राज्यों के लोकसभा के सदस्यों की संख्या तथा राज्यों में उनके चुनाव-क्षेत्र समायोजित किये जाते हैं। (अनुच्छेद ८२)।

लोकसभा के ये सदस्य अपने चुनाव-क्षेत्र की जनता द्वारा बालिग मताधिकार के स्वतन्त्र प्रयोग से चुने जाते हैं। एक बार चुने सदस्य लोकसभा के कार्यकाल तक अपने पद पर रहते हैं। यह अवधि प्रायः पांच वर्ष की होती है। लेकिन विशेष परिस्थितियों में संकट-काल की घोषणा कर उस अवधि को एक वर्ष और बढ़ाया जा सकता है।

राज्यसभा का विघटन नहीं होता। पर हर दूसरे वर्ष के बाद शीघ्रातिशीघ्र कुल सदस्यों के एक-तिहाई अलग होते हैं। अलग होने का क्रम संसद ही निश्चित करती है। (अनुच्छेद ८३)।

संसद की सदस्यता के चुनाव में कोई भी भारतीय नागरिक जो ३० वर्ष से कम आयु का न हो (राज्यसभा के लिए ३५ वर्ष से कम आयु का न हो) उम्मीद-वार हो सकता है यदि वह संसद द्वारा लागू की गयी उम्मीदवारों की अन्य योग्य-ताओं को रखता हो।

संसद की दोनों सभाओं का कोई भी सदस्य निम्नलिखित परिस्थितियों में सदस्यता से वंचित कर दिया जाता है:—

(१) यदि वह संसद की दोनों सभाओं में सदस्य है तो उसे किसी एक सभा की सदस्यता त्यागनी होगी।

(२) यदि वह लोक सभा के साथ ही राज्य की विधान सभा में भी सदस्य हो तो राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित समय बीतते ही लोक सभा की सदस्यता से वह वंचित हो जायगा यदि इसी बीच में उसने राज्य विधान सभा की सदस्यता से त्याग-पत्र न दिया हो।

(३) यदि उस सदस्य ने अपने ही हाथों त्याग-पत्र लिखकर अध्यक्ष को दे दिया हो।

(४) यदि वह सभा की अनुमति बिना सत्रकाल में लगातार ६० दिनों तक सभी बैठकों में अनुपस्थित रहा हो।

(५) यदि वह भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के वैतनिक पद को ग्रहण करता है। लेकिन वे पद, जिन्हें सदस्यता के साथ ग्रहण करना संसद द्वारा मान्य हो उसे सदस्यता से वंचित नहीं करा सकते

(६) यदि उसकी मानसिक स्थिति किसी न्यायालय द्वारा अस्वस्थ घोषित कर दी गयी हो।

(७) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया घोषित हो।

(८) यदि वह भारत का नागरिक न रह गया हो अथवा उसने किसी विदेश की नागरिकता स्वतः प्राप्त कर ली हो।

(९) यदि वह संसद द्वारा बनाये गये किसी अन्य कानून के अंतर्गत सदस्यता के अयोग्य हो गया हो। (१०१ और १०२)

संसद के सदस्य की अयोग्यता का अन्तिम निर्णय राष्ट्रपति करते हैं। इस निर्णय में राष्ट्रपति चुनाव-आयोग की राय लेते हैं।

राज्य विधान-मण्डल के सदस्यों का चुनाव

कुछ राज्यों में विधान-मण्डल में दो सदन होते हैं और कुछ में एक ही होता है। विहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, मैसूर, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और जम्मू-काश्मीर में विधान-मण्डल के दो सदन हैं। एक को विधान परिषद और दूसरे को विधान-सभा कहते हैं। अन्य राज्यों में केवल विधान-सभा होती है।

विधान-सभा के सदस्यों का चुनाव

संविधान के अनुच्छेद १७० के अनुसार किसी भी राज्य विधान सभा में अधिक से अधिक ५०० सदस्य और कम से कम ६० सदस्य हो सकते हैं। इनका चुनाव राज्य में निश्चित चुनाव-क्षेत्रों की जनता द्वारा बालिग मताधिकार के प्रयोग से किया जाता है। चुनाव-क्षेत्र बनाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि राज्य के प्रत्येक क्षेत्र की जन-संख्या समान रहे और इस प्रकार राज्य भर में प्रति सदस्य पड़ने वाली जन-संख्या का अनुपात लगभग एक हो।

प्रत्येक जन-गणना के पश्चात राज्य सभा के कुल सदस्यों की संख्या तथा उनके चुनाव-क्षेत्र में संसद द्वारा निश्चित विधि के अनुसार परिवर्तन लाने की

व्यवस्था भी संविधान में की गयी है। यह परिवर्तन आगामी चुनाव से लागू होता है।

विधान परिषद के सदस्यों का चुनाव

सन् १९५६ के संशोधन के पश्चात से विधान परिषदों में विधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या के एक-तिहाई सदस्य रखे जाते हैं। इसके पूर्व इसके सदस्यों की संख्या विधान सभा के सदस्यों की चौथाई होती थी। लेकिन किसी भी स्थिति में यह संख्या ४० से कम नहीं रहती।

विधान परिषद के सदस्यों का चुनाव निम्नक्रम से प्रायः किया जाता है :—

(१) कुल सदस्यों के लगभग तिहाई डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड और इस प्रकार की अन्य स्थानीय संस्थाओं (जिनकी व्याख्या संसद द्वारा होती है) के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं।

(२) कुल संख्या के लगभग $\frac{1}{12}$ राज्य के उन निवासियों द्वारा चुने जाते हैं जो भारत के किसी विश्वविद्यालय के पिछले तीन वर्षों से स्नातक हों अथवा संसद द्वारा निर्धारित स्नातक के समकक्ष कोई अन्य योग्यता कम से कम उतने ही समय से रखते हों।

(३) $\frac{1}{12}$ के लगभग उन व्यक्तियों द्वारा चुने जाते हैं जो संसद या संसद के किसी कानून द्वारा विहित राज्य की शिक्षा-संस्थाओं में कम से कम तीन वर्षों से अध्यापन कार्य कर रहे हों। शिक्षा-संस्था माध्यमिक पाठशाला से निम्नस्तर की न हो।

(४) लगभग एक-तिहाई विधान सभा के सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। इसमें से वे ही व्यक्ति चुने जा सकते हैं जो विधान सभा के सदस्य न हों।

(५) शेष सदस्य साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और समाज सेवा में विशेष जानकारी या व्यावहारिक अनुभव रखने वालों में से राज्यपाल द्वारा मनोनीत होते हैं।

प्रथम तीन क्रमों से चुने जाने वाले लोगों के चुनाव के लिए संसद द्वारा विहित चुनाव-क्षेत्र बनाये जाते हैं उनमें मतदान का अधिकार रखने वाले लोग चुनाव के लिए मत देते हैं। चौथे प्रकार के चुनाव में अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत से चुनाव होता है।

विधान सभा में आंग्ल भारतीयों का प्रतिनिधित्व कराने के लिए संविधान के अनुच्छेद ३३३ के अनुसार राज्यपाल उनमें से कुछ को मनोनीत कर सकते हैं।

विधान सभा की सदस्यता के लिए कोई भी व्यक्ति जो भारतीय नागरिक हो, २५ वर्ष से कम आयु का न हो तथा संसद द्वारा निश्चित अन्य योग्यताओं को पूर्ण करता हो, चुनाव में उम्मीदवार खड़ा हो सकता है। विधान परिषद की सदस्यता का उम्मीदवार होने के लिए अन्य शर्तों के साथ आयु ३० वर्ष से कम न होनी चाहिए।

विधान सभा का प्रत्येक सदस्य सभा के विघटन तक अपने पद पर रहता है। यह अवधि प्रायः ५ वर्ष होती है यदि विशेष परिस्थितियों के कारण उसमें कुछ वृद्धि न ला दी गयी हो। यह वृद्धि भी अधिक से अधिक एक वर्ष की हो सकती है।

विधान परिषद विघटित नहीं होती। केवल उसके कुल सदस्यों की संख्या के तिहाई लोग हर दूसरे वर्ष के बाद संसद द्वारा बनाये इस संबंध के कानून के अनुसार अलग होते हैं। रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए पुनः चुनाव होते हैं।

संसद के सदस्यों की तरह विधान सभा और परिषद के सदस्यों को भी निम्न परिस्थितियों में अपना पद रिक्त करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

(१) यदि वे राज्य के दोनों सदनों में सदस्य चुन लिये गये हों तो किसी एक सदन से उन्हें हटना पड़ता है।

(२) यदि कोई व्यक्ति एक ही साथ कई राज्यों की सभाओं में सदस्य चुन लिया जाता है और राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित अवधि के भीतर एक को छोड़कर शेष सभी से त्याग-पत्र नहीं देता तो अवधि बीतने पर उसकी सभी राज्यसभाओं की सदस्यता समाप्त मानी जाती है।

(३) यदि वह अपना त्याग-पत्र स्वयं लिख कर सभा के अध्यक्ष को देता है।

(४) यदि वह भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत किसी वैतनिक पद को ग्रहण कर लेता है; लेकिन वे वैतनिक पद जिन्हें ग्रहण करने की अनुमति विधान सभा द्वारा पहले से दी जा चुकी हो किसी भी सदस्य को अपनी सदस्यता से वंचित नहीं कर सकते।

(५) यदि कोई सदस्य किसी सक्षम न्यायालय द्वारा अस्वस्थ मस्तिष्क का घोषित कर दिया गया हो।

(६) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया हो।

(७) यदि वह भारत का नागरिक न हो अथवा उसने स्वेच्छा से विदेश की नागरिकता प्राप्त कर ली हो।

(८) यदि वह संसद के किसी कानून के अनुसार सदस्य होने के अयोग्य हो गया हो।

किसी भी सदस्य को उसकी सदस्यता से वंचित करने का प्रश्न राज्यपाल द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। राज्यपाल का निर्णय ही अन्तिम होगा लेकिन इस निर्णय पर पहुंचने के लिए चुनाव-आयोग की राय माननी होती है।

लोकसभा अथवा राज्य सभा में किसी भी सदस्य के हटने से जो स्थान रिक्त होता है उसकी पूर्ति के लिए संबंधित निर्वाचन-क्षेत्र में उपनिर्वाचन (बाई-इलेक्शन) कराया जाता है। उपनिर्वाचन से आये सदस्य आगामी आम चुनाव (साधारण निर्वाचन) तक ही पद पर रहते हैं।

लोकसभा और राज्य विधान सभा के सदस्यों में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों के लिए जगहें सुरक्षित हैं। किसी राज्य के लिए लोकसभा के जितने सदस्य निश्चित होते हैं उनका वह अनुपात अनुसूचित जातियों और जन-जातियों के लिए सुरक्षित कर दिया जाता है जो उनकी संख्या सम्पूर्ण राज्य की कुल संख्या से रखती है। (अनुच्छेद ३३०)। इसी प्रकार १९५६ वाले संशोधन के पश्चात केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों में भी लोकसभा के सदस्यों में भी इन जातियों और जन-जातियों के प्रतिनिधियों के लिए जगहें सुरक्षित की गयी हैं।

राज्य-विधान सभाओं में भी कुल सदस्यों का कुछ अंश अनुसूचित जातियों और जन-जातियों के प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित हैं। केवल आसाम के जन-जाति-क्षेत्रों की जन-जातियों में यह लागू नहीं होता। आसाम के स्वायत्त जिलों के लिए विधान सभा में जगहें सुरक्षित हैं। आसाम को छोड़कर अन्य राज्यों में कुल जन-संख्या का जो अनुपात अनुसूचित जातियों और जन-जातियों की संख्या से आता है उसी अनुपात में कुल सदस्यों का अंश अनुसूचित जन-जातियों और जन-जातियों के लिए सुरक्षित रहता है। आसाम राज्य में स्वायत्त शासन वाले जिलों के लिए विधान सभा के सदस्यों की कुल संख्या का कम से कम वही अनुपात रहता है, जो राज्य की कुल जन-संख्या से उस जिले की जन-संख्या का होता है। किसी राज्य में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन-जातियों में कौन-कौन जातियां आयेंगी, इसका निश्चय राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। राज्य के राज्यपालों से इस विषय पर सलाह ली जाती है। जन-जातियों की अनुसूची के सम्बन्ध में संसद द्वारा भी नये नियम निकाले जा सकते हैं (अनुसूची ३४१, ३४२)।

चुनाव का प्रशासन यन्त्र

राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, संसद के दोनों सदनों के सदस्यों तथा राज्य विधान मण्डलों के सदस्यों का चुनाव कराने के लिए आवश्यक निर्वाचक सूचियों को तैयार

कराने तथा चुनाव का संचालन, निरीक्षण और नियन्त्रण करने के लिए चुनाव-आयोग की स्थापना हुई है। इस आयोग में एक प्रमुख चुनाव कमिश्नर तथा कुछ दूसरे चुनाव कमिश्नर होते हैं जिनकी संख्या राष्ट्रपति द्वारा निश्चित की जाती है। प्रमुख कमिश्नर और अन्य कमिश्नरों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करते हैं। कमिश्नरों की नियुक्ति के बाद प्रमुख कमिश्नर आयोग का अध्यक्षपद ग्रहण करते हैं। प्रत्येक साधारण चुनाव अथवा राज्य के विधान परिषद के दो-वर्षीय चुनाव के पूर्व चुनाव-आयोग की राय से राष्ट्रपति प्रादेशिक चुनाव कमिश्नर नियुक्त कर सकते हैं जो अपने प्रदेश में चुनाव-आयोग के कार्यों के विधिवत सम्पादन में योग देते हैं।

चुनाव-आयोग के कमिश्नरों और प्रादेशिक कमिश्नरों की कार्यविधि तथा पद की शर्तों को संसद द्वारा बनाये गये कानून के अनुसार राष्ट्रपति निश्चित करते हैं। लेकिन नियुक्ति के पश्चात मुख्य-चुनाव-कमिश्नर की सेवा-शर्तें इस प्रकार नहीं बदली जा सकतीं जिससे उसका अहित हो। उसको पद से हटाने के लिए वही क्रम लागू होता है जो सर्वोच्च न्यायालय के जज को हटाने के लिए लागू किया जाता है। किसी दूसरे कमिश्नर को प्रमुख कमिश्नर की सिफारिश पर ही हटाया जा सकता है।

चुनाव कराने के लिए आयोग द्वारा जितने कर्मचारियों की मांग राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल से की जाती है उसकी पूर्ति अनिवार्यतः करनी होती है (अनुच्छेद ३२४)।

प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए साधारण निर्वाचक सूची होती है जिसमें सभी मतदाताओं का नाम होता है। धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर न तो किसी व्यक्ति को छोड़ा जा सकता है और न तो किसी के लिए विशेष सूची ही तैयार की जाती है (अनुच्छेद ३२५)।

लोकसभा अथवा राज्य विधान सभाओं का चुनाव स्वतन्त्र बालिग मताधिकार के आधार पर होता है जिसमें किसी नियत दिन को २१ वर्ष या अधिक आयु रखने वाले नागरिकों को मत देने का अधिकार है। केवल वे ही व्यक्ति जो भारत के निवासी न होने से अथवा मानसिक अस्वस्थता अथवा अपराध से संविधान के अंतर्गत अथवा विधान सभा द्वारा बनाये किसी कानून के अंतर्गत मताधिकार से वंचित हैं, मत नहीं दे सकते (अनुच्छेद ३२६)।

लोकसभा के चुनाव के संबंध में आवश्यक विषयों जैसे निर्वाचक सूची की तैयारी निर्वाचन क्षेत्र का निश्चय आदि पर संसद कानून बना सकती है। इस प्रकार

संविधान और संसदीय कानून के अंतर्गत राज्य विधान सभाओं के चुनाव के संबंध में आवश्यक विषयों पर विधानसभा कानून बना सकती हैं (अनुच्छेद ३२३ और ३२८)।

निर्वाचन क्षेत्र अथवा लोकसभा या विधान सभा के किसी निर्वाचन के सम्बन्ध में यदि किसी प्रकार का वाद-विवाद या संशय हो तो उसका निपटारा किसी न्यायालय में नहीं होता बल्कि निर्वाचन-कानून द्वारा नियत अधिकारी के यहां ही इसका आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया जा सकता है (अनुच्छेद ३२९)।

संविधान के उपर्युक्त तथ्यों से निर्वाचन पद्धति का विस्तृत विवरण मिलता है। इन्हीं नियमों के अनुसार संविधान लागू होने के बाद से अब तक देश में दो साधारण चुनाव बड़ी सफलतापूर्वक कराये गये। पहला चुनाव सन १९५१-५२ में और दूसरा १९५६-५७ में विधिवत सम्पन्न हुआ।

तृतीय खण्ड

लोकतन्त्र-भारत का प्रथम साधारण चुनाव

(१९५१-५२)

प्रारम्भिक प्रबन्ध

जैसा कि पहले बतलाया गया है स्वतन्त्रता के पश्चात शीघ्रातिशीघ्र चुनाव कराने का प्रयास संविधान सभा करने लगी थी। निर्वाचकों की नामावली तैयार करने का आदेश भी राज्य-सरकारों को दे दिया गया था। ८ जनवरी, १९४९ को ही यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि सभी राज्य-चुनाव-सम्बन्धी पूरी तैयारी शीघ्र करें ताकि १९५० में नये संविधान के लागू होने पर चुनाव कराया जा सके। पूर्ण संविधान अपनाने के पूर्व २६ नवम्बर, १९४९ को ही नागरिकता तथा चुनाव-आयोग सम्बन्धी अनुच्छेद लागू कर दिये गये। २५ जनवरी को चुनाव-आयोग की स्थापना राष्ट्रपति द्वारा की गयी। श्री सुकुमार सेन आयोग के प्रमुख कमिश्नर नियुक्त किये गये। इन्होंने २१ मार्च से कार्य करना प्रारम्भ किया।

निर्वाचन कानून न बनने तथा अनुसूचित जातियों और जन-जातियों का निश्चय न होने से निर्वाचक नामावली ठीक तैयार न हो सकी थी। विभिन्न राज्यों में जन-संख्या का निश्चय न होने से निर्वाचन-क्षेत्र भी निर्मित नहीं हो सका था इसलिए आयोग ने चुनाव की तिथि टालने का सुझाव दिया। तदनुसार १९५१ के बसन्त में चुनाव करने का निश्चय हुआ लेकिन तब तक भी चुनाव की तैयारी न हो सकी। निर्वाचकों की नामावली और निर्वाचन-क्षेत्र इन दोनों की रचना में बड़ी कठिनाई हुई। राज्यों द्वारा पहली नामावली संविधान सभा के प्रस्ताव के अनुसार तैयार करायी गयी थी। उसमें पहली जनवरी, १९४९ को २१ वर्ष की आयुवाले वे लोग जो १ अप्रैल, १९४७ से ३१ मार्च १९४८ तक १८० दिनों तक भारत में रहे हों, निर्वाचकों की नामावली में सम्मिलित किये गये। लेकिन जनता प्रतिनिधित्व अधिनियम १९५० के अनुसार उपर्युक्त आधार में परिवर्तन कर दिया गया और वे व्यक्ति जो १ मार्च, १९५० को २१ वर्ष के थे तथा १ अप्रैल, १९४७ से

३१ दिसम्बर, १९४९ के भीतर १८० दिनों तक भारत में रहे हों उन्हें भी निर्वाचक नामावली में सम्मिलित करना था। इस कारण पहले तैयार की हुई नामावलियों में संशोधन करना पड़ा। अनुसूचित जातियों और जन-जातियों का निश्चय विलम्ब से किये जाने के कारण तथा विस्थापित जनों के दुहरे लेखे से भी नामावलियों को शुद्ध करने में समय लगा। एक बार प्रकाशन ही पूर्ण शुद्ध होगा ऐसा सम्भव नहीं था। इसलिए प्रथम प्रकाशन के पश्चात भूलों को सुधारने और छूटे हुए नामों को चढ़ाने की भी व्यवस्था करनी पड़ी थी। सभी राज्यों में एक ही गति से काम नहीं हो पाता था। इससे निर्वाचक-नामावली की तैयारी में ही काफी समय लगा। निर्वाचक क्षेत्र का निश्चय करने के लिए जन-संख्या का निर्धारण आवश्यक था। इसके लिए संविधान के प्रावधान के अनुसार १९५० में आदेश निकाला जा सका। पहली मार्च १९५० के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों की जन-संख्या आंकी गयी। उसके पश्चात निर्वाचन क्षेत्रों का निश्चय सम्भव हो सका।

अधिकांश जनता के अशिक्षित होने से चुनाव का क्रम भी ऐसा रखना पड़ा जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने सहज-ज्ञान से इच्छानुसार उम्मीदवार को मत दे सके। मत-पत्र पर उम्मीदवारों के नाम के सामने निशान बनाने वाली पद्धति यहां उपयोगी न थी। प्रत्येक उम्मीदवार के लिए अलग पेटी रखना आवश्यक था। एक पेटी को दूसरे से अलग समझाने के लिए केवल रंग का प्रयोग सम्भव नहीं था, क्योंकि चुनाव में भाग लेने वाले दलों और स्वतन्त्र उम्मीदवारों की संख्या बहुत अधिक थी। इसलिए प्रत्येक के लिए चुनाव-चिन्ह निश्चित किये गये। चुनाव-चिन्हों के निश्चय में भी धार्मिक तथा अन्य मनोवृत्तियों से सम्बन्धित विषयों को बचाना था। देश के प्रमुख राजनैतिक दलों से सलाह लेकर आयोग ने कुल २६ चिन्ह निश्चित किये। उसमें पहले चौदह अखिल भारतीय दलों को दिये गये और शेष १२ राज्य दलों तथा स्वतन्त्र उम्मीदवारों के लिए रखे गये। अखिल भारतीय दलों के चुनाव-चिन्ह लोकसभा और राज्य-विधान-सभा दोनों उम्मीदवारों के लिए समान रखे गये थे।

मत-पत्र लोक-सभा और राज्यसभा के लिए कुछ विभिन्नता रखते हुए टिकट के समान थे। उनमें इन्डिया-इलेक्शन-कमीशन छोटे-छोटे अक्षरों में छपा था। एक राज्य में व्यवहृत टिकट को दूसरे से भिन्न बनाने के लिए उन पर राज्य के नाम के दो अक्षर छपे होते थे जैसे उत्तर प्रदेश के लिए यू० पी०, बिहार के लिए बी० आर० आदि। इन्हीं मत-पत्रों को पेटियों में गिराना था।

मत-पत्रों, चुनाव-चिन्हों और पेटियों की ऐसी समुचित व्यवस्था करनी थी जिससे भारतीय नागरिक स्वतन्त्र रूप से मत दे सकें और चुनाव में किसी प्रकार भी गड़बड़ी न हो। करोड़ों निर्वाचकों को मत-दान का प्रबन्ध कराना भी कठिन था। इसके लिए चार प्रादेशिक चुनाव-कमिश्नरों की व्यवस्था की गयी। प्रत्येक राज्य में चुनाव चलाने के लिए प्रमुख-निर्वाचन-अधिकारी की नियुक्ति की गयी। हर चुनाव-क्षेत्र में निर्वाची-पदाधिकारी नियुक्त किये गये। मतदान केन्द्रों में अध्यासी पदाधिकारी और उसकी सहायता के लिए मतार्थी पदाधिकारी नियुक्त किये गये।

चुनाव क्रम में सम्पूर्ण भारत में समानता रहे, इसके लिए एक पुस्तिका चुनाव-आयोग द्वारा प्रकाशित करायी गयी। इसमें चुनाव के लिए मतदान-पद्धति का पूर्ण विवरण दिया गया था। सभी राज्यों में इसका व्यापक प्रचार हुआ। राज्य के निर्वाची पदाधिकारियों और अध्यासी पदाधिकारियों को मतदान-पद्धति का प्रदर्शन कराया गया। पिछड़े राज्यों, विशेषत: देशी राज्यों में, रियासतों में मतदान-पद्धति का पूर्वाभ्यास अधिक सतर्कता से कराया गया।

चुनाव संचालन

इस प्रकार दिसम्बर, सन् १९५१ में प्रथम चुनाव प्रारम्भ हुआ। अधिकांश राज्यों में लोकसभा और राज्य-विधान-सभा के चुनाव जनवरी, १९५२ तक हुए। हिमांचल प्रदेश में सर्दी के कारण अक्टूबर, १९५१ में ही चुनाव हो गया।

उत्तर प्रदेश में फरवरी तक चुनाव हुआ। राज्य-सभा और विधान परिषद के सदस्यों तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव उसी वर्ष मार्च से मई महीने तक हुए। लोक-सभा और विधान-सभाओं के सदस्यों के चुनाव में देश भर में लगभग १,३२,५६० मतदान केन्द्र और १,९६०,८४ मतदान मण्डप बनाये गये थे।[१] लोक-सभा और राज्य-विधान-सभाओं की सदस्यता के लिए क्रमश: १८७४ और १५,३६५ उम्मीदवार चुनाव में खड़े हुए थे। विभिन्न दलों की दृष्टि से इनका विवरण आगे दिया गया है:—

१. देखिए प्रथम चुनाव पर प्रकाशित इलेक्शन कमीशन की रिपोर्ट-अध्याय १४, पृष्ठ १२४।

राजनैतिक दल	लोकसभा के लिए उम्मीदवार	राज्यविधान सभा के लिए उम्मीदवार
कांग्रेस	४७९	३,१९२
सोशलिस्ट	२५६	१,८०२
कम्युनिस्ट पार्टी	४९	४६४
किसान-मजदूर-प्रजा पार्टी	१४६	१,००६
जन-संघ	९३	७१८
शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन	३४	२४१
राम-राज्य-परिषद	६२	३४२
कृषिकार लोक पार्टी	२९	१३९
हिन्दू महासभा	३१	२११
(फारवर्डब्लाक) (मार्क्सिस्ट)	२४	१५८
,, (रिवोल्यूशनरी)	६	६२
रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी	८	५८
,, कम्युनिस्ट पार्टी	१	१३
बॉलशेविक पार्टी ऑव इण्डिया	१	१४
राज्यों के स्थानीय दल	१३१	१,०४७
स्वतन्त्र	५२४	५,८९२
योग	१,८७४	१५,३६१

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रथम चुनाव में खड़े हुए कुल उम्मीदवारों में सबसे अधिक प्रतिशत स्वतन्त्र उम्मीदवारों का था। उसके बाद कांग्रेस उम्मीदवारों का स्थान था लेकिन हार सबसे अधिक स्वतन्त्र उम्मीदवारों की हुई। इन सभी में से लोक-सभा के लिए खड़े ७४८ उम्मीदवारों और राज्य-विधान-सभा के लिए खड़े ८,३६२ उम्मीदवारों की जमानतें कम मत मिलने के कारण जब्त हुईं। जमानत-जब्ती सब से कम कांग्रेस उम्मीदवारों की तथा सब से अधिक स्वतन्त्र उम्मीदवारों की हुई।

लोकसभा के लिए कुल ४८९ सदस्य चुने गये। इनमें ३६४ राष्ट्रीय कांग्रेस के, १२ सोशलिस्ट के, ९ किसान मजदूर प्रजा पार्टी के, १६ कम्युनिस्ट पार्टी के ३ जन-संघ के और ८५ अन्य दलों के तथा स्वतन्त्र थे। बाद में १० मनोनीत

सदस्य सम्मिलित किये गये जिनमें ६ जम्मू-काश्मीर से, १ आसाम की जन-जातियों से, १ अण्डमन निकोबार से तथा २ आंग्ल भारतीयों के प्रतिनिधि थे।

विविध राज्यों की विधान-सभाओं में कांग्रेस उम्मीदवार बहुत अधिक संख्या में विजयी हुए। केवल ट्रावन्कोर-कोचीन में किसान मजदूर-प्रजा-पार्टी और सोशलिस्ट-पार्टी के उम्मीदवारों की अधिक विजय हुई थी। कम्युनिस्ट उम्मीद-वारों को बंगाल, आंध्र, मद्रास और ट्रावनकोर-कोचीन में कुछ सफलता मिली थी। लेकिन कांग्रेस की विजय पहले बताये एक राज्य को छोड़कर शेष सभी राज्यों में सर्वोपरि थी और उनमें कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बनाये गये।

लोक-सभा और राज्य-विधान-सभाओं के लिए किये गये चुनाव के पश्चात राज्य-सभा और विधान-परिषद के सदस्यों का चुनाव संविधान में उल्लिखित पद्धति के अनुसार हुआ। राज्य-सभा में २०४ सदस्य चुने गये और १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये गये। विधान-परिषदें केवल सात राज्यों—बिहार, बम्बई, मद्रास, पंजाब, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और मैसूर—में थीं। उन्हीं में इनके सदस्यों का चुनाव हुआ। मार्च में ये चुनाव प्रारम्भ हुएमई तक इनका परिणाम घोषित कर दिया गया। राज्य-सभा और विधान-परिषद के विजेताओं में कांग्रेस का ही बाहुल्य रहा।

अप्रैल में ही राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का चुनाव संवैधानिक पद्धति के अनुसार हुआ। राष्ट्रपति पद के लिए पांच उम्मीदवार थे:—डा० राजेन्द्र प्रसाद, प्रो० के० टी० शाह, श्री लक्ष्मण गणेश थाट्टे, श्री हरी राय और श्री कृष्ण कुमार चटर्जी। इनमें डा० राजेन्द्र प्रसाद जी बहुत अधिक मत से विजयी हुए। इस प्रकार चुनाव की विधिवत प्रक्रिया से डा० राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति बनाये गये। उपराष्ट्रपति के पद के लिए दो उम्मीदवार थे—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और जनाब शेख खादिर हुसेन। शेख महोदय का नाम निर्देशन-पत्र दोषपूर्ण हो जाने से डा० राधाकृष्णन ही निर्विरोध उपराष्ट्रपति चुने गये।

प्रजातन्त्र भारत का यह प्रथम चुनाव बड़ी शान्ति और सुव्यवस्था के साथ सम्पन्न हुआ। राजनैतिक दलों ने इसके नियमों की प्रतिष्ठा निभाने में पर्याप्त योग दिया। भारतीय जनता ने, अपढ़ होते हुए भी अपनी सहिष्णुतापूर्ण संस्कृति के अनुकूल ही बड़ी शान्ति से अपने वयस्क मताधिकार का प्रयोग किया। लाखों मतदान केन्द्रों में से केवल ९३ केन्द्रों का ही चुनाव मौसम या अन्य दोषों के कारण स्थगित करना पड़ा।

इस चुनाव की तैयारी से लेकर सम्पन्नता तक कुल व्यय लगभग १० करोड़ ८५ लाख रुपये हुए। इसमें ५ करोड़ रुपये के लगभग भारत सरकार का हिस्सा था और शेष विभिन्न राज्यों को वहन करना पड़ा था।[१] चुनाव के पश्चात् चुनाव-पद्धति तथा उम्मीदवार से संबंधित दोषों का उल्लेख करते हुए ३३८ प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए। इनमें ६ वापस ले लिये गये। १८ अस्वीकृत हो गये और शेष चुनाव-न्यायाधिकरणों (इलेक्शन ट्रिब्युनल) के सम्मुख उचित निर्णयों के लिए उपस्थित किये गये। सब में केवल २७ प्रतिद्वन्द्वी ही अवैधानिक और भ्रष्ट पद्धतियां अपनाने के दोषी ठहराये जा सके। चुनाव में भाग लेने वाले उम्मीदवारों की संख्या और लोक-सभा तथा विधान-सभाओं की सदस्यता की विशालता देखते हुए वास्तविक दोष की मात्रा नगण्य प्रतीत होती है।

ये तथ्य और आंकड़े हमारे प्रथम चुनाव की सफलता के द्योतक हैं। इसका शान्ति और सुव्यवस्थापूर्ण संचालन हमारे लिए गौरव का विषय है। इसी से प्रभावित हो हमारे प्रमुख चुनाव-आयुक्त, श्री सुकुमार सेन, को सूडान सरकार ने अपने यहां चुनावों का सफल संचालन करने के लिए आमंत्रित किया था।

भारत का द्वितीय आम-चुनाव (१९५७)

पहले चुनाव के ठीक पांच वर्ष बाद दूसरा चुनाव जनवरी से जून १९५७ तक कराया गया। इस चुनाव की तैयारी में पिछले अनुभवों के कारण विशेष कठिनाई नहीं हुई। लेकिन राज्यों का पुनर्गठन हो जाने से निर्वाचन-क्षेत्रों के निश्चय में कुछ समय अवश्य लगा। निर्वाचकों की नामावली १९५६ के आधार पर चुनाव-आयोग की देख-रेख में संशोधित करायी गयी। राज्य-सभा में निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या २२० और लोक-सभा में ५०० रखी गयी। राज्य-सभा में १२ और लोक-सभा में ५ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होने वाले थे।

इस बार राज्य-विधान-परिषदों की संख्या भी २ अधिक हो गयी। जम्मू काश्मीर और मध्यप्रदेश में जहां इनकी व्यवस्था पहले नहीं थी इनकी रचना राज्य पुनर्गठन के क्रम में की गयी थी।

सभी पदों पर सदस्यों के चुनाव की पद्धति पूर्ववत रही। लेकिन मत-पत्र

१. देखिए इलेक्शन कमीशन रिपोर्ट भारत के प्रथम इलेक्शन पर, १९५५ अध्याय २५, पृष्ठ २०२।

के रूप में पहले की अपेक्षा थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया। चुनाव के लिए अखिल देशीय राजनैतिक दल की मान्यता केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और जनसंघ को प्राप्त थी। अन्य दलों को एक या कुछ राज्यों में मान्यता प्रदान की गयी थी। राज्यों के लिए मान्य राजनैतिक दलों की संख्या पहले चुनाव में ५९ थी लेकिन इस चुनाव में इसे घटा कर १९ कर दिया गया।

लोक-सभा की ४८८ जगहों के लिए चुनाव ३१ मार्च १९५७ तक समाप्त हो गये। कांगड़ा, मंडी, महेसू, चम्बा, जम्मू-काश्मीर के प्रतिनिधियों का चुनाव जून में हुआ। मार्च तक के चुनावों में १५०० उम्मीदवार खड़े थे। उनमें कांग्रेस के १२ उम्मीदवार निर्विरोध चुन लिये गये। ४८८ में से ३६५ राष्ट्रीय कांग्रेस के, २७ कम्युनिस्ट पार्टी के, १९ प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के, ४ भारतीय जन-संघ के, ४२ स्वतन्त्र और ३१ अन्य दलों के थे।

१३ राज्य-विधान-सभाओं के २९०८ निर्वाचन क्षेत्रों में से २९०१ क्षेत्रों के चुनाव ३१ मार्च १९५७ तक समाप्त हो गये थे। जम्मू और काश्मीर तथा शेष क्षेत्रों के चुनाव जून तक सम्पन्न हुए। मार्च तक हुए चुनाव के अन्तर्गत ४७ सदस्य, जिनमें ४३ कांग्रेस के उम्मीदवार और शेष स्वतन्त्र थे, निर्विरोध चुन लिये गये। केरल को छोड़कर शेष सभी राज्यों में कांग्रेस सदस्य सबसे अधिक संख्या में विजयी हुए। केरल में बाहुल्य कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों का रहा। उड़ीसा में गणतन्त्र परिषद की विजय कांग्रेस से थोड़ी ही कम थी। लेकिन केरल को छोड़कर शेष सभी राज्यों में कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल बना। केरल में कम्युनिस्टों ने मन्त्रि-मण्डल बनाया। मणिपुर और त्रिपुरा की क्षेत्रीय परिषद के लिए भी चुनाव कराया गया।

राज्य-सभा और विधान-परिषदों में सदस्यों के निकलने और पुनः चुने जाने का क्रम संवैधानिक रीति से होता रहा है। इसकी सभी जगहों के लिए नये चुनाव की आवश्यकता नहीं थी।

मई में राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का चुनाव हुआ। राष्ट्रपति पद के लिए इस बार ३ उम्मीदवार थे—डा० राजेन्द्रप्रसाद, चौधरी हरीराम और श्री नागेन्द्र-नारायण दास। डा० राजेन्द्रप्रसाद पुनः विजयी हुए और राष्ट्रपति बनाये गये। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् निर्विरोध उपराष्ट्रपति चुने गये। इस बार उपराष्ट्र-पति पद के लिए कोई दूसरा उम्मीदवार न था।

भारत का दूसरा चुनाव पहले की अपेक्षा और अधिक सुव्यवस्था के साथ

सम्पन्न हुआ। पूर्ण प्रजातन्त्र के अंतर्गत कम्युनिस्ट नेताओं का विजयी होना और भारत संघ के एक राज्य में उनके द्वारा मन्त्रि-मण्डल चलाया जाना यहाँ के चुनाव की निष्पक्षता का द्योतक है। इस माध्यम से ही भारत-भूमि पर पूर्ण प्रजातन्त्र और साम्यवाद के दो विषम सिद्धान्तों के अनुयायियों की सहयोगपूर्ण प्रगति सम्भव हो सकी है। विश्व के अन्य प्रजातन्त्रवादी और साम्यवादी दोनों प्रकार के देशों के लिए यह गठबन्धन, एक पहेली-सा लगता है। लेकिन भारतीयों के लिए यहाँ सहअस्तित्व का एक साधारण नमूना है, जिसकी व्यावहारिकता का प्रचार यहां के नेता स्वतन्त्रता मिलने के बाद से ही करते रहे हैं।

भारत में चुनावों का अपूर्व सफल प्रयोग

इतने बड़े पैमाने पर चुनावों का सफल संचालन भारत के इतिहास में ही नहीं वरन् विश्व के इतिहास में अपूर्व रहा है। इसकी सफलता देश के आकार और जन-संख्या की विशालता तथा अशिक्षा के प्रावल्य को देखते हुए चमत्कारपूर्ण लगती है। देश का विशाल जन-समूह (लगभग ३० करोड़) लगभग ६ लाख गाँवों में रहता है जो १२ लाख वर्ग मील में फैले हैं। कुल जन-संख्या ३६ करोड़ से भी अधिक है। इनमें पढ़ों की संख्या १७ प्रतिशत से भी कम है। इतने बड़े अशिक्षित जन-समूह में चुनाव के सफल प्रयोग का आश्चर्यमय लगना स्वाभाविक है। लेकिन यदि भारत की शान्तिपूर्ण, अहिंसात्मक और प्रजातन्त्रात्मक प्राचीन परम्परा को दृष्टि में रखा जाय तो चुनाव की सफलता बहुत सामान्य लगती है। भारतीय संस्कृति का प्रसार ही लोकतन्त्र सिद्धान्तों पर हुआ है, फिर लोकतन्त्र के व्यावहारिक रूप चुनाव की सुव्यवस्था में योग देना शान्तिप्रिय भारतीयों से आशान्वित है। देश की शासन-नीति निर्धारित और संचालित करने वाली लोक-सभा और विधान-सभा के सदस्यों को चुनने का अवसर अपढ़ और विपन्न ग्रामीणों में भी "अपने देश में अपना राज" की भावना जागृत कर देती है।

भारतीय चुनावों की सफलता भारतवासियों की शान्ति और लोकतन्त्र के प्रति अनुराग पर ही नहीं अवलम्बित है बल्कि चुनाव-प्रशासन-यन्त्र की कुशलता पर भी बहुत कुछ निर्भर है। योग्य और अनुभवी चुनाव-आयुक्त के निरीक्षण में सुसंगठित और संचालित चुनाव-प्रशासन-यंत्र की सहायता से चुनाव का कार्य और सरल हो जाता है। सम्पूर्ण देश में समान पद्धति और कुशलता अपनायी जाती है। हमारे राजनैतिक दलों और उनके कार्यकर्त्ताओं का सहयोग भी चुनाव के

सफल संचालन में सहायक हुआ है। भारत के उग्र साम्यवादी दल भी चुनाव के नियमों की मर्यादा रखते हैं और उसे शान्तिपूर्ण रीति से चलने में योग देते हैं।

लेकिन अभी भारतीय जनता अशिक्षा और अज्ञान के कारण समूह-प्रवृत्तियों से ही प्रभावित रहती है; इसलिए उचित व्यक्तियों का चुनाव सभी परिस्थितियों में सम्भव नहीं हो पाता। योग्य सदस्यों का विधान और लोक-सभाओं में अभाव लोकतन्त्र के उचित संचालन में बाधक बन सकता है। अतएव पर्याप्त जन-जागृति होने तक राजनीतिक दलों को ही अपने उम्मीदवार निश्चित करने में पर्याप्त सतर्कता बरतनी चाहिए। इससे अयोग्य और अनैतिक व्यक्तियों को जनमत प्राप्त करने तथा विधान और लोक-सभाओं में चुने जाने का अवसर कम मिलेगा। जनता को अपना मत निर्धारित करने में सहायता पहुँचाने के लिए राजनैतिक दलों को अपना घोषणा-पत्र विस्तृत रूप में प्रकाशित कराना चाहिए। घोषणा-पत्र में वर्णित कार्य-क्रमों को देखते हुए जनता उचित दल के सदस्यों का चुनाव करने में सफल हो सकती है। इन सावधानियों से भारतीय लोकतन्त्र का व्यावहारिक रूप चुनाव और भी उपादेय हो सकता है।

चौथा अध्याय

देशी रियासतों का विलयन

सुसंगठित भारत—प्रगति के लिए अनिवार्य

देश में प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियों का प्रसार संविधान और उसके व्यावहारिक रूप चुनाव के व्यापक प्रयोग से सम्भव है लेकिन उनकी स्थिरता सम्पूर्ण राष्ट्र को सुसंगठित रखे बिना कठिन है। ३ जून, १९४७ को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री द्वारा भारत को स्वतन्त्र बनाने की घोषणा के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों दोनों को साथ-साथ स्वतंत्र करने की चर्चा थी। ऐसी व्यवस्था कार्यान्वित होने पर देश भर में फैली छोटी-बड़ी ५६५ रियासतें पूर्ण राजतन्त्र के सिद्धान्तों पर शासित होने लगतीं। केवल ब्रिटिश प्रान्त ही गणतन्त्र का व्यावहारिक प्रयोग कर सकते थे। लेकिन राजतन्त्र की स्वेच्छाचारिता कहाँ तक अपनी सीमाओं में सन्तुष्ट रह सकती थी—यह तथ्य सर्वथा संदिग्ध ही था। पारस्परिक संघर्षों में देश की एक बड़ी शक्ति का अपव्यय स्वाभाविक होता। सम्पूर्ण राष्ट्र का अवैज्ञानिक आधार पर अनेक छोटे-बड़े खण्डों में विभक्त रहना आर्थिक और सामाजिक प्रगति को असम्भव बना देता। देश की प्राकृतिक शक्तियों का उच्चतम प्रयोग करके राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाने का क्रम भी कठिन हो जाता। हमारे प्रमुख नेता, विशेषतः महात्मा गांधी, सरदार पटेल, पण्डित जवाहरलाल नेहरू देशी रियासतों को स्वतन्त्र किये जाने से उत्पन्न होने वाली इन विषम सम्भावनाओं को स्पष्टतः समझते थे। पाकिस्तान के अतिरिक्त देश को और खण्डित होने से बचाना अनिवार्य था। सभी प्रकार की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए भारत को सुसंगठित बनाना ही था।

भारत
रियासतों के विलीनीकरण के बाद
अफगानिस्तान
जम्मू व काश्मीर
अंडमान द्वीप
निकोबार द्वीप

प्रथम खण्ड

३ जून, १९४७ की घोषणा तक रियासतों की स्थिति

स्वतन्त्रता मिलने के पूर्व जैसी परिस्थितियाँ थीं उनमें देशी रियासतों को मिलाकर सुसंगठित भारत का निर्माण करना कठिन प्रतीत होता था। रियासतों के शासक बहुत पहले से ही अपना अलग संघ बनाने के विषय में सोच रहे थे। इस अवसर के मिलते ही वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता पुनः स्थापित करने की ताक में हो गये। उनके इन विचारों और प्रयासों में ब्रिटिश सरकार की नीति और ब्रिटिश कर्मचारियों से प्रोत्साहन भी मिलता रहा।

१९३५ के पूर्व

साइमन कमीशन की संस्तुतियाँ प्रकाशित होने के बाद १९३० में हुई प्रथम गोलमेज बैठक में ही रियासतों के शासकों और प्रतिनिधियों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वे अपना अलग संघ बनाने के बाद ही ब्रिटिश भारत में स्थापित किये जाने वाले संघ-शासन से किसी प्रकार का समझौता कर सकेंगे। ७ सितम्बर, १९३१ से प्रारम्भ हुई दूसरी बैठक में जब भारतीय संघ शासन में रियासतों के प्रतिनिधित्व की चर्चा चल रही थी बड़ी रियासतें जैसे हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा आदि अपनी जन-संख्या और बड़प्पन के अनुसार प्रतिनिधित्व चाहती थीं; बीकानेर महाराज का यह सुझाव था कि २५० सदस्यों का उच्च विधान-मण्डल बनाया जाय, जिसमें आधे रियासतों के प्रतिनिधि हों; लेकिन छोटी रियासतों के प्रतिनिधि और पटियाला नरेश इस पर ही जोर डाल रहे थे कि भारतीय संघ में आने के पहले रियासतों का अलग संघ बने। उसके अनुसार यही मार्ग उनके आर्थिक और राजनैतिक हितों की सुरक्षा कर सकता था। १७ नवम्बर १९३२ में हुई तीसरी बैठक भी रियासतों के शासकों और प्रतिनिधियों के असहयोग से अधिक सफल न हो सकी। सन् १९३३ में राजनैतिक अधिकारियों को यह सुझाव दिया गया कि वे रियासतों के शासकों को भारत संघ में मिलने के लिए प्रेरित करें। इसी समय चेम्बर ऑव प्रिंसेज की एक बैठक हुई

उसमें उन्होंने यह निश्चित किया कि संघ में तभी सम्मिलित हुआ जाय जबकि ये शर्तें पूर्ण हों—

१—संविधान में उनकी संधियों में व्यक्त अधिकारों को मान्यता मिले;

२—उनके आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप न हो;

३—रियासतों को अपना अलग संघ बनाकर भारत-संघ में सामूहिक रूप से मिलने का प्रबन्ध हो।

भारत-सरकार अधिनियम, १९३५ की रचना के क्रम में

दिसम्बर, सन् १९३४ में जब भारत-सरकार विधेयक ब्रिटिश संसद में पेश हुआ, चेम्बर ऑव प्रिंसेज ने इसका अध्ययन करने और इसके अन्तर्गत अपनी स्थिति ज्ञात करने के लिए सर अकबर हैदरी के सभापतित्व में १५ राज्य-मन्त्रियों की एक समिति बनायी। इस समिति ने विधेयक के कुछ प्रावधानों को पूर्व निर्णयों के प्रतिकूल बतलाया और उनमें संशोधन लाये बिना रियासतों का संघ में सम्मिलित होना अहितकर ठहराया। समिति के इन्हीं सुझावों के आधार पर फरवरी, सन् १९३५ में शासकों और राज्य प्रतिनिधियों की एक दूसरी बैठक हुई। इसमें यह प्रस्ताव पास किया गया कि विधेयक और "प्रवेश-लिखत" रियासतों के स्वत्वों की सुरक्षा नहीं करते और न तो उनके मौलिक तथ्यों पर ही ध्यान रखते हैं। अस्तु, विधेयक और प्रवेशलिखत का वर्तमान रूप उन्हें मान्य नहीं है। इस प्रस्ताव की सूचना विशेष आलोक पत्र द्वारा वायसराय को दे दी गयी। उसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि रियासतों के हितों को दृष्टि में रखते हुए उचित संशोधन लाये बिना संघ-योजना में उनका सहयोग सम्भव नहीं हो सकेगा। रियासतों के इस रुख से अधिनियम का बनना ही कठिन प्रतीत होने लगा था लेकिन सेक्रेटरी ऑव स्टेट के इस स्पष्टीकरण से कि देशी शासकों से संघ में सम्मिलित होने की सहमति लेना "नवीन भारत-सरकार-अधिनियम" बनाने के लिए आवश्यक नहीं था, १९३५ का अधिनियम बन सका।

अधिनियम के अन्तर्गत रियासतों का स्थान

इस अधिनियम के अनुसार भारत-संघ में सम्मिलित होना प्रान्तों के लिए स्वाभाविक क्रम में आता था परन्तु देशी रियासतों की इच्छा पर निर्भर था। कोई रियासत संघ में तभी सम्मिलित मानी जा सकती थी जबकि उसने प्रवेश लिखत भरकर दे दिया हो और सम्राट उसे स्वीकृत कर चुके हों। संघ में मिलने वाली

रियासतों के शासन-क्षेत्र पर संघ सरकार का उतना ही नियन्त्रण सम्भव था जिनका उल्लेख प्रवेश-लिखत में हो चुका हो। संघ की दोनों सदनों में शासकों के निर्वाचित व्यक्ति ही रियासतों के प्रतिनिधि-रूप में सम्मिलित किये जाने वाले थे। भारत में संघ-शासन प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में यह शर्त थी कि उच्च सदन में रियासतों के कम से कम ५२ प्रतिनिधि सम्मिलित हों। संघ में सम्मिलित होने के बाद भी रियासतों का सम्बन्ध सर्व-सत्ता के साथ रखा जाने वाला था। शासकों को संघ के सदस्य-रूप में उन्हें गवर्नर-जनरल से सम्बन्ध रखना पड़ता और सर्व-सत्ता के सम्बन्ध में सम्राट प्रतिनिधियों से व्यवहार करना पड़ता। सम्राट-प्रतिनिधि और गर्वनर-जनरल के रूप में एक ही व्यक्ति को कार्य करने का भी अधिकार दिया गया था।

रियासतें—अधिनियम के प्रयोग के रूप में

अधिनियम के इन प्रावधानों ने देशी शासकों को अपने मत पर अटल रहने का विशेष बल दिया। संघ में सम्मिलित होने की ऐच्छिकता का उपयोग रियासतों ने अपने पक्ष में ही किया। फलस्वरूप १ अप्रैल, १९३७ को व्यवहार में लाया गया नया अधिनियम संघ का रूप न ले सका। उस समय के वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने रियासतों को संघ में लाने के सभी प्रयत्नों को अपनाया लेकिन उससे विशेष लाभ न हुआ। अलग-अलग शासकों के पास भेजे गये प्रतिनिधियों से यही ज्ञात हुआ कि रियासतों का शासक-वर्ग भारत-सरकार-अधिनियम में जिस प्रकार संघ की व्यवस्था थी उससे कम संगठित संघ की कल्पना करता था। वे संघ में सम्मिलित होने के लिए उत्सुक नहीं थे क्योंकि उन्हें सम्पूर्ण भारत की भलाई में नहीं बल्कि अपनी सुदृढ़ स्थिति में विशेष दिलचस्पी थी। संघ उनकी स्थिति में सुधार ला सकेगा या नहीं इस सम्बन्ध में वे विशेष चिन्तित थे। संघ में सम्मिलित होने के बाद उन्हें अपना भविष्य अनिश्चित लगता था क्योंकि एक बार मिलने पर पुनः अलग होना सम्भव नहीं और मिले रहने पर संघ के कानून से विलग रहना व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता था। अस्तु, अपनी प्रभुता सुरक्षित रखते हुए और आर्थिक सुदृढ़ता के साथ ही वे संघ में मिलने के लिए राजी थे।[1]

१. देखिए, श्री वी० पी० मेनन द्वारा लिखित "दी स्टोरी ऑव इंटीग्रेशन ऑव इंडियन स्टेट्स" अध्याय २, पृष्ठ ३६-३७।

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने तक रियासतों के शासकों को संघ में सम्मिलित करने के सभी प्रयास निष्फल रहे। लार्ड लिनलिथगो ने जनवरी १९३९ में 'प्रवेश-लिखत' को संशोधित करके रियासतों के शासकों के पास भेजा और संघ में सम्मिलित होने के लिए आह्वान भी किया लेकिन रियासतों के शासकों और मन्त्रियों ने दिल्ली में हुए अधिवेशन में उसे अस्वीकार कर दिया। शासकों की इस नीति के विरुद्ध रियासतों की जनता ने भी आवाज उठायी लेकिन उससे भी वस्तु-स्थिति में विशेष परिवर्तन न हो सका। फलस्वरूप संघ शासन बनाने का जो प्रयास १९२७ में प्रारम्भ हुआ बारह वर्षों के बाद भी रियासतों के शासकों के असहयोग से निष्फल रहा।

द्वितीय युद्धकाल में

द्वितीय-युद्ध काल में भारत के सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त करने तथा भावी स्वशासन के लिए संविधान बनाने का आश्वासन देने के लिए मार्च, १९४२ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की तरफ से भेजे गये। अप्रैल में क्रिप्स महोदय से देशी शासकों ने भावी-व्यवस्था में अपनी स्थिति के सम्बन्ध में बात-चीत की और अपना-अलग संघ बनाने का सुझाव भी रखा। लेकिन यह मान्य न हो सका। सन् १९४४ में चेम्बर ऑव प्रिंसेज के नये चान्सलर भोपाल के नवाब चुने गये। उन्होंने भारतीय राजनीति में कांग्रेस और मुस्लिम लीग की भाँति देशी रियासतों की एक तीसरी शक्ति बनाने का प्रयास प्रारम्भ किया। २६ नवम्बर, १९४४ को चेम्बर की बैठक में इस प्रकार के प्रस्ताव को पास कराने का उपक्रम हुआ था जिससे सम्राट और रियासतों के सम्बन्धों और अधिकारों को रियासतों की स्वीकृति बिना किसी तीसरे पक्ष के हाथ न सौंपा जाय। चेम्बर के सभापति लार्ड वैवेल की अस्वीकृति के कारण यह प्रस्ताव पास न हो सका। ब्रिटिश सरकार के राजनैतिक विभाग से नवाब द्वारा पूछे प्रश्नों का उचित उत्तर भी न आ सका। परिणामस्वरूप रियासतों की स्थायी समिति ने जो ब्रिटिश सरकार के विभिन्न कार्य-क्रमों में सहयोग दे रही थी, एक साथ त्याग-पत्र दे दिया। इस परिस्थिति को सुधारने के लिए २५ जून, १९४५ को लार्ड वैवेल ने यह आश्वासन दिया कि यदि शासक संविधान सम्बन्धी वार्ता में होने वाले प्रमुख परिवर्तनों के प्रति अपनी सहमति देने का विश्वास दिलायें तो सम्राट के साथ रहने वाले उनके सम्बन्ध को किसी दूसरे अधिकारी को उनकी सहमति बिना नहीं सौंपा जायगा। चांसलर ने वायसराय के आश्वासन के साथ वाली शर्त की पूर्ति करने की घोषणा की। स्थायी समिति ने त्याग-पत्र वापस लेकर पूर्ववत कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार

रियासतों के शासकों को अपनी प्रस्तुत स्थिति बनाये रखने का पर्याप्त क्षेत्र सुलभ हो सका।

कैबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत रियासतों का स्थान

अप्रैल सन् १९४६ में ब्रिटेन की श्रम-सरकार द्वारा भेजे गये कैबिनेट मिशन के सम्मुख अपना दृष्टिकोण रखते हुए भोपाल के नवाब ने यह स्पष्ट कहा था कि भारत की रियासतें अधिक से अधिक प्रभुत्व के साथ अपना अस्तित्व कायम रखना चाहती थीं। वे अपने आन्तरिक मामलों में ब्रिटिश भारत से किसी प्रकार का हस्त-क्षेप नहीं पसन्द करतीं। शासक-वर्ग के विचारों को प्रकट करते हुए नवाब ने यह कहा कि यदि भारत के दो खण्ड सम्भव हैं तो रियासतों के लिए तीसरा खण्ड न बनाने का कोई कारण नहीं दीखता। अपने विवरण के क्रम में उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि रियासतों पर सर्वोच्च सत्ता भारत-सरकार को न सौंपी जाय।[१] चेम्बर की स्थायी समिति से हुई वार्ता में मिशन के सदस्य लार्ड पेथिक लारेंस ने यह आश्वासन दिया कि यदि ब्रिटिश भारत स्वतन्त्र हुआ तो रियासतों पर से सर्वोच्च सत्ता का प्रभाव समाप्त कर दिया जायगा। ब्रिटिश सरकार की रियासतों के साथ हुई सन्धियों का निर्वाह भी उनके विचार से आगे सम्भव नहीं था। इस-लिए उन्हें पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ा जायगा। लार्ड पेथिक लारेंस के इन आश्वासनों और विचारों से देशी शासकों को अपनी अलग सत्ता कायम रखने की बड़ी प्रेरणा मिली। मिशन के सम्मुख जितने भी राज्य-प्रतिनिधि उपस्थित हुए सभी ने किसी-न-किसी रूप में इन बातों को सर्वोपरि रखा कि रियासतों पर रखा जाने वाला प्रभुत्व नये शासन को न सौंपा जाय बल्कि समाप्त कर दिया जाय, उन्हें किसी भी संघ में सम्मिलित होने के लिए बाध्य न किया जाय; रियासतों को अपना अलग संघ बनाने में किसी प्रकार की आपत्ति न हो; ब्रिटिश भारत में जो भी सरकार बने वह रियासतों के आंतरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप न करे। मिशन की अन्तिम योजना में इन्हीं मतों को प्राधान्य भी दिया गया। देशी रियासतों से नव-भारत-निर्माण में सहयोग की आशा की गयी लेकिन सहयोग का क्रम अलग रियासतों की इच्छा पर छोड़ा गया। केवल विदेशी मामले, सुरक्षा और परिवहन में ही इन्हें केन्द्र के अधीन रहने का सुझाव दिया गया।

१. देखिए श्री वी० पी० मेनन की पूर्वोक्त पुस्तक—अध्याय ३, पृष्ठ ६१।

रियासतें—कैबिनेट मिशन-योजना कार्यान्वित करने के क्रम में

कैबिनेट मिशन-योजना प्रकाशित होने और ३ जून १९४७ को भारत स्वतन्त्र किये जाने की घोषणा तक देशी शासकों का रुख सहयोग की अपेक्षा असहयोगपूर्ण ही अधिक रहा। यद्यपि भारत-सरकार के राजनैतिक सलाहकार सर कानरेड कॉरफील्ड की सलाह के अनुसार ब्रिटिश भारत के साथ विभिन्न संवैधानिक मामलों पर समझौता करने के लिए चेम्बर ऑव प्रिंसेज द्वारा वार्ता-समिति स्थापित की गयी, लेकिन उसे बातचीत का स्वतन्त्र क्षेत्र नहीं दिया जा सका। चेम्बर की स्थायी समिति ने एक ऐसा प्रस्ताव पास किया जिसमें वार्ता-समिति को ब्रिटिश भारत से विशिष्ट अधिकार की मांगें करने का भार सौंपा गया। प्रस्ताव में उल्लिखित तथ्य आगे दिये जाते हैं :—

१. रियासतों का भारत-संघ में मिलना पारस्परिक वार्ता पर आधारित हो, उसमें अन्तिम निर्णय रियासतों का ही रहे।
२. संवैधानिक मामलों पर होने वाले विचार-विमर्श में भाग लेने-मात्र से ही रियासतों का भारत-संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य न हो। संविधान के पूर्ण-चित्र के बाद ही किसी निर्णय पर पहुँचना सम्भव हो।
३. सर्वोच्च सत्ता का अन्त हो। प्रत्येक राज्य के संविधान, उसकी सीमा शासक वंश की उत्तराधिकारिता शक्ति आदि में संघ की ओर से कोई हस्तक्षेप न हो।
४. रियासतों को वे सभी विषय और शक्तियाँ अपने तईं रखने का अधिकार हो जिनको उन्होंने संघ में अर्पित न की हों।
५. संविधान-सभा रियासतों के संविधान अथवा उनके आंतरिक शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर विचार न करे।

इन तथ्यों को स्पष्ट करते हुए प्रस्ताव में इस बात का भी उल्लेख था कि राज्यों की तरफ से ब्रिटिश भारत की वार्ता-समिति से उपर्युक्त विषयों पर विचार-विमर्श करने का अधिकार उनकी वार्ता-समिति को था। वह समिति ही यह निश्चित करने वाली थी कि किन शर्तों पर रियासतें संविधान सभा में मिलें और उनका रूप भारत संघ में क्या हो, यद्यपि सभी विषयों और निर्णयों की अन्तिम स्वीकृति रियासतों की संवैधानिक सलाहकारिणी-समिति और अलग-अलग रियासतों पर निर्भर रखी गयी।

इस बीच में मिशन योजना के अनुसार ब्रिटिश भारत में अन्तरिम सरकार बन चुकी थी। मुस्लिम लीग भी उसमें सम्मिलित हुई। संविधान सभा ने डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। रियासतों के

प्रतिनिधियों के सम्मिलित होने की प्रतीक्षा थी। चेम्बर की वार्ता-समिति से विचार-विमर्श के लिए एक वार्ता-समिति भी बनायी गयी। इधर शासक वर्ग में ऐसी चर्चा चल रही थी कि यदि पूर्वोक्त प्रस्ताव की प्रमुख बातें मान्य न हुई तो संविधान सभा का बहिष्कार किया जाय। यद्यपि कुछ शासक इस विचार-धारा से पूर्णतः सहमत न थे और उन्होंने वैयक्तिक रूप से संविधान सभा में सम्मिलित होने के लिए निश्चय भी कर लिया था लेकिन अधिकांश उसके पक्ष में ही थे।[1] ऐसे असहयोगपूर्ण वातावरण में दोनों वार्ता-समितियों की प्रथम बैठक ८ फरवरी १९४७ को हुई। लेकिन उसमें किसी प्रकार का समझौता सम्भव न हो सका। दूसरे दिन की बैठक में पहले तो भोपाल के नवाब अपनी प्रमुख माँगों की पूर्ति के लिए अड़े रहे, पर पटियाला नरेश सर यादवेन्द्रसिंह के कहने-सुनने और पंडित जवाहरलाल नेहरू के आश्वासनपूर्ण भाषण से कुछ सहमतिपूर्ण वातावरण उत्पन्न हो सका। उसमें यह तय हुआ कि चेम्बर और संविधान सभा के सचिव मिलकर रियासतों के लिए निश्चित संविधान सभा की ९३ जगहों के वितरण की योजना बनायें। बैठक पहली (१) मार्च तक के लिए स्थगित कर दी गयी।

ऐसी स्थिति में २० फरवरी, १९४७ को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री एटली ने जून १९४८ तक भारत को स्वतन्त्र करने की घोषणा की। देशी रियासतों की सर्वोच्च-सत्ता से सम्बन्धित अधिकारों और दायित्वों को ब्रिटिश भारत की किसी सरकार के हाथ न सौंपने का स्पष्ट आश्वासन भी उन्होंने दिया। इस घोषणा से वार्ता-समितियों की तीसरी बैठक में दोनों पक्ष बहुत प्रभावित थे। कुछ वाद-विवाद के पश्चात सचिवों द्वारा संविधान-सभा की रियासतों वाली जगहों के वितरण का क्रम मान लिया गया। रियासतों के प्रतिनिधियों के भेजे जाने का सिद्धान्त निश्चित करने के लिए उसी बैठक में एक उपसमिति नियुक्त की गयी। अगले दिन ही इस उपसमिति का यह सुझाव कि ५० प्रतिशत प्रतिनिधि चुनाव द्वारा लिये जायँ स्वीकृत हो गया। समझौते में इतनी प्रगति होने पर भी जब पं० जवाहरलाल नेहरू ने संविधान-सभा द्वारा नियुक्त कुछ समितियों में भाग लेने के लिए रियासतों के प्रतिनिधियों को बुलाया, तो चेम्बर के चांसलर भोपाल के नवाब ने यह कह कर सम्मिलित होना अस्वीकृत कर दिया कि

१. सहमत न रहने वालों में बड़ौदा और कोचीन के शासक अग्रणी थे। देखिए वी० पी० मेनन की "इंटीग्रेशन ऑव इंडियन स्टेट्स" अध्याय ४, पृष्ठ ७२।

बिना सभी राजाओं की राय लिये इस सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचना सम्भव नहीं।

सत्ता-हस्तांतरण के क्रम में गति देने के उद्देश्य से भेजे गये नये वायसराय लार्ड माउन्ट बैटन के आने के पश्चात अप्रैल के प्रथम सप्ताह में राजाओं का अधिवेशन बुलाया गया। उसमें भोपाल के नवाब ने यह मत व्यक्त किया कि संविधान सभा द्वारा वार्ता-समितियों के समझौतों को मानने के पश्चात ही रियासतें संविधान सभा में भाग लें। लेकिन पटियाला और बीकानेर के नरेशों को नवाब का यह मत मान्य नहीं हुआ। उन्होंने नवाब के प्रयासों के विरुद्ध संविधान सभा में अपने प्रतिनिधि भेजना स्थिर किया। बड़ौदा और कोचीन के शासक इस पक्ष में पहले से ही थे। जयपुर, जोधपुर और रींवा के नरेशों ने भी इनका साथ दिया। २८ अप्रैल को इनके प्रतिनिधियों ने प्रथम बार संविधान सभा में भाग लिया। चेम्बर ऑव प्रिंसेज के इतिहास में पहली बार पारस्परिक एकता भंग हुई और रियासतों का संगठित असहयोग भाग्यवश क्षत-विक्षत होने लगा।

कुछ रियासतें आपस में क्षेत्रीय संघ बनाने का प्रयास कर रही थीं। इनमें नवानगर के जाम साहब और ध्रांगध्रा के महाराज अग्रणीय थे। मध्य-भारत की रियासतें अपना अलग संघ बनाने के लिए संविधान समिति तक स्थापित कर चुकी थीं। पंजाब, राजपूताना, उड़ीसा और दकन की रियासतों में भी क्षेत्रीय संघ बनाने की चर्चा चल रही थी। लेकिन ३ जून, १९४७ तक जब कि वायसराय द्वारा जून १९४८ के पहले ही भारत और पाकिस्तान को सत्ता-हस्तान्तरित करने की घोषणा की गयी कोई भी क्षेत्रीय-संघ निर्मित नहीं हो सका था। फिर भी इन रियासतों का अपना अलग वर्ग बनाने का प्रयास ही देश की भावी एकता की वृद्धि से कम घातक नहीं था।

३ जून, १९४७ की घोषणा में लार्ड माउन्टबैटन ने यह स्पष्ट किया कि ब्रिटिश सम्राट की सरकार ब्रिटिश भारत की शासन-सत्ता अधिराज्य स्थिति रखने वाली भारत और पाकिस्तान सरकारों को जून सन् १९४८ के बहुत पहले ही सौंप देगी। देशी रियासतों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया कि ब्रिटिश सरकार की नीति कैबिनेट मिशन के निश्चयों के अनुरूप ही रहेगी अर्थात सम्राट सरकार का रियासतों पर रहने वाली सर्वोच्च-सत्ता सम्बन्धी अधिकार समाप्त हो जायँगे; रियासतों को अपने वे सभी अधिकार जो सर्वोच्च-सत्ता को सुपुर्द थे वापस मिल जायंगे और ब्रिटिश भारत तथा ब्रिटिश सम्राट और रियासतों के बीच जितने भी राजनैतिक सम्बन्ध थे, समाप्त हो जायेंगे। इस घोषणा से रियासतों का स्वतंत्र होना

स्वाभाविक प्रतीत होने लगा। ऐसी स्थिति में भारत का कई खण्डों में विभक्त हो जाना एक मात्र अनिवार्य क्रम लगता था।

रियासतों के असहयोगपूर्ण व्यवहार के आधार

जैसा कि पहले दिये गये विवरणों से स्पष्ट है कि देशी रियासतें भारत में अपना प्रभावपूर्ण अस्तित्व बनाये रखने के लिए बहुत पहले से ही प्रयत्नशील रहीं। ब्रिटिश-भारत में स्वतन्त्रता सम्बन्धी जितने भी उपक्रम किये जाते थे और फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार द्वारा जितनी भी सुविधाएँ दी जाती थीं देशी शासक उन सभी का अधिक से अधिक उपयोग अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने में करते थे। ब्रिटिश सरकार भी इनकी सुदृढ़ता में योग देती थी क्योंकि १८५७ की क्रान्ति के बाद से ही देशी रियासतों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना और उनके अस्तित्व को मिटने से बचाना ब्रिटिश शासन को स्थायी करने के लिए आवश्यक समझा गया।[१] प्रथम युद्ध-काल में देशी शासकों ने भी अपनी प्रतिष्ठा ब्रिटिश शासकों की दृष्टि में उठाने और अपने मैत्रीपूर्ण व्यवहार का परिचय देने के लिए धन-जन से ब्रिटिश सरकार की भरपूर सहायता की थी। उसी समय से देशी रियासतों का सामूहिक अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के अन्तर्गत रियासतों की स्थिति, उनके ब्रिटिश भारत, सम्राट सरकार तथा पारस्परिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला गया था। उन्हीं सुझावों और संस्तुतियों के फलस्वरूप ८ फरवरी, १९२१ से शाही घोषणा द्वारा चेम्बर ऑव प्रिंसेज बनाया गया जिसमें ११ या उससे अधिक तोपों की सलामी लेने वाले १०८ शासक तथा छोटी रियासतों के अपने में से भेजे गये १२ प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। वायसराय इसके सभापति और राजाओं में से चुनाव द्वारा एक चान्सलर और दूसरा प्रो-चान्सलर होते थे। रियासतों से हुई सन्धियों और सनदों में परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन लाने और परम्पराओं तथा प्रथाओं को वैधानिक रूप देने में ब्रिटिश सरकार के राजनैतिक विभाग की सहायता करने के लिए चेम्बर की एक स्थायी समिति भी बनायी गयी थी।

साइमन कमीशन के अन्तर्गत नियुक्त बटलर समिति ने देशी रियासतों और ब्रिटिश सरकार तथा सम्राट के बीच स्थित संबंध की पर्याप्त छान-बीन की। उसने

१. देखिए ऐक्ट फार बेटर गवर्नमेन्ट आफ इंडिया, १८५८।

प्रथम बार नये संविधान के अनुसार भारत में स्थापित किये जाने वाले संघ शासन के अन्तर्गत रियासतों को हस्तांतरित किये जाने का विरोध किया। उसने यह विचार भी दृढ़तापूर्वक व्यक्त किया कि सर्वोच्च सत्ता और रियासतों के बीच जैसा ऐतिहासिक संबंध रहा उसे देखते हुए उनकी सलाह लिये विना उन्हें ब्रिटिश भारत की ऐसी नयी सरकार के साथ न बाँध दिया जाय जो भारतीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी हो। ब्रिटिश भारत और रियासतों के बीच भेद-भाव उत्पन्न करने वाले इन सुझावों का १९२८ के अखिल दलीय अधिवेशन में अधिराज्य संविधान बनाने के लिए नियुक्त नेहरू समिति ने घोर विरोध किया। इसने अपनी एक रिपोर्ट भी प्रकाशित की जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों की जनता के बीच स्थित ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक घनिष्ठता को स्पष्ट किया गया और नये संविधान के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों की जनता को साथ-साथ भारत संघ में सम्मिलित करना अनिवार्य बतलाया गया। लेकिन जैसा कि पहले दिये गये विवरण से विदित है देशी रियासतों के न मिलने से ही १९३५ अधिनियम के अनुसार भारत-संघ न बन सका और संघ-शासन स्थापित करने के सभी प्रयास द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ तक निष्फल रहे।

द्वितीय महायुद्ध-काल में देशी शासकों ने ब्रिटिश सरकार को पुनः पर्याप्त सहायता पहुँचायी। कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा युद्ध संबंधी प्रयत्नों में पूर्ण असहयोग की नीति अपनायी गयी थी। फलस्वरूप देशी शासकों को ब्रिटिश सरकार का स्नेह भाजन बनने का अपूर्व अवसर मिला। सर स्टैफर्ड क्रिप्स की योजना को कार्यान्वित करने में योग देने का आश्वासन भी रियासतों ने दिया था जबकि कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इसका विरोध किया। क्रिप्स की ओर से रियासतों के स्वत्वों को संघ के अन्तर्गत अधिक से अधिक सुरक्षित बनाने का विश्वास दिया गया था। महायुद्ध के पश्चात सम्राट सरकार द्वारा भेजे गये कैबिनेट मिशन ने आगामी परिस्थितियों में रियासतों को पूर्ण स्वतन्त्र बनने का अधिकार स्पष्ट किया। उसी के आधार पर, जैसा कि पहले उल्लेख हुआ है, शासकों ने अपनी कुछ शर्तों की पूर्ति के पहले संविधान सभा में भाग लेना अस्वीकृत कर दिया था। पटियाला, बीकानेर, कोचीन, बड़ौदा आदि के जिन शासकों ने बाद में संविधान सभा में भाग लेने का निश्चय किया उनकी संख्या बहुत कम थी और उनका उद्देश्य संघ में अपने हितों का त्याग करते हुए मिलना नहीं था बल्कि संविधान सभा के अंतर्गत होकर उन्हें अधिक से अधिक सुरक्षित बनाना था।

३ जून वाली घोषणा से देशी शासकों को अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाने की नयी प्रेरणा मिली। कांग्रेस नेता उन्हें अपने साथ ले चलने का प्रयत्न करते थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार की नीति उन्हें विलग रहने का प्रोत्साहन देती थी। इसमें रियासतों से व्यवहार करने वाले राजनैतिक विभाग और उसके कर्मचारियों का विशेष हाथ रहता था। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है देशी रियासतों का अपना अलग संघ बनाने की प्रेरणा भी इस विभाग द्वारा ही मिली थी।

अन्य राजनैतिक दल भी विशेषतः मुस्लिम लीग देशी रियासतों को अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखने के औचित्य का प्रचार करते थे। जिस समय संविधान सभा में भाग लेने के लिए अधिकांश शासक अड़े हुए थे नेहरू जी ने अखिल भारतीय रियासतों की प्रजा के अधिवेशन में भाषण देते हुए यह कहा था कि संविधान सभा में न मिलने वाली रियासतें शत्रु मानी जायँगी और उन्हें उसका परिणाम भी भुगतना होगा। इसके विरोध में मुस्लिम लीग के नेता श्री लियाकत अली खाँ ने यह प्रेस विज्ञप्ति प्रकाशित करायी कि कांग्रेस रियासतों को भय दिखाने का कोई अधिकार नहीं रखती और रियासतों को संविधान सभा से किसी प्रकार का संबंध अस्वीकृत करने का अधिकार है। लियाकत अली खाँ ने रियासतों को इन झूठी धमकियों से प्रभावित न होने की सलाह भी दी।[1] इन प्रचारों से रियासतों को अपने मार्ग पर ही बढ़ते रहने का प्रोत्साहन मिलता था।

देशी रियासतों द्वारा अपनी खोयी हुई पूर्ण स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करने की दृढ़ अभिलाषा, ब्रिटिश सरकार और उसके कर्मचारियों द्वारा दिये जाने वाले सतत प्रोत्साहन और वैधानिक अधिकार तथा मुस्लिम लीग के नेताओं द्वारा दिखायी जाने वाली सहानुभूति को देखते हुए ऐसा भय होता था कि भारत केवल दो भागों में ही नहीं विभक्त होगा बल्कि कई छोटी-बड़ी टुकड़ियों में बँट जायगा। ३ जून वाली घोषणा में सत्ता-हस्तान्तरण की शीघ्रता व्यक्त किये जाने से शासकों में और भी तीव्रता आयी। उन्हें भड़काने वाली शक्तियाँ भी अधिक सक्रिय हो उठीं। ऐसी स्थिति में देश की एकता सुदृढ़ बनाने की समस्या कांग्रेस के लिए विकटतर हो गयी। कम समय में विविध क्षेत्रों से प्रोत्साहन पाने वाले अनेक विरोधियों को मिलाना असम्भव प्रतीत होता था।

१. देखिए वी० पी० मेनन की पूर्वोक्त पुस्तक, अध्याय ४, पृष्ठ ७८।

द्वितीय खण्ड

३ जून, १९४७ की घोषणा के पश्चात की स्थिति

इस घोषणा के बाद रियासतों में अपनी भावी स्थिति सुदृढ़ बनाने के साथ ही ब्रिटिश सरकार के साथ हुई आर्थिक संधियों की स्थिति के विषय में जिज्ञासा बढ़ी। ट्रावन्कोर के दीवान श्री सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने राजनैतिक विभाग के सम्मुख यह सुझाव रखा कि सत्ता-हस्तांतरण के पूर्व ही रियासतों को सर्वोच्च सत्ता से मुक्त कर दिया जाय ताकि वे समानता के आधार पर नये बनने वाले अधिराज्यों से समझौता कर सकें। लेकिन सरकार के राजनैतिक सलाहकार सर कानरेड कोरफिल्ड ने सत्ता-हस्तान्तरण तक सर्व-सत्ता को कायम रखना आवश्यक बतलाया। बड़ौदा के दीवान श्री मित्तर ने आर्थिक समझौतों के भविष्य के संबंध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की। भोपाल के नवाब की यह माँग थी कि सर्वसत्ता के अन्त के पूर्व ही वित्तीय मामलों का निपटारा करने के लिए उपयुक्त "एतदर्थ संगठन" (ऐडहॉक आर्गनाइजेशन) बनाया जाय। इस प्रकार की जिज्ञासाएँ और प्रस्ताव अन्य रियासतों से भी आये। राजनैतिक विभाग और वायसराय द्वारा इन प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया। वायसराय ने रियासतों की भावी स्थिति के स्पष्टीकरण के क्रम में यह भी संकेत किया कि रियासतों का पूर्ण स्वतन्त्र बनना अथवा अधिराज्य की स्थिति देना सम्भव नहीं ? लेकिन रियासतों पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। भोपाल के नवाब ने इसी आधार पर चान्सलर पद से त्याग-पत्र दे दिया था कि स्वतन्त्र रूप में भावी अधिराज्यों से अपने अनुकूल समझौता करने में सरलता होगी। यद्यपि चेम्बर की स्थायी समिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि सर्व-सत्ता के अंत के पश्चात चेम्बर ऑव प्रिंसेज विघटित हो जायगा लेकिन देशी राजाओं का एक बड़ा वर्ग इस मत का था कि चेम्बर के बाद भी राजाओं के पारस्परिक संगठन के लिए एक विशेष संस्था बने। फिर भी बड़ी रियासतों की गुटबंदी और छोटी रियासतों के उनके प्रति सशंकित होने से नये संगठन की रचना सम्भव न हो सकी।

देशी शासकों में सर्व-सत्ता का अन्त होने से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों

का अधिक से अधिक लाभ उठाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। द्वितीय महायुद्ध काल में इनकी सैन्यशक्ति भी पर्याप्त हो चुकी थी। सरकारी राजनैतिक विभाग ने सुरक्षित प्रपत्रों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था। रियासतों में स्थित रेजीडेन्सी और सैनिक छावनियां तोड़ी जा रही थीं। शाही सेनाएँ रियासतों में वितरित हो रही थीं। इसी बीच ११ जून को ट्रावन्कोर के दीवान श्री सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने रियासत को सर्व-सत्ता के पश्चात स्वतन्त्र बनाने की घोषणा की। दूसरे ही दिन हैदराबाद ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। इन घटनाओं के क्रम से ऐसा आभास होने लगा था कि पूरा देश छिन्न-भिन्न होने के लिए अग्रसर हो रहा हो और चारों तरफ अराजकता फैलने ही वाली हो।

इसी वातावरण में १३ जून १९४७ को वायसराय लार्ड माउन्ट बैटन द्वारा एक बैठक बुलायी गयी जिसमें मुस्लिम लीग और कांग्रेस के प्रतिनिधियों तथा सरकारी राजनैतिक सलाहकार ने भाग लिया। इसमें वायसराय ने यह स्पष्ट किया कि सर्व-सत्ता के अन्त के साथ ही राजनैतिक विभाग भी बन्द हो जायगा। नेहरू इस विचार से सहमत नहीं थे। उनका यह दृष्टिकोण था कि सम्राट की सरकार भारत-सरकार से सलाह लिये बिना देशी रियासतों के साथ होने वाले संबंध पर अपना मत प्रकट नहीं कर सकती थी। सर्व-सत्ता का अन्त न तो रियासतों को पूर्ण स्वतन्त्र होने का अधिकार देता है और न तो इससे राजनैतिक विभाग या उसके प्रतिनिधियों के कार्यों का ही अन्त होता है। सर कॉरनेड और श्री जिन्ना दोनों ने नेहरू के इस मत का विरोध किया। उनके अनुसार देशी रियासतों को पूर्ण स्वतन्त्र होने और अपना भावी पथ अपनी इच्छानुसार निश्चित करने का अधिकार था। उन्हें किसी संविधान सभा में सम्मिलित होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। नेहरू ने इस मत का खण्डन करते हुए यह विचार प्रकट किया कि रियासतें न तो ब्रिटिश शासन काल के पूर्व पूर्ण प्रभुत्व रखती थीं और न तो उसके अंत के पश्चात उन्हें पूर्ण प्रभुत्व पाने का अधिकार ही है।

वायसराय ने इस सम्बन्ध में अपना यह मत प्रकट किया कि देशी रियासतों और भावी भारत-सरकार में राजनैतिक सम्बन्ध होना दोनों के लिए उपयोगी है। इसके लिए या तो भावी सरकार विभिन्न रियासतों में अपना प्रतिनिधि रखे या केन्द्रीय सरकार में रियासतों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। रियासतों से रहने वाले सम्बन्ध की व्यवस्था करने के लिए राजनैतिक विभाग (पॉलिटीकल डिपार्टमेंट) के स्थान पर राज्य-विभाग (स्टेट डिपार्टमेन्ट) स्थापित करने का सुझाव भी

दिया गया। देश-विभाजन के पश्चात राज्य-विभाग को दो खण्डों में विभक्त करने का संकेत भी था।

राजनैतिक विभाग द्वारा सुरक्षित प्रपत्रों के नष्ट किये जाने पर भी इस बैठक में विचार-विनिमय हुए। नेहरू जी ने इस बात पर जोर दिया कि राजनैतिक विभाग को ही सभी प्रपत्रों का अन्तिम-निर्णायक न माना जाय। इतिहासवेत्ताओं की एक समिति बनायी जाय। उनकी सलाह से ही प्रपत्रों को छाँटने और नष्ट करने का क्रम अपनाया जाय। इस सम्बन्ध में इस बैठक से पूर्व ही अखिल भारतीय रियासत जनता अधिवेशन (ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फरेंस) की स्थायी समिति ने भी राजनैतिक विभाग द्वारा प्रपत्रों के नष्ट किये जाने की नीति पर खेद प्रकट किया था और इस विभाग को नये केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत रखने का प्रस्ताव पास किया था। नेहरू के इस मत का प्रतिपादन जिन्ना ने भी किया। उनकी आपत्ति का उत्तर देते हुए राजनैतिक सलाहकार ने यह बतलाया कि इम्पीरियल रेकार्ड विभाग की सलाह से ही वह क्रम चलाया जा रहा था और महत्त्वपूर्ण प्रपत्रों को सुरक्षित रखा जाता था। बैठक में इस विषय पर यह निर्णय हुआ कि अस्थायी महत्त्व वाले कागजों को रेजिडेंट नष्ट करना जारी रखें लेकिन राजनैतिक सलाह-कार अन्तर्कालीन सरकार के शिक्षा मन्त्री से मिलकर ऐसे विशेषज्ञों को लें जो सम्राट-प्रतिनिधि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कागजातों को छाँटने और चुनने में योग दे सकें। शासकों के व्यक्तिगत जीवन अथवा रियासतों की आन्तरिक स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले प्रपत्रों को सत्ता-हस्तान्तरण के पश्चात संयुक्त राज्य के राजदूत को सौंपने का निश्चय किया गया।

सत्ता-हस्तान्तरण के पश्चात सभी रियासतों और भारत की नयी सरकारों के बीच स्थित वित्तीय और अन्य सम्बन्धों में विराम-व्यवस्था (स्टेंडस्टिल अरेंज-मेंट) लाने पर भी विचार किया गया। विराम-व्यवस्था पर विचार कर उचित निर्णयों पर पहुँचने के लिए कुछ समय बाद भारतीय नेताओं और रियासतों के प्रति-निधियों की बैठक कराने का निश्चय किया गया। लार्ड माउन्टबैटन ने रियासतों को यह आदेश भेजा कि वे प्रस्तावित समझौतों पर विचार-विनिमय करने और अन्तिम निर्णय पर पहुँचने के लिए सर्वाधिकार-सम्पन्न प्रतिनिधि भेजें।

इस बैठक से यह लाभ हुआ कि वायसराय, राजनैतिक विभाग और मुस्लिम लीग के देशी रियासतों से सम्बन्धित दृष्टिकोण कांग्रेस नेताओं को स्पष्ट हो गये। रियासतों की भ्रान्ति दूर करने और राष्ट्र के लिए हितकर मार्ग पर लाने में वायसराय से सहयोग मिलने का आभास हुआ। समझौतों के माध्यम से विग्रहा-

त्मक प्रवृत्तियों को मोड़ कर एकता उत्पन्न करना अधिक सुविधापूर्ण प्रतीत होने लगा। राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसी को अपनाना श्रेयस्कर भी समझा। लेकिन देशी रियासतों में विशेषतः ट्रावन्कोर और हैदराबाद के शासकों की घोषणा के बाद फैली भ्रान्त धारणा को अपनी तरफ से स्पष्ट करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी ने १४ जून को निम्नांकित आशय का एक प्रस्ताव पास किया :—

ब्रिटिश सरकार द्वारा सर्व-सत्ता-सिद्धान्त का जो अर्थ लगाया जाता है कांग्रेस उससे सहमत नहीं है। सर्व-सत्ता के अन्त से भारत-सरकार और रियासतों के बीच स्थित संबंध में अथवा उनके पारस्परिक अधिकारों या दायित्वों में कोई अन्तर नहीं आता। इससे रियासतों को पूर्ण स्वतन्त्रता भी प्राप्त नहीं होती और न तो किसी भी रियासत को अपने को स्वतन्त्र घोषित करने अथवा समूचे भारत को अपने से बिलग रखने का अधिकार ही मिलता है। सर्व-सत्ता-सिद्धान्त का यह अर्थ निकालना भारत के ऐतिहासिक क्रम को अस्वीकार करना है और भारतीय जनता के आदर्शों का हनन करना है।[1]

इस प्रस्ताव की प्रतिक्रिया रियासतों से होने के पूर्व ही लीगी नेता श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने इसका घोर विरोध किया। १८ जून को प्रकाशित उनकी प्रेस विज्ञप्ति निम्न प्रकार की थी :—

"यदि रियासतें चाहें तो कानूनी और संवैधानिक दोनों दृष्टियों से "सर्वोच्च-सत्ता" समाप्त होने पर पूर्ण स्वतन्त्र-प्रभुत्व रख सकती हैं। कैबिनेट मिशन के रियासतों संबंधी संलेख में यह मत किसी प्रकार भी व्यक्त नहीं था कि वे दोनों संविधान सभाओं में से किसी एक में सम्मिलित होने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं रखतीं। रियासतें अपनी इच्छानुसार पूर्ण स्वतन्त्र भी रह सकती हैं। ब्रिटिश सरकार या ब्रिटिश संसद भी रियासतों को उनकी इच्छा के विरुद्ध जाने या कार्य करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। उन्हें ऐसा करने का अधिकार भी नहीं है।"[2]

जिन्ना के इस वक्तव्य से रियासत बड़ी प्रभावित हुई। कुछ ने पाकिस्तान से ही अपना व्यावसायिक सम्बन्ध रखने की इच्छा भी प्रकट की। भावी पाकिस्तानी सीमा के निकट वाली रियासतों को अपनी ओर मोड़ने में लीगी नेताओं को इससे

१. देखिए श्री वी० पी० मेनन की पूर्वोक्त पुस्तक, अध्याय ४, पृष्ठ ९०-९१।
२. उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९१।

विशेष सहायता मिली। वे अन्य प्रकार की राजनैतिक सुविधाओं का प्रलोभन देकर देशी शासकों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने लगे। बड़े शासकों में सर्वोच्च-सत्ता-समाप्त होने के पश्चात पूर्ण स्वतन्त्र बनने की वासना भी प्रबल होती जा रही थी। छोटी रियासतें अपने भावी पथ के सम्बन्ध में अनिश्चित हो रही थीं। ऐसी स्थिति में भारत के अभिन्न अंगों—प्रान्तों और रियासतों में घनिष्ठ संगठन रखना अखिल भारत की सुरक्षा और कल्याण तथा परिवहन और समाचार-संवहन के साधनों की सुव्यवस्था की दृष्टि से आवश्यक होते हुए भी दुष्कर लगता था। अंतर्कालीन कांग्रेस सरकार ने इस दुर्वह भार को लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के सबल स्कन्धों पर रखा। २७ जून १९४७ को वायसराय के सुझावों के अनुसार राज्य विभाग (स्टेट डिपार्टमेंट) खोला गया और भारत की ओर से सरदार पटेल उसके प्रमुख बनाये गये। सरदार पटेल ने वायसराय के संवैधानिक सलाहकार और रियासतों की वैधानिक स्थिति से पूर्ण परिचित श्री वी० पी० मेनन को विभाग के प्रमुख सचिव के रूप में नियुक्त कराया। जुलाई के प्रथम सप्ताह से मेनन महोदय ने इस नये विभाग के सचिव के रूप में कार्यभार सँभाला।

तृतीय खण्ड

देशी रियासतों के विलयन के प्रयत्न

राज्य-विभाग के सम्मुख सबसे बड़ा उद्देश्य था कि १५ अगस्त १९४७ के पूर्व ही सभी देशी रियासतों को भारत-संघ में मिलने के लिए लिखित समझौता कर लिया जाय। रियासतों को मिलाने के लिए १९३५ अधिनियम में उल्लिखित प्रवेश-लिखत (इन्सट्रूमेंट ऑफ ऐक्सेसन) को भरे जाने पर जोर देना विलयन क्रम में बाधक समझा गया। इसलिए परिवहन, सुरक्षा और विदेशी नीति के सम्बन्ध में ही रियासतों को केन्द्र शासन के अधीन लाने का प्रयास उचित माना गया। साम्प्रदायिक झगड़ों की सम्भावना और उन्हें रोकने में रियासतों की असमर्थता को भी विलयन के पक्ष में मानने का निश्चय हुआ। लार्ड माउन्टबैटन की स्थिति, प्रतिष्ठा और रियासतों से सम्बन्ध का प्रयोग विलयन के पक्ष में करने के लिए उनसे सक्रिय सहयोग देने का निवेदन किया गया। उनकी स्वीकृति मिलने पर उन्हें देशी शासकों से प्रत्यक्ष वार्तालाप करने का भार सौंपा गया। देश की एकता और प्रगति में निष्ठा रखने वाले शासकों को मिलाकर उनकी मध्यस्थता से अन्य शासकों को पक्ष में लाने की सम्भावना पर भी विचार किया गया। राजनैतिक-विभाग जो देशी रियासतों और दोनों अधिराज्यों में विराम-समझौता बनाये रखने के लिए एक प्रपत्र प्रकाशित कर चुका था उससे भी विलयन में सहयोग की माँग की गयी। सीमित समय में सैकड़ों रियासतों को भारत में सम्मिलित करने का महान उपक्रम सभी सुलभ साधनों के उचित प्रयोग के आधार पर प्रारम्भ हुआ। इन साधनों को सुलभ कराने में वायसराय के संवैधानिक सलाहकार का पद साथ-साथ सँभालने वाले राज्य-विभाग के प्रमुख सचिव श्री वी० पी० मेनन का विशेष हाथ था। सभी प्रयत्नों में गति लाने का श्रेय लौह पुरुष सरदार पटेल के व्यक्तित्व को था।

सर्वप्रथम श्री मेनन द्वारा तैयार की गयी रियासतों के प्रति सरकारी नीति की घोषणा ५ जुलाई को की गयी। उसमें रियासतों के प्रति कांग्रेस सरकार के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का आश्वासन दिया गया और देश की सांस्कृतिक और

आध्यात्मिक एकता पर प्रकाश डालते हुए शासकों से केवल सुरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध और परिवहन के क्षेत्र में केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत आने का निवेदन किया गया। देश की अपूर्व प्रगति के लिए रियासतों का सहयोग आवश्यक बतलाया गया।

इसके पश्चात ही रियासतों के शासकों से प्रवेश के लिए व्यक्तिगत रूप में निवेदन करने का क्रम अपनाया गया। चेम्बर के चान्सलर से श्री मेनन ने स्वयं वार्तालाप किया और उन्हें रियासतों की अलग रहने वाली नीति के दुष्परिणामों से परिचित कराया। राजनैतिक विभाग के बहकाने की यथार्थता पर प्रकाश डालते हुए मेनन ने चान्सलर से रियासतों को मिलाने में सहयोग देने की माँग की। वास्तविक तथ्यों के स्पष्टीकरण से प्रभावित हो चान्सलर ने सभी प्रकार के सहयोग का आश्वासन दिया। १० जुलाई को सरदार पटेल के निवासस्थान पर ही कुछ राजाओं और रियासत के मंत्रियों से वार्ता की व्यवस्था की गयी। भाग लेने वालों में पटियाला नरेश, उनके मन्त्री, ग्वालियर नरेश, बड़ौदा के मन्त्री, बीकानेर के दीवान प्रमुख थे। इनसे सरदार पटेल ने भारत अधिराज्य में सम्मिलित होने का निवेदन किया। लार्ड माउन्टबैटन से यह अनुरोध किया गया कि वे चेम्बर ऑव प्रिंसेज की सभा में देशी शासकों को किसी न किसी अधिराज्य में मिलने की अनिवार्यता पर प्रकाश दें। सभा की तिथि २५ जुलाई निश्चित की गयी। कार्यक्रम भी उचित समय पर प्रकाशित करा दिया गया। उसमें निम्नांकित चार मदों को प्रमुख स्थान दिया गया :—

(१) सुरक्षा, विदेशी नीति और यातायात के लिए रियासतों का प्रवेश,
(२) विराम समझौता (स्टैंडस्टिल एरेंजमेंट);
(३) राज्य-विभाग के लिए एक सलाहकारिणी समिति का निर्माण, और
(४) रियासतों में केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधित्व और पत्र-व्यवहार की विधि।

इन प्रारम्भिक व्यवस्थाओं के पश्चात ही वस्तु-स्थिति की सूचना पाकिस्तान के लिए कार्य करने वाले राज्य-विभाग को दी गयी। विभाग के प्रमुख को इससे विशेष आपत्ति न हुई लेकिन श्री जिन्ना ने इस नीति का घोर विरोध किया और यह भी घोषित किया कि पाकिस्तान में आने वाली रियासतों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रखी जायगी।

भारतीय-स्वतन्त्रता विधेयक में रियासतों सम्बन्धी प्रावधान

इसी बीच ब्रिटिश संसद में भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक को अधिनियम का रूप दिया जा रहा था। उनमें ऐसे प्रावधान रखने की आवश्यकता थी जिससे

रियासतों के विलयन में सहायता मिल सके। विधेयक के प्रारम्भिक रूप में स्वतन्त्रता के पश्चात देशी रियासतों की स्थिति का विवरण सातवीं धारा में व्यक्त था। उसका रूप इस प्रकार था :—

(१) निश्चित तिथि से संयुक्त राज्य की सम्राट-सरकार पर भारत राज्य की शान्ति और सुशासन का कुछ भी दायित्व नहीं रह जायगा। (वह तिथि १५ अगस्त थी)।

(२) भारतीय रियासतों से भी सम्राट-सरकार का आधिपत्य समाप्त हो जायगा और उनके प्रति जो भी कर्त्तव्य अथवा अधिकार रहे हैं वे भी समाप्त हो जायँगे।

(३) आदिवासी क्षेत्रों में भी अनुदान प्रथा अथवा अनुमति के आधार पर सम्राट-सरकार की जो भी शक्तियाँ, अधिकार अथवा न्याय प्रभुत्व थे वे समाप्त हो जायँगे।

सम्पूर्ण विधेयक को भारत के वायसराय के यहाँ उसके प्रावधानों की उपयुक्तता पर विचार प्रकट करने के लिए भेजा गया था। सुधार आयुक्त (रिफार्म्स कमिश्नर) की हैसियत से मेनन ने द्वितीय अंश को निकाले जाने की सलाह दी। उनका यह विचार था कि जब सर्व-सत्ता के अधिकारों को रियासतों पर लागू करने के लिए कोई विधान नहीं बना तो उसे समाप्त करने के लिए विधान बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। लेकिन प्रमुख न्याय-विद (जूरिस्ट) इस विचार से सहमत नहीं थे। राजनैतिक सलाहकार श्री कॉनरेड कारफिल्ड भी द्वितीय मत को ही मानते थे।

ब्रिटिश सरकार अथवा सेक्रेटरी आफ स्टेट या गवर्नर जनरल और रियासतों के बीच जो भी व्यावसायिक, आर्थिक अथवा वित्तीय समझौता हुआ था उन सबको सर्व-सत्ता के अन्त के साथ ही समाप्त करने के पक्ष में भी मेनन नहीं थे। उनका यह कहना था कि ये समझौते भारत और रियासतों में उनकी जनता के पारस्परिक हितों को दृष्टि में रखकर किये गये थे। इसके अतिरिक्त १९३५ अधिनियम के पश्चात से ही सम्राट-सरकार के वे अधिकार और दायित्व जो रियासतों के प्रति थे व्यावहारिक और संवैधानिक दृष्टि से भारत-सरकार के बन चुके थे। इस दृष्टि से सर्व-सत्ता के अन्त के पश्चात भी भारत-सरकार और रियासतों के बीच हुए समझौतों का स्थिर रहना उचित था।[१]

१. देखिए श्री वी० पी० मेनन की पूर्वोक्त पुस्तक, अध्याय ५, पृष्ठ १०१-१०२।

राजनैतिक सलाहकार ने मेनन के इस दृष्टिकोण का विरोध किया और कैबिनेट मिशन के लार्ड पेथिक लारेंस के विचारों का उल्लेख भी किया। लार्ड पेथिक लारेंस के अनुसार सम्राट प्रतिनिधि के हटते ही सर्व-सत्ता का अन्त होने वाला था और उसके साथ ही सम्राट और राज्यों के बीच के समझौते भी समाप्त माने जाने वाले थे। सलाहकार ने यह भी स्पष्ट किया कि रियासतों से हुए सभी समझौते सर्व-सत्ता की ओर से भारत-सरकार द्वारा किये गये थे। अस्तु, सर्व-सत्ता के साथ उनका भी अन्त स्वाभाविक था।

समझौतों के संबंध में प्रकट किये गये इन दोनों मतों को वायसराय ने निर्णयार्थ इंग्लैंड के भारत-कार्यालय में भेजा। वहाँ से यह आदेश आया कि स्वतन्त्रता विधेयक में सभी समझौतों को समाप्त करने की व्यवस्था होना आवश्यक था। वायसराय के वैधानिक सलाहकारों ने इसको अनुपयुक्त बतलाया। सेक्रेटरी ऑव स्टेट के सुझावों के अनुसार समझौतों को पूर्णतः समाप्त करना सम्भव नहीं था और न तो उन्हें जारी रखना उचित ही था। इसलिए अलग-अलग रियासतों से उनको समाप्त कराना श्रेयस्कर समझा गया। इसके लिए स्वतन्त्रता विधेयक के संबंधित अंशों में परिवर्तन लाने की व्यवस्था हुई।

इन संशोधनों के पश्चात सेक्रेटरी ऑव स्टेट की अनुमति से वायसराय ने स्वतन्त्रता विधेयक को कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को दिखाया। कांग्रेस ने सभी समझौतों और संधियों को समाप्त किये जाने के प्राविधान रखने वाली सातवीं धारा का विरोध किया और विधेयक की दूसरी धारा के अंतर्गत रियासतों को मिलाये जाने की व्यवस्था करने पर जोर दिया। कांग्रेस नेताओं ने समझौते के अन्त से उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थितियों का उल्लेख किया और भारत तथा रियासतों की जनता के लिए यह क्रम अहितकर बतलाया। उन्होंने कैबिनेट मिशन द्वारा देशी रियासतों के लिए प्रस्तुत आलोक-पत्र (मेमोरेंडम) के चौथे प्रघट्टक में उल्लिखित इस तथ्य का भी उद्धरण दिया कि 'नये समझौते के पूर्व प्रचलित सभी समझौतों का नयों के पास होने तक जारी रहने की व्यवस्था हो।' उसी क्रम के अन्तर्गत आलोक-पत्र में यह भी व्यक्त किया गया था कि सर्व-सत्ता के अन्त के बाद सरकारों और रियासतों के बीच आर्थिक समझौते और राजनैतिक संबंध स्थापित हों ताकि सर्व-सत्ता के अन्त के साथ समाप्त होने वाली सन्धियों के कारण शून्य न उत्पन्न हो सके। इसकी ओर निर्देश करते हुए कांग्रेस ने यह सुझाव दिया कि विधेयक में निम्नांकित आशय का एक विराम-खण्ड (स्टैंडस्टिल क्लॉज) लगा दिया जाय :—

"जब तक नयी व्यवस्थाएँ पूर्ण नहीं होतीं सम्राट-सरकार और देशी रियासतों के बीच स्थित संबंध दोनों अधिराज्यों और संबंधित रियासतों के बीच भी जारी रहेंगे।"

कांग्रेस के उपर्युक्त सुझाव से सेक्रेटरी ऑव स्टेट सहमत नहीं थे। उनका यह विचार था कि रियासतें ब्रिटिश राज्य में नहीं थ। और न तो उन पर संसदीय विधान ही लागू हो सकता था। अस्तु, उनकी राय लिये बिना उन पर कोई दायित्व लाना उचित नहीं था। सेक्रेटरी ने यह भी कहा कि चूंकि कैबिनेट मिशन के आलोक-पत्र में उल्लिखित सिद्धान्तों को रियासतें मान चुकी थीं और उन्हीं सिद्धान्तों का उल्लेख ३ जून वाली सत्ता-हस्तांतरण-योजना में किया गया था इसलिए विधेयक में कांग्रेस द्वारा चाहे जाने वाले अंश को जोड़ना रियासतों के साथ पूर्व संविदा का अतिक्रमण करने के बराबर होगा।

लार्ड माउन्ट बैटन ने सेक्रेटरी के इस रुख से रियासतों के हितों को क्षति पहुँचने की सम्भावना बतलायी। इस संबंध में उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि रियासतों के साथ हुए समझौतों और सन्धियों का अन्त तुरत न करके ३१ मार्च १९४८ तक उन्हें चलने दिया जाय। विधेयक की दूसरी धारा के संबंध में वायसराय ने यह मत व्यक्त किया कि उसमें रियासतों और दोनों अधिराज्यों की पारस्परिक स्थिति पर कोई उचित प्रकाश नहीं था। इसके लिए उन्होंने यह सुझाव दिया कि दूसरी धारा में यह तथ्य सम्मिलित कर लिया जाय कि जो रियासतें प्रवेश-लिखत के आधार पर किसी अधिराज्य में सम्मिलित हों उन्हें भी उस अधिराज्य का अंग मान लिया जाय।

वायसराय के ये सुझाव सेक्रटरी द्वारा मान लिये गये। विधेयक की दूसरी धारा में एक नया उपखण्ड निम्नांकित आशय का जोड़ लिया गया :—

"इस धारा की उपधारा ३ के प्रावधानों की सामान्यता पर बिना विपरीत प्रभाव डाले इस धारा में कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं है जिसमें भारतीय रियासतों का किसी भी नये अधिराज्य में प्रवेश निषिद्ध माना जाय।"

विधेयक की सातवीं धारा के अन्त में निम्नांकित आशय का एक अंश जोड़ दिया गया :—

इस धारा के "बी" और "सी" पैरा में दिये हुए तथ्यों के बावजूद भी सीमा शुल्क (कस्टम्स) पारगमन और समाचार-संवहन, डाक और तार या अन्य मिलते-जुलते मामलों में हुई सन्धियों और समझौतों को तब तक प्रभावपूर्ण माना जायगा

जब तक कि शासकों अथवा आदिवासी क्षेत्र के अधिकारियों द्वारा अथवा संबंधित अधिराज्य या प्रान्त द्वारा उन्हें रद्द न मान लिया जाय।[१]

विधेयक के इन संशोधनों और अनुरोधों से देशी रियासतों के विलयन के लिए विधिविहित मार्ग दीख पड़ने लगा। उनसे ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध सर्व-सत्ता के अन्त के साथ ही टूटने का भय भी समाप्त हो गया। लेकिन फिर भी छोटी से छोटी रियासत को पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न बनने के क्रम पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लाया जा सका। यही कारण था कि कांग्रेस उपर्युक्त संशोधनों के पश्चात भी विधेयक से सन्तुष्ट न थी। रियासतों को भारत अधिराज्यों में सम्मिलित होने के लिए राजी करने के क्रम में रखी जाने वाली सतर्कता पूर्ववत आवश्यक रही।

विलयन-क्रम की प्रारम्भिक व्यवस्था

पूर्व निश्चित क्रम के अनुसार २५ जुलाई को चेम्बर ऑव प्रिंसेज की सभा बुलायी गयी। सभा की कार्यवाही के क्रम में लार्ड माउन्टबैटन ने सभी रियासतों को किसी न किसी अधिराज्य में मिलने का सुझाव दिया और भारत अधिराज्यों में प्रवेश करने की सुविधा पर प्रकाश भी डाला। शासकों द्वारा अधिराज्यों में प्रवेश करने अथवा न करने के परिणामों पर प्रश्न भी पूछे गये। वायसराय के उत्तरों से उनकी भ्रान्तियाँ बहुत कुछ मिट गयीं। प्रवेश-लिखत और विराम-संविदा पर विचार करने के लिए एक वार्ता-समिति नियुक्त की गयी। सभा समाप्त होने के पूर्व वायसराय ने पुनः शासकों से अधिराज्य में १५ अगस्त के पहले ही मिलना श्रेयस्कर बतलाया। इस सभा से शासकों को भारत अधिराज्य में सम्मिलित होने के पथ में लाना बहुत सरल हो गया।

वार्ता-समिति ने प्रवेश लिखत को तीन रूप में तैयार किया। पहला रूप पूर्ण सत्ता रखने वाली लगभग १४० रियासतों के लिए था। इसमें केवल सुरक्षा, परिवहन और विदेशी मामलों के लिए रियासतें अधिराज्य में सम्मिलित होने वाली थीं। मिलने वाली रियासतों पर इन सुविधाओं के लिए कोई आर्थिक दायित्व भी नहीं सोचा गया था। दूसरा रूप उन रियासतों के प्रवेश के लिए था जो पहले की अपेक्षा कुछ कम अधिकार रखती थीं। इसको बनाने में यह ध्यान रखा गया था कि प्रवेश के पश्चात रियासतें १५ अगस्त के पूर्व की अपेक्षा अधिक

१. देखिए मेनन की पूर्वोक्त पुस्तक, अध्याय ५, पृष्ठ १०६।

शक्तियां और अधिकार न रखने लगें। तीसरा रूप ३०० से अधिक उन छोटी रियासतों के लिए था जिनमें कुछ १९४३ की योजना के अनुसार निकटवर्ती बड़ी रियासतों में मिला दी गयी थीं। इन्हें केंद्रीय सरकार के प्रत्यक्ष प्रशासन के अंतर्गत रखने की व्यवस्था की गयी थी। उनकी शक्तियों और अधिकारों को केन्द्र में सन्निहित करने के लिए "इक्स्ट्रा प्राविन्सियल जूरिडिक्शन आर्डिनेन्स" बनाया गया। विराम संविदा का रूप तीनों प्रकार की रियासतों के लिए समान ही रखा गया। ३१ जुलाई को प्रवेश-लिखत के तीनों रूप और विराम-संविदा को स्वीकृत कर लिया गया।

इसी बीच २८ जुलाई को लार्ड माउन्ट बैटन के यहां रियासतों के शासकों और प्रतिनिधियों के स्वागत का उपक्रम किया गया। उसमें सरदार पटेल, लार्ड माउन्ट बैटन और मेनन तीनों ने क्रम से शासकों को भारत अधिराज्य में मिलने की प्रेरणा दी। कुछ शासकों ने इस समारोह में एकदम भाग न लिया। कुछ प्रवेश के बिल्कुल विरुद्ध थे और कुछ भावी स्थिति के सम्बन्ध में पूर्णतः संदिग्ध थे। संदिग्ध मनोस्थिति वाले शासकों में अधिकांश ऐसे थे जो विराम-संविदा में भाग लेने के लिए उत्सुक रहते हुए भी प्रवेश-लिखत भरने को तैयार न थे। इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए यह घोषित किया गया कि विराम-संविदा में भाग लेने का अधिकार उन्हीं को है जो प्रवेश-लिखित को मान लें। इस प्रकार के संगठित प्रयास द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी गयी जिसमें अपनी भावी स्थिति की सुरक्षा के लिए भारत-अधिराज्य में प्रवेश करने की अपेक्षा दूसरा और श्रेयस्कर मार्ग रियासतों के लिए शेष नहीं रहा।

देशी रियासतों का विलयन

संविधान सभा में भाग लेने वाली पटियाला और बीकानेर रियासतें सर्व प्रथम प्रवेश-लिखित की पूर्ति कर भारत अधिराज्य में सम्मिलित हुईं। इसके बाद धौलपुर, भरतपुर, बिलासपुर, ग्वालियर, नाभा आदि रियासतें मिलीं। सरदार पटेल और मेनन ने रियासतों का तूफानी दौरा प्रारम्भ किया। लगभग सभी रियासतें धीरे-धीरे 'प्रवेश-लिखत' भरकर भारत अधिराज्य में सम्मिलित हो गयीं। ट्रावनकोर, जोधपुर, भोपाल और इन्दौर के शासकों ने मिलने में कुछ आना-कानी की, लेकिन लार्ड माउन्ट बैटन के निवेदन, मिली रियासतों के शासकों और सभी रियासतों की जनता के जागृत सहयोग, सरदार पटेल के व्यक्तित्व और मेनन की अनुभवपूर्ण प्रतिभा के सबल संयोग से वे रियासतें भी भारत अधिराज्य

में आ गयीं। १४ अगस्त तक हैदराबाद, जूनागढ़, काठियावाड़ की और दो छोटी रियासतों और काश्मीर को छोड़कर भारत की लगभग अन्य सभी रियासतें भारत अधिराज्य में सम्मिलित हो गयीं। १४ अगस्त को ही सभी रियासतों की रेजीडेन्सी को राज्य-विभाग ने राजनैतिक विभाग से प्राप्त कर लिया। १५ अगस्त को सभी राज्यों में राष्ट्रीय ध्वज फहराया गया।

इस प्रकार यह गूढ़ समस्या जो भारत की भावी सुदृढ़ता को अनिश्चित कर रही थी और जिसे १९२७ से ही सुलझाने का प्रयास हो रहा था लगभग ६ सप्ताहों के (५ जुलाई से १४ अगस्त तक) भीतर ही हल हो गयी। ट्रावनकोर, हैदराबाद, भोपाल आदि के शासकों के विरोध करते रहने, मुस्लिम लीग के नेताओं द्वारा विघ्न डालने और ब्रिटिश सरकार के राजनैतिक विभाग के कर्मचारियों का असहयोग होने पर भी यह जटिल कार्य सम्पादित हो सका। इसका इतना शीघ्र सम्पादन लौह-पुरुष सरदार पटेल की विवेकपूर्ण कर्मठता, माउन्ट बैटन के हार्दिक सहयोग, पटियाला, बीकानेर, ग्वालियर, नवानगर आदि रियासतों के शासकों के उत्साह और श्री मेनन की देश-भक्तिपूर्ण कार्यचातुरी से ही सम्भव हो सका।

काश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ रियासतों के शासकों से १५ अगस्त के पूर्व ही किसी अधिराज्य में मिलने का निवेदन किया गया था। काश्मीर के महाराज और हैदराबाद के निजाम से लार्ड माउन्ट बैटन ने स्वयं कहा था लेकिन ये दोनों अपने को पूर्ण स्वतन्त्र रखने के पक्ष में थे। जूनागढ़ के शासक पाकिस्तान में मिलने की व्यवस्था सोच रहे थे। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात ही सरहद्दी जन-जातियों, अफ्रीदियों, वजीर, महसूद स्वायिस और पाकिस्तानी सेना के अवकाश प्राप्त सैनिकों ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। उनसे राज्य को बचाने के लिए काश्मीर के महाराज २६ अक्टूबर, १९४७ को वैधानिक प्रवेश-पत्र भरकर भारत अधिराज्य में सम्मिलित हुए। उसी समय से काश्मीर की सुरक्षा और प्रशासन-व्यवस्था का भार भारत-सरकार पर पड़ा है।

हैदराबाद को भारत अधिराज्य में सम्मिलित होने के लिए लार्ड माउन्ट बैटन अपने जाने तक वार्ता करते रहे। लेकिन लायकअली और रजाकारों के नेता रिजवी के प्रभाव में पड़कर निजाम अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित रखने के लिए ही अटल रहे। रजाकारों का प्राबल्य हैदराबादी गैर मुस्लिमों को त्रस्त कर रहा था; कुछ समय पश्चात भारत-अधिराज्य के निकटवर्ती क्षेत्रों पर भी उनके आक्रमण प्रारम्भ हो गये। पाकिस्तान के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन से इन्हें अपने अत्याचारों को बढ़ाने में और बल मिलता था। अवकाश-प्राप्त विदेशी

सेनाधिकारियों के सहयोग से सैन्यशक्ति आधुनिक सिद्धान्तों पर सुसंगठित हो रही थी। इनके अत्याचार, धमकियां और तैयारियां भारत की सुरक्षा के लिए घातक बन रही थीं। इन सभी स्थितियों को समझते हुए हैदराबाद में शान्ति और सुव्यवस्था रखना अनिवार्य था। निजाम और लायकअली के प्रधान मन्त्रित्व के अन्तर्गत कार्य करता हुआ मन्त्रिमण्डल आततायियों से जनता की रक्षा करने में असमर्थ था। अस्तु, सुव्यवस्था के लिए १८ सितम्बर १९४८ को निजाम और उनके मन्त्रिमण्डल से शासन ले लिया गया। निजाम अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अधिकार संयुक्त राष्ट्र संघ से सुरक्षित कराना चाहते थे लेकिन भारत से हुए समझौतों के अनुसार २३ सितम्बर को संघ से उन्होंने अपना प्रार्थना-पत्र वापस ले लिया।

जूनागढ़ और काठियावाड़ की अन्य दो शेष रियासतों की समस्या को भी वहां की जनता, उनके नेता जैसे श्री ढेबर (राष्ट्रीय कांग्रेस के वर्तमान अध्यक्ष), श्री बलवन्त राय मेहता, श्री सामलदास गांधी आदि और सरकारी अधिकारियों की सहायता से फरवरी १९४८ तक हल किया जा चुका था। इस प्रकार १९४९ के अन्त तक भारत की लगभग सभी रियासतें भारत-अधिराज्य में विलीन हो गयीं।

चतुर्थ खण्ड

विलयन के पश्चात के संगठन : संवैधानिक

विलयन क्रम में लगभग ५५५ देशी रियासतें भारत संघ में सम्मिलित हुई। उनमें हैदराबाद और मैसूर के आकार पूर्ववत ही रखे गये। जम्मू और काश्मीर को प्रवेश-लिखत के आधार पर वहां की संविधान सभा द्वारा निर्णय करने के पूर्व तक सुरक्षा, विदेशी-नीति और परिवहन के लिए ही भारत में प्रविष्ट माना गया था। २१६ छोटी रियासतों को प्रान्तों में मिला लिया गया। ५ रियासतों को केन्द्रीय सरकार के प्रशासन में रखा गया। पंजाब की २१ पहाड़ी रियासतों को मिलाकर हिमांचल प्रदेश बनाया गया। ३१० रियासतों को छः संघों में बदल दिया गया। इस प्रकार ५५५ रियासतों के स्थान पर जम्मू और काश्मीर लेकर १५ प्रशासन क्षेत्र बनें।

इस परिवर्तन के लिए प्रारम्भिक प्रवेश-लिखत अधिकांश मिली रियासतों के सम्बन्ध में पर्याप्त नहीं था। प्रान्तों में मिलायी गयी और अन्य छोटी रियासतों के लिए प्रारम्भिक प्रवेश-लिखत आवश्यक परिवर्तन की व्यवस्था रखता था लेकिन बड़ी रियासतों में उनकी संविधान सभाओं द्वारा बिना स्वीकृति पाये किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रारम्भिक प्रवेश-लिखत के बदले नया रूप तैयार करना और उन पर रियासतों की स्वीकृति पाना अनिवार्य था। सौराष्ट्र संघ में सम्मिलित की जाने वाली रियासतों के साथ प्रवेश-लिखत के परिवर्तन का यह क्रम प्रारम्भ हुआ। मत्स्य, विन्ध्यप्रदेश, राजस्थान, पेप्सु आदि संघों की रचना में भी इसी का प्रयोग हुआ। १९४८ की मई में सभी संघों के राज्य-प्रमुखों और मंत्रियों की एक सभा दिल्ली में बुलायी गयी। उसमें यह निश्चित हुआ कि, मध्य भारत के संबंध में जिस प्रकार के प्रवेश-लिखत का प्रयोग हुआ है और जिससे संघीय और समवर्ती सूची के सभी विषय केन्द्र के अन्तर्गत आ सके हैं अन्य सबों में भी लागू किये जायं। १९४९ में मैसूर महाराज ने भी अपने मंत्रियों की सम्मति से संशोधित प्रवेश-लिखत को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार के प्रवेश-लिखत के प्रयोग से रियासत-संघों और केन्द्र सरकार के बीच अधिकारों का उचित वितरण हो गया। लेकिन विभिन्न संघों में कार्य करने वाले मंत्रि-मण्डल पर केन्द्र का नियन्त्रण नहीं हो सका था। इसकी व्यवस्था भी राजस्थान संघ की तृतीय आवृत्ति में कर ली गयी। जब तक स्थानीय संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान लागू नहीं होता तब तक राज प्रमुख और मन्त्रि मण्डल को भारत सरकार के निर्देशों के अन्तर्गत रखने का निश्चय किया गया। यह क्रम मध्य भारत और ट्रावनकोर-कोचीन में भी लागू कर दिया गया। इसी प्रकार दूसरे संघों के समझौतों में यह सिद्धान्त सम्मिलित कर लिया गया कि यदि समझौते के अनुसार संघ सरकार का चलना सम्भव न हो तो १९३५ ऐक्ट की धारा ९३ के अनुसार केन्द्रीय सरकार से पूर्व अनुमति लेकर राजप्रमुख सम्पूर्ण शासन स्वयं चलायें। इस नियम के बनाये जाने से रियासत-संघों का शासन प्रान्तों के स्तर पर आ गया।

प्रत्येक संघ द्वारा अपनी संविधान सभा से अपने लिए संविधान बनाने का क्रम भी सौराष्ट्र तक ही सीमित रखा गया। सभी संघों के लिए आदर्श संविधान बनाने की व्यवस्था की गयी। इसके लिए राज्य मंत्रणालय द्वारा श्री वी० एन० राउ के सभापतित्व में एक समिति बनायी गयी। इस आदर्श संविधान को बनाने के साथ ही समिति ने यह सुझाव रखा कि प्रत्येक राजप्रमुख अपनी संविधान सभा को इस आदर्श संविधान पर विचार करने का निर्देश दें। उस पर विचार करने के पश्चात यह प्रस्ताव पास किया जाय कि केन्द्रीय संविधान सभा इसे भारतीय संविधान में सम्मिलित करे। इस प्रकार रियासतों और संघों के शासक तथा राजप्रमुख भारत संघ में सम्मिलित हों।

समिति के इन सुझावों को राजस्थान, पेप्सु, विंध्य प्रदेश और मध्य भारत में संविधान सभा के अभाव में कार्यान्वित नहीं किया जा सका। इसी बीच १९ मई १९४९ को रियासतों और संघों के मुख्य मन्त्रियों का एक अधिवेशन हुआ। उसमें भारतीय संविधान के अन्तर्गत ही रियासतों और संघों पर लागू हो सकने वाले संविधान पर विचार किया गया और यह निश्चय हुआ कि भारत के साथ ही सभी मिली रियासतों और संघों में भी संविधान लागू हो। लागू करने के पूर्व विभिन्न रियासतों की इच्छाओं और राज्य मंत्रणालय द्वारा नियुक्त समिति के सुझावों के अनुसार संविधान में कुछ संशोधन भी किये गये। इसके पश्चात सम्पूर्ण भारत में एक साथ नया संविधान लागू हुआ। संविधान सभा न रखने वाले संघों और रियासतों में राज प्रमुख द्वारा ही संविधान अपनाने की घोषणा की गयी।

संविधान में भारतीय रियासतों की स्थिति "बी" और "सी" वर्ग के राज्यों के रूप में निश्चित की गयी थी। केन्द्रीय सरकार के साथ होने वाले सम्बन्ध और आन्तरिक संगठन दोनों दृष्टियों से "बी" वर्ग के राज्य "ए" वर्ग के समकक्ष बना दिये गये। दोनों के लिए प्रशासन संबंधी नियम भी लगभग समान थे। "सी" वर्ग के राज्यों को राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त चीफ कमिश्नर से प्रशासित करने की व्यवस्था की गयी थी। उनमें क्षेत्रीय विधान-सभा और उत्तरदायी मंत्रिमण्डल की सुविधा देने के लिए "सी" वर्ग के राज्यों का प्रशासन अधिनियम १९५१ में बनाया गया। जम्मू और काश्मीर को "बी" वर्ग के राज्यों में सम्मिलित तो कर लिया गया लेकिन संविधान में दिये उस वर्ग के प्रशासन संबंधी नियम उस पर लागू नहीं किये गये। प्रवेश-लिखत के आधार पर ही केन्द्रीय सरकार और उसके बीच के संबंध निश्चित होते रहे। १९५६ में यहां की संविधान सभा द्वारा अपना अलग संविधान बनाने और उसके अनुसार भारतीय संविधान में उचित अंश समाविष्ट करने पर नये संवैधानिक संबंध स्थापित हो सके।

संविधान लागू होने के पश्चात से रियासतों के विलयन का क्रम सम्पूर्ण हो गया। "ए" और "बी" वर्ग के राज्यों के नागरिकों के मौलिक अधिकारों में कोई अन्तर नहीं रहा। दोनों में बालिग मताधिकार के आधार पर चुने विधानमण्डल और उत्तरदायी मंत्रिमण्डल की व्यवस्था हुई। केन्द्रीय सरकार के साथ दोनों का संबंध लगभग समान हो गया। रियासतें सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में आ गयीं। उनके लेखा-परीक्षण का भार महालेखा परीक्षक पर आ गया। सभी भारतीय नागरिकों को चाहे वे किसी भी प्रकार के राज्य में क्यों न हों समान मौलिक अधिकार और वैधानिक प्रतिकार सुलभ हो गये।

देशी रियासतों के विलयन के पश्चात संवैधानिक संगठन करने के साथ प्रशासनिक और वित्तीय संगठन लाना भी अनिवार्य था। भारत-सरकार इनकी ओर भी पूर्ण जागरूक थी। विलयन क्रम में ही प्रशासनिक और वित्तीय संगठन किये जाने का मार्ग अपनाया गया।

प्रशासनिक संगठन

भारत में विलीन हुई रियासतों में कुछ को छोड़ कर शेष प्रशासनिक दृष्टि से पिछड़ी थीं। उनमें सरकार के प्रारम्भिक कार्य भी सम्पन्न नहीं हो पाते थे। सम्पूर्ण शासन-यंत्र कर वसूलने वालों और पुलिस के कर्मचारियों द्वारा संचालित होता था। राजस्व का प्रशासन और भी पिछड़ी स्थिति में था। न्याय-प्रशासन

की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। न्यायाधीशों की नियुक्ति और पदच्युति शासकों की इच्छा पर निर्भर रहती थी। संहितावद्ध कानून का भी अभाव था।

विलयन के पश्चात प्रशासन और न्याय संबंधी उपर्युक्त दोषों को मिटा कर रियासतों के क्षेत्रों को प्रान्तीय क्षेत्रों के स्तर पर लाना आवश्यक था। तभी विलयन का उद्देश्य पूर्ण हो सकता था।

प्रशासनिक संगठन की समस्या अलग-अलग रूप में मिली रियासतों के लिए अलग प्रकार की थी। मैसूर और हैदराबाद रियासतों में जो मिलने के पश्चात भी अपना पूर्व आकार रखती थीं यह बहुत ही सरल थी। केन्द्रीय सरकार वाले इनके कार्य भारत-सरकार के अधीन कर लिये गये। शेष अधिकार इन्हें अन्य प्रान्तों की भांति ही मिल गये। इनके लेखा-परीक्षण का दायित्व भी भारत के महालेखा-परीक्षक के अन्तर्गत आ गया। जो रियासतें चीफ कमिश्नर के प्रान्तों के रूप में बदली गयीं उन्हें भारत-सरकार से भेजे गये कुशल कर्मचारियों के सहयोग से प्रशासन-यंत्र के आधुनिक ढांचे पर संगठित कर लिया गया। दिल्ली प्रान्त के नमूने पर ही उनमें सेवा, न्याय, राजस्व, पुलिस आदि का संगठन हुआ। जो रियासतें पुराने प्रान्तों में विलीन हुईं उन पर प्रशासन के सभी क्रम अन्य जिलों जैसे लागू कर दिये गये। उन रियासतों के पुराने कर्मचारियों को भी योग्यता, अनुभव और पद के अनुसार प्रान्तीय कर्मचारियों में सम्मिलित कर लिया गया।

लेकिन नये संघों के अन्तर्गत विलीन हुई रियासतों का प्रशासनिक संगठन कठिन था। इनका प्रशासन यंत्र मिलने के पहले एक दूसरे से सर्वथा भिन्न था। स्थानीय प्रशासन से लेकर सचिवालय तक सभी नयी व्यवस्थाएं करनी थीं। नयी तहसीलें और जिले बनाने थे। भारत-सरकार के अनुभव प्राप्त कुशल प्रशासकों के सहयोग से इनका प्रशासन भी सुगठित बना दिया गया। इनमें महत्वपूर्ण पदों पर जैसे सलाहकार, प्रमुख सचिव, वित्त सचिव, पुलिस महानिरीक्षक, राजस्व अधिकारी आदि के रूप में भारत के अनुभवी कर्मचारी नियुक्त हुए। इनके नव-स्थापित उच्च न्यायालयों में भारत के अवकाश प्राप्त जजों और प्रान्तों के उच्च न्यायालयों के जजों को जज और मुख्य जज के रूप में नियुक्त किया गया। लगान और करों को लगाने की व्यवस्था प्रान्तों जैसी करनी पड़ी। विभिन्न पदों पर उचित नियुक्तियां करने के लिए प्रान्तों की तरह सेवा-आयोग बनाये गये। राज्य-कर्मचारियों, नेताओं और जनता के सहयोग से धीरे-धीरे प्रशासन-संगठन की प्रमुख समस्याएं हल हो गयीं। राजस्थान में प्रशासन संबंधी संगठन में कुछ कठिनाइयां हुईं। लेकिन अन्य संघों को प्रान्तीय प्रशासन क्रम पर लाने में अपेक्षाकृत सरलता

हुई। रियासतों के विलयन से बनी अलग प्रशासनिक इकाइयों में मनोनीत सदस्यों से विधानमंडल और मन्त्रिमण्डल भी बनाये गये। प्रथम चुनाव इनमें "ए" वर्ग के राज्यों जैसे ही कराये गये। इस प्रकार प्रथम चुनाव के पश्चात से विलीन रियासतों के क्षेत्र का प्रशासन भारत के अन्य क्षेत्रों जैसा ही चलने लगा।

वित्तीय संगठन

यद्यपि विलयन के पूर्व बड़ी रियासतें अधिराज्य में सम्मिलित होकर भी अपनी वित्तीय स्वतन्त्रता स्थिर रखना चाहती थीं लेकिन प्रवेश के पश्चात उनके प्रतिनिधि वित्तीय मामलों में पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करने के पक्ष में हो गये। सितम्बर सन् १९४८ में रियासतों, रियासत संघों और प्रान्तों के प्रतिनिधियों का एक सम्मिलित अधिवेशन हुआ जिसमें अन्य बातों के साथ यह तय हुआ कि विशेषज्ञों की एक समिति बनायी जाय जो रियासतों की प्रस्तुत अर्थ-व्यवस्था का समुचित विश्लेषण करे और केन्द्र से उनका घनिष्ठ संबंध स्थापित करने का मार्ग बताये। २२ अक्टूबर १९४८ को सर बी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में इस समिति की स्थापना की गयी। इस समिति ने यह सुझाव दिया कि केन्द्र द्वारा प्रशासित होने के लिए जो भी आय के स्रोत संग्रहीत हों अथवा रियासतों से सम्पत्तियां प्राप्त हों उसके लिए क्षतिपूर्ति की बाध्यता न हो। लेकिन रियासतों में इस सुझाव से क्षोभ न हो, इसलिए केन्द्र सरकार ने यह आश्वासन दिया कि अंतरिम काल में संघीय साधनों को केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत स्थानान्तरित करने से रियासतों की प्रशासनिक व्यवस्था को जितनी भी आर्थिक क्षति होगी उसे केन्द्र पांच वर्ष तक पूर्ण करेगा। इसके साथ ही संघीय व्ययों को भी करने का आश्वासन दिया गया। पांच वर्ष के पश्चात अगले पांच वर्षों तक क्रमशः घटती दर पर क्षतिपूर्ति करने का निश्चय किया गया। दस वर्ष की इस अंतरिम अवधि के पश्चात रियासतों और रियासत-संघों को दिये जाने वाले सहयोग को केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले सामान्य अनुदान में सम्मिलित किया जाने वाला था।

कृष्णमाचारी समिति ने सभी रियासती क्षेत्रों में आयकर लगाने, आय-कर विभाग द्वारा उसे वसूले जाने तथा आन्तरिक सीमा शुल्क हटाने का भी सुझाव दिया। रियासतों के शासकों को दिये जाने वाले निजी कोष के दायित्व का केन्द्रीय सरकार और राज्यों में होने वाले विभाजन के सिद्धान्त पर भी समिति ने प्रकाश डाला। रियासतों के संघीय करों, शुल्कों, रेल, डाक-तार, मुद्रा-चलन आदि को केन्द्र द्वारा क्रमशः नहीं बल्कि एक साथ लिये जाने का सुझाव समिति ने दिया था।

१९४९ के सितम्बर-अक्टूबर में समिति के इन सुझावों पर भारत सरकार, राज्यों के मन्त्रि-मण्डल, रियासतों और रियासत संघों के प्रतिनिधियों के बीच विचार-विनिमय हुए। उसमें यह निश्चित हुआ कि शासकों को निजी कोष देने का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर ही रहे। विभिन्न रियासतों और रियासत संघों से प्राप्त आय के स्रोतों और सम्पत्तियों के बदले केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये जाने वाले अनुदानों की मात्रा भी निश्चित की गयी। रियासतों के संविदा-संलेखों में इन राशियों का भी उल्लेख करा दिया गया।

संविधान बनने पर विभिन्न रियासतों के साथ हुए वित्तीय समझौतों को संविधान के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर लिया गया। १९५०—५१ वाले वित्त-वर्ष के प्रारम्भ होने तक सभी व्यवस्थाएं पूर्ण संगठित हो गयीं। १ अप्रैल, १९५० से सभी रियासतों के डाक-तार, रेल, करेंसी आदि केन्द्रीय सरकार के अधीन आ गये। कृष्णमाचारी समिति के सुझावों के अनुसार सभी क्षेत्रों में समान रूप से कर लगाने की व्यवस्था भी प्रारम्भ हो गयी। इस प्रकार भारत के विभिन्न खण्डों में प्रचलित वित्तीय कानूनों और पद्धतियों की विषमता जो देश की आर्थिक प्रगति में बाधक थी, समाप्त हो गयी।

विलयन का परिव्यय

राज्य मंत्रालय ने स्पष्ट आश्वासनों के आधार पर ही विलयन की नीति अपनायी थी। नेहरू, सरदार और माउन्ट बैटन तीनों ने रियासतों की आन्तरिक स्वतन्त्रता कायम रखने और केवल तीन निश्चित विषयों पर ही संघ में मिलाने का आश्वासन दिया था। इन आश्वासनों के बीच भी रियासतों के शासकों से पूर्ण अधिकार ले लिया गया। इसके लिए कुछ प्रतिफल देना आवश्यक था। वे प्रतिफल थे निजी कोष, निजी सम्पत्तियों को रखने की छूट तथा वैयक्तिक अधिकार और प्रतिष्ठा कायम रखने की स्वतन्त्रता। इसी से शासकों और उनके वंशजों को सन्तुष्ट रखने की व्यवस्था की गयी। निजी कोष, सम्पत्ति आदि का निश्चय अलग-अलग रियासतों के साथ हुआ। इसके लिए एक विशेष सिद्धान्त निकाला गया। १५ लाख रुपये वार्षिक आय वाली रियासतों के शासकों को १,३०,००० रुपये वार्षिक निजी कोष देना निश्चित हुआ। ५५४ में से ४५० रियासतों में यही सिद्धान्त लगाया गया। सौराष्ट्र में प्रचलित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अधिक निजी कोष निश्चित करना पड़ा। ११ रियासतों में निश्चित सीमा से १० लाख अधिक निजी कोष का प्रबन्ध किया गया और प्रत्येक का निश्चय

अलग-अलग हुआ। हैदराबाद, पटियाला, भोपाल को छोड़कर शेष में स्थानीय मन्त्रि-मण्डलों और नेताओं से सलाह लेकर यह राशि निश्चित की गयी।

इन सभी रियासतों के सम्बन्ध में यह तय किया गया कि सिद्धान्त से अधिक मात्रा वर्तमान शासकों को ही दी जायगी। उनके उत्तराधिकारियों को यह अधिक अंश नहीं दिया जा सकेगा। राजप्रमुखों को निश्चित निजी कोष के अतिरिक्त राष्ट्रपति द्वारा निश्चित कुछ विशेष भत्ता भी दिया जाता था। निजी कोष का अन्तिम निर्णय निम्न प्रकार का था:—

११ बड़ी रियासतों के शासकों को छोड़कर ९१ ऐसे शासक और थे जो एक लाख या इससे ऊपर वार्षिक निजी कोष के हकदार बनाये गये। इसमें

१ से २ लाख तक पाने वाले	४७ शासक
२ से ५ लाख तक पाने वाले	३१ शासक
५ से १० लाख तक पाने वाले	१३ थे और

१ लाख से कम और ५० हजार से अधिक पाने वाले ५६ थे।

५०,००० हजार से भी कम पाने वाले ३९६ शासक थे।

बीकानेर और जोधपुर के महाराजाओं के मरने और गायकवाड़ के च्युत किये जाने से निश्चित निजी कोष में ३१ लाख रुपये वार्षिक की कमी हो गयी।

शासकों द्वारा खर्च की जाने वाली और निजी कोष के रूप में दी जाने वाली कुल राशि लगभग २० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष आती है। इसके अतिरिक्त शासकों की वे निजी सम्पत्तियां भी उन्हें दे दी गयीं जो समझौता करने की तिथि को उनके वैयक्तिक नाम में थीं। निजी सम्पत्ति निर्धारण के लिए वस्तु-सूची-पद्धति अपनायी गयी। इसका निश्चय राज प्रमुखों और उनके मुख्य मंत्रियों की एक बैठक में जो सितम्बर, १९४८ में बुलायी गयी थी किया गया। इसका निश्चय सरलता से भारत सरकार द्वारा भेजे गये प्रतिनिधियों की देख-रेख में हो सका। राज प्रमुखों की निजी सम्पत्ति का निश्चय अधिकांशतः सरदार पटेल द्वारा ही किया गया। इस कार्य को पूर्ण करने में स्थानीय मन्त्रियों और अधिकारियों से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। कुछ शासकों ने अपनी निजी सम्पत्तियों को भी केन्द्रीय सरकार के लिए छोड़ दिया।

रियासतों के शासकों को दी जाने वाली राशियों को व्यावहारिक ज्ञान रखने वाले राजनीतिज्ञ उचित समझते हैं; पर कुछ लोगों की दृष्टि से राशियां बहुत अधिक हैं। लेकिन यदि रियासतों से प्राप्त होने वाली सम्पत्तियों (१२००० मील रेलवे लाइन, ७७ करोड़ नकद रुपया, करोड़ों के महल और भवन) तथा राजनैतिक

सुव्यवस्था व दृढ़ता को दृष्टि में रखें तो उनको दिया जाने वाला धन अधिक नहीं लगता है।

रियासतों का विलयन—एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति

नव-भारत-निर्माण में देशी रियासतों का यह सफल विलयन अपनी अहिंसात्मक और शान्तिपूर्ण पद्धतियों के लिए विश्व के इतिहास में एक अपूर्व क्रान्ति रहा है। प्रमुख राजनीतिज्ञ कैबूर के प्रयत्नों से उन्नीसवीं शताब्दी में इटली की विभिन्न रियासतों का विलयन हुआ था लेकिन उसकी प्राप्ति के लिए युद्ध और शक्ति की हिंसात्मक पद्धति को ही अपनाना पड़ा था। उसी शताब्दि में लगभग उसी समय जर्मनी का एकीकरण भी बिस्मार्क के नेतृत्व में हुआ। वहां की पद्धति भी भारत जैसी सहयोग पूर्ण और अहिंसात्मक नहीं रही।

नव भारत का इतना बड़ा खण्ड शताब्दियों पश्चात एक शासन-संघ के अन्तर्गत आ सका है। देश के विभाजन और पाकिस्तान के बनाये जाने से इसका जितना भाग विलग हुआ उससे अधिक रियासतों के विलयन से बढ़ा।[1] इसके अभाव में ब्रिटिश शासन के समाप्त होते ही देश का लगभग २/५ भाग राजनैतिक दृष्टि से विलग हो जाता। छोटी-बड़ी ५६५ रियासतों के पूर्ण स्वतन्त्र होते ही भारत में मध्यकालीन स्थिति उत्पन्न हो जाती; आर्थिक और सामाजिक प्रगति असम्भव होती; देश की सुरक्षा और सुदृढ़ता एक समस्या बन जाती। लेकिन लौह-पुरुष भूतपूर्व सरदार पटेल के विवेक पूर्ण नेतृत्व, लार्ड बैटन की सहानुभूति और सक्रिय योग, रियासतों के शासकों के दूरदर्शितापूर्ण सहयोग और त्याग तथा राज्य कर्मचारियों की कुशलता से नवजात भारत को छिन्न-भिन्न करने वाली इस विषम समस्या का सरल हल सुलभ हो सका। वह भयंकर चट्टान जिससे भारतीय स्वातन्त्र्य के बेड़े के टकराने और चूर्ण होने का भय था लौह-पुरुष के व्यक्तित्व की प्रभा से तरल हो बेड़े के साथ ही बहने लगी। सरदार की यह कृति भारत के इतिहास में आने वाले तूफानी क्रम को बदल कर सौम्य और प्रगतिपूर्ण प्रवाह को लाने में सहायक हुई। भारत की भावी सन्तानें भी जिन्हें स्वतन्त्र भारत की

१. विभाजन के फलस्वरूप भारत से ३,६४,७३७ वर्ग मील क्षेत्र और ८ करोड़ १५ लाख जन-समूह विलग हुए। देशी रियासतों के मिलने से (जम्मू और काश्मीर छोड़कर) ५ लाख वर्ग मील क्षेत्र और ९ करोड़ ६५ लाख जन-समूह बढ़े।

समृद्धि का उपभोग सुलभ होता रहेगा, नवराष्ट्र की नींव सुदृढ़ बनाने वाले इस कर्मठ नेता को चिर-स्मरणीय रखेंगे।

रियासतों के सफल विलयन पर खड़ी राजनैतिक दृढ़-भित्ति पर ही पुनर्गठन संबंधी नव-चित्र चित्रित किये जा सके हैं। इनकी व्याख्या अगले प्रकरण में की गयी है।

भारत
राज्यों के पुनस्संगठन के बाद
जम्मू व काश्मीर
श्रीनगर
लेह
जम्मू
पश्चिमी पाकिस्तान
हिमाचल प्रदेश
अमृतसर
शिमला
चंडीगढ़
अम्बाला
देहरादून
पं जा ब
नैनीताल
दिल्ली
उत्तर प्रदेश
नेपाल
बीकानेर
राजस्थान
आगरा
लखनऊ
कानपुर
अजमेर
जयपुर
इलाहाबाद
वाराणसी
पटना
गया
बिहार
धनबाद
राँची
बर्दवान
कलकत्ता
गंगटोक
दार्जिलिंग
भूटान
आसाम
गोहाटी
शिलांग
पूर्वी पाकिस्तान
उदयपुर
मध्य प्रदेश
भोपाल
जबलपुर
जामनगर
अहमदाबाद
राजकोट
सम्बलपुर
दमन
बम्बई
नागपुर
कटक
भुवनेश्वर
पुरी
उड़ीसा
बम्बई
पूना
हैदराबाद
विजगापट्टम
आंध्र प्रदेश
अरब सागर
कुरनूल
नेलोर
बंगलोर
मैसूर
मद्रास
पांडीचेरी
कोजीकोड
त्रिचनापल्ली
कोचीन
मदुराय
त्रिवेंद्रम
लंका
बंगाल की खाड़ी
अंडमान द्वीप
निकोबार द्वीप

पांचवां अध्याय

राज्यों का पुनर्गठन

द्वितीय क्रान्तिपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन

कांग्रेस सरकार को नव-भारत-निर्माण में देशी रियासतों को किसी प्रकार भारत संघ में सम्मिलित कर लेने के पश्चात दूसरा क्रान्तिपूर्ण राजनैतिक कार्य, राज्यों का पुनर्गठन करना पड़ा। देश की जनता इसकी मांग बहुत पहले से ही कर रही थी। स्वतन्त्रता के पूर्व कांग्रेस संस्था स्वयं इस मांग की प्रबल समर्थक थी। ब्रिटिश सरकार इसकी महत्ता समझते हुए भी इसे सक्रिय रूप नहीं दे सकी थी। स्वतन्त्रता के पश्चात ही अन्य विकट समस्याओं को सुलझाने और देश में आर्थिक विकास का क्रम प्रारम्भ कराने के साथ ही इस प्रश्न पर भी विचार करना अनिवार्य हो गया। कांग्रेस सरकार और विशेषतः प्रधान मन्त्री आर्थिक प्रगति और राजनैतिक सुदृढ़ता के लिए आवश्यक संगठित प्रयत्नों के सम्मुख राज्य-पुनर्गठन सम्बन्धी निर्णय कुछ समय के लिए टालने के पक्ष में थे। लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों—मुख्यतः देशी राज्यों के विलयन-क्रम की अपूर्णता के कारण राज्यों का पुनर्गठन शीघ्र ही करना अनिवार्य हो गया। आर्थिक और सामाजिक विकास के कार्यों के साथ-साथ सभी क्षेत्रों की जनता की इच्छाओं को देखते हुए देश की एकता में बिना व्यवधान लाये संघ के अधिक भागों की बनावट में क्रान्ति-पूर्ण परिवर्तन लाने का यह कार्य कुशलता पूर्वक करना नव-भारत की राजनैतिक नींव सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक था।

देशी रियासतों का भारत संघ में मिलाया जाना स्वतन्त्रता के ठीक पूर्व की परिस्थितियों को देखते हुए अत्यन्त चमत्कारपूर्ण लगता है। उस कार्य की गति और विशालता से विदेशी राजनीतिज्ञों को भी आश्चर्य हुआ। लेकिन विलयन का जो क्रम रहा उसे पूर्णतः संगठित नहीं कहा जा सकता था। आर्थिक विकास अथवा प्रशासनिक व्यवस्था का बिना ध्यान रखे जिस भी पद्धति से जिन रियासतों को मिलाना सम्भव था मिला लिया गया। परिणाम यह हुआ कि २१६ रियासतें विविध प्रान्तों में मिलीं। ७१ रियासतों को केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों में परि-

र्वतित कर दिया गया। २७५ रियासतों को मिलाकर छः संघ बना लिये गये और तीन रियासतों को मिलाकर भी उनका आकार पूर्ववत रखा गया। इससे संघ में मिले नये क्षेत्रों का रूप बड़ा असन्तुलित था। रियासतों से बनाये गये विभिन्न संघों के अन्तर्गत भी प्रशासनिक संगठन और आर्थिक विकास की असमानता थी।

विलयन के पश्चात से ही उनमें राजनैतिक और प्रशासनिक स्तर को उठाने और उन्हें भारतीय प्रान्तों के समकक्ष बनाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया गया था। लेकिन विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं वाले क्षेत्रों में विकास की गति समान बनाना दुष्कर था। अलग-अलग रियासतों में राजनैतिक-चेतना भी भिन्न थी। कुछ में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन-क्रम में भाग लेने की व्यवस्था हो चुकी थी, औद्योगिक और आर्थिक दृष्टि से उनका विकास भी हुआ था पर अधिकांश में शासकों का एकमात्र प्रभुत्व रहता था। रियासत की सम्पत्तियां और प्रजा राजा के लिए होती थीं। प्रशासनिक दृष्टि से भी रियासतें विकास के विभिन्न क्रमों में थीं। कुछ में शासन-यन्त्र वैज्ञानिक आधारों पर सुगठित हो चुका था पर अधिकांश में मध्यकालीन सामन्तशाही जैसी ही स्थिति थी। ऐसी विषम अवस्थाओं वाले क्षेत्रों को भारत के राजनैतिक दृष्टि से जागृत और प्रशासनिक दृष्टि से संगठित क्षेत्रों से सम्बद्ध करना पड़ा था।

प्रान्तों में मिलायी गयी रियासतें पूर्णतः विलीन हो गयीं, लेकिन राज्य संघों अथवा अपने पूर्व रूप में सम्मिलित रियासतों के लिए संविधान में अलग व्यवस्था की गयी थी। "बी" वर्ग के राज्यों को पूर्व प्रान्तों अर्थात "ए" वर्ग के राज्यों के समकक्ष ही रखने का प्रावधान किया गया। केवल उनमें राज्यपाल के स्थान पर राजप्रमुख की स्वीकृति राष्ट्रपति द्वारा दी जाती थी तथा धारा ३७१ के अनुसार उनकी शासन-व्यवस्था पर देख-रेख करने के लिए निश्चित अवधि तक केन्द्र द्वारा निरीक्षक रखे जाने का प्रावधान था। यद्यपि "बी" वर्ग के राज्यों के लिए अलग यह प्रावधान संघ के सिद्धान्तों के प्रतिकूल प्रतीत होता था, फिर भी इस वर्ग के विभिन्न राज्यों का, केन्द्र से होने वाले सम्बन्ध और "ए" वर्ग के राज्यों के केन्द्रीय सम्बन्ध में विशेष अंतर नहीं था। "सी" वर्ग के राज्यों को केन्द्र द्वारा ही प्रशासित रखा गया। यद्यपि १९५१ के "सी" वर्ग के राज्यों के प्रशासन अधिनियम के अनुसार इन राज्यों में विधानमण्डल कायम करने और उन्हें प्रशासनिक शक्ति देने की व्यवस्था की गयी, पर, संसद के वैधानिक अधिकार और संसद के प्रति केन्द्रीय सरकार के इनके प्रशासन सम्बन्धी दायित्व समाप्त नहीं हो सके।

इस प्रकार संविधान के अन्तर्गत अलग-अलग क्षेत्रों में प्रशासन का संगठन समान नहीं रखा गया। ऐसी स्थिति संक्रमण-काल में किसी तरह मान्य हो सकती थी, पर उसे स्थायी नहीं बनाया जा सकता था। प्रजातन्त्र में संघ के विभिन्न राज्यों में अलग शासन क्रम रखना सम्भव नहीं था और न तो उपयुक्त ही था। विभिन्न आकार वाले राज्यों को समान अधिकार देना भी उचित नहीं था। "सी" वर्ग के कुछ राज्य इतने छोटे थे कि उनमें उत्तरदायी शासन का सफल संचालन होना कठिन था। ऐसी परिस्थितियों में राज्यों का पुनर्गठन अनिवार्य था जिससे देशी रियासतों से बने राज्यों और प्रान्तों के राज्यों में किसी प्रकार का विभेद न रह जाय और सुरक्षा तथा अन्य कारणों से विशिष्ट स्थान रखने वाले क्षेत्रों को छोड़ कर शेष सभी को समकक्ष बना लिया जाय। राज्य-पुनर्गठन द्वारा ही देशी रियासतों के विलयन की सप्रभाविक पूर्णता हो सकी। जो क्रम १९४७ में प्रारम्भ किया गया था उसकी पूर्ति १९५६ में राज्य-पुनर्गठन अधिनियम द्वारा हो सकी। अब रियासतों और प्रान्तों की जनता के अधिकारों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहा और उनकी प्रशासनिक व्यवस्था समान हो गयी।

र्तित कर दिया गया। २७५ रियासतों को मिलाकर छः संघ बना लिये गये और तीन रियासतों को मिलाकर भी उनका आकार पूर्ववत रखा गया। इससे संघ में मिले नये क्षेत्रों का रूप बड़ा असन्तुलित था। रियासतों से बनाये गये विभिन्न संघों के अन्तर्गत भी प्रशासनिक संगठन और आर्थिक विकास की असमानता थी।

विलयन के पश्चात से ही उनमें राजनैतिक और प्रशासनिक स्तर को उठाने और उन्हें भारतीय प्रान्तों के समकक्ष बनाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया गया था। लेकिन विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं वाले क्षेत्रों में विकास की गति समान बनाना दुष्कर था। अलग-अलग रियासतों में राजनैतिक-चेतना भी भिन्न थी। कुछ में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन-क्रम में भाग लेने की व्यवस्था हो चुकी थी, औद्योगिक और आर्थिक दृष्टि से उनका विकास भी हुआ था पर अधिकांश में शासकों का एकमात्र प्रभुत्व रहता था। रियासत की सम्पत्तियां और प्रजा राजा के लिए होती थीं। प्रशासनिक दृष्टि से भी रियासतें विकास के विभिन्न क्रमों में थीं। कुछ में शासन-यन्त्र वैज्ञानिक आधारों पर सुगठित हो चुका था पर अधिकांश में मध्यकालीन सामन्तशाही जैसी ही स्थिति थी। ऐसी विषम अवस्थाओं वाले क्षेत्रों को भारत के राजनैतिक दृष्टि से जागृत और प्रशासनिक दृष्टि से संगठित क्षेत्रों से सम्बद्ध करना पड़ा था।

प्रान्तों में मिलायी गयी रियासतें पूर्णतः विलीन हो गयीं, लेकिन राज्य संघों अथवा अपने पूर्व रूप में सम्मिलित रियासतों के लिए संविधान में अलग व्यवस्था की गयी थी। "बी" वर्ग के राज्यों को पूर्व प्रान्तों अर्थात "ए" वर्ग के राज्यों के समकक्ष ही रखने का प्रावधान किया गया। केवल उनमें राज्यपाल के स्थान पर राजप्रमुख की स्वीकृति राष्ट्रपति द्वारा दी जाती थी तथा धारा ३७१ के अनुसार उनकी शासन-व्यवस्था पर देख-रेख करने के लिए निश्चित अवधि तक केन्द्र द्वारा निरीक्षक रखे जाने का प्रावधान था। यद्यपि "बी" वर्ग के राज्यों के लिए अलग यह प्रावधान संघ के सिद्धान्तों के प्रतिकूल प्रतीत होता था, फिर भी इस वर्ग के विभिन्न राज्यों का, केन्द्र से होने वाले सम्बन्ध और "ए" वर्ग के राज्यों के केन्द्रीय सम्बन्ध में विशेष अंतर नहीं था। "सी" वर्ग के राज्यों को केन्द्र द्वारा ही प्रशासित रखा गया। यद्यपि १९५१ के "सी" वर्ग के राज्यों के प्रशासन अधिनियम के अनुसार इन राज्यों में विधानमण्डल कायम करने और उन्हें प्रशासनिक शक्ति देने की व्यवस्था की गयी, पर, संसद के वैधानिक अधिकार और संसद के प्रति केन्द्रीय सरकार के इनके प्रशासन सम्बन्धी दायित्व समाप्त नहीं हो सके।

इस प्रकार संविधान के अन्तर्गत अलग-अलग क्षेत्रों में प्रशासन का संगठन समान नहीं रखा गया। ऐसी स्थिति संक्रमण-काल में किसी तरह मान्य हो सकती थी, पर उसे स्थायी नहीं बनाया जा सकता था। प्रजातन्त्र में संघ के विभिन्न राज्यों में अलग शासन क्रम रखना सम्भव नहीं था और न तो उपयुक्त ही था। विभिन्न आकार वाले राज्यों को समान अधिकार देना भी उचित नहीं था। "सी" वर्ग के कुछ राज्य इतने छोटे थे कि उनमें उत्तरदायी शासन का सफल संचालन होना कठिन था। ऐसी परिस्थितियों में राज्यों का पुनर्गठन अनिवार्य था जिससे देशी रियासतों से बने राज्यों और प्रान्तों के राज्यों में किसी प्रकार का विभेद न रह जाय और सुरक्षा तथा अन्य कारणों से विशिष्ट स्थान रखने वाले क्षेत्रों को छोड़ कर शेष सभी को समकक्ष बना लिया जाय। राज्य-पुनर्गठन द्वारा ही देशी रियासतों के विलयन की सप्रभाविक पूर्णता हो सकी। जो क्रम १९४७ में प्रारम्भ किया गया था उसकी पूर्ति १९५६ में राज्य-पुनर्गठन अधिनियम द्वारा हो सकी। अब रियासतों और प्रान्तों की जनता के अधिकारों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहा और उनकी प्रशासनिक व्यवस्था समान हो गयी।

द्वितीय खण्ड

राज्य पुनर्गठन का ऐतिहासिक विवरण : ब्रिटिश शासन काल

राज्यों का पुनर्गठन देशी रियासतों के विलयन की पूर्णाहुति होने के साथ ही देश के नागरिकों, राजनैतिक दलों और शासकों की महत्वाकांक्षा का साकार रूप रहा है। भारत के विभिन्न प्रान्तों का संगठन ब्रिटिश सरकार द्वारा दो उद्देश्यों से किया गया था—पहला सुरक्षा और आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सर्व-सत्ता का प्रत्यक्ष आधिपत्य कायम रखना था, दूसरा पहले वाले प्रभुत्व की समाप्ति अथवा उसके विनाश से होने वाली राजनैतिक रिक्तता को पूर्ण करना था। नये प्रान्तों के निर्माण द्वारा पुराने राज्यों की सीमाओं के संस्मरण मिटा कर उनके प्रति पैदा होने वाली परम्परागत भक्ति को समाप्त करने का प्रयास किया गया था।[1] इसके अतिरिक्त सभी प्रान्त ब्रिटिश सरकार के अन्तर्गत एक साथ ही नहीं आ गये थे। साम्राज्य क्षेत्र समुद्र तटों से देश के भीतरी भागों में धीरे-धीरे बढ़ा था। ऐसी स्थिति में प्रशासनिक इकाइयों अर्थात प्रान्तों का जो निर्माण हुआ उसमें किसी प्रकार के विवेकपूर्ण संतुलन लाने का सिद्धान्त व्यवहार में लाना सम्भव नहीं था। अस्तु, प्रशासनिक सुरक्षा व मितव्ययिता तथा सैनिक चालों और सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए ही इनका निर्माण होता गया। बंगाल का विभाजन अथवा बिहार और उड़ीसा का निर्माण या "सेन्ट्रल प्राविन्स" का बनाया जाना ब्रिटिश शासन काल में उपर्युक्त सिद्धान्तों द्वारा ही प्रभावित हुआ था।

प्रान्तों के निर्माण में विवेकपूर्ण वैज्ञानिक योजना का अभाव ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा भी माना जाता था। भारतीय संविधान सुधार सम्बन्धी १९१८ में प्रकाशित रिपोर्ट में यह स्पष्टतः व्यक्त किया गया था कि भारत के प्रान्तों की बनावट कृत्रिम और असुविधाजनक है। उनके आकार का निश्चय किसी विवेकपूर्ण वैज्ञानिक योजना पर आधारित नहीं है वल्कि सैनिक, राजनैतिक अथवा प्रशासनिक

१. स्टेट रि-आर्गनाइजेशन कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ-१।

आवश्यकताओं या तात्कालिक सुविधाओं द्वारा निर्मित है।[1] सन् १९२७ में नियुक्त हुए और सन् १९३० में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करने वाले भारतीय वैधानिक आयोग (साइमन कमीशन) ने भी भारतीय प्रान्तों की सीमा सम्बन्धी अनुपयुक्तता पर प्रकाश डाला था और सीमाओं के पुनर्गठन से सम्बन्धित प्रशासनिक और आर्थिक कठिनाइयों को समझते हुए भी इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक आयोग नियुक्त करने का सुझाव दिया था।[2] उनका यह भी मत था कि भाषा के आधार पर यदि प्रान्तों का विभाजन किया जाय तो उससे क्षेत्रीय स्थिति अवश्य सुदृढ़ होगी और प्रशासन में भी सुविधा होगी। लेकिन प्रान्तों के पुनर्गठन में भाषा के साथ जाति, धर्म, आर्थिक हित और भौगोलिक सामीप्य पर भी विचार करना होगा, तभी व्यावहारिक दृष्टि से उचित परिवर्तन हो सकेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और प्रशासकों द्वारा भारत के प्रान्तों के आकारों की आलोचना की गयी थी। उसमें परिवर्तन लाने की अनिवार्यता और परिवर्तन की पद्धतियों पर प्रकाश भी डाला गया था। लेकिन जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि केवल भाषा को ही प्रान्तों के पुनर्गठन का एकमात्र आधार मानना उपयुक्त नहीं समझा गया। उड़ीसा प्रान्त बनाने की सम्भावना पर विचार करने के लिए १९३१ में नियुक्त ऑडोनल कमिटी ने इन सभी तथ्यों पर विचार करते हुए ही उस प्रान्त के निर्माण का सुझाव दिया।[3] इसी बीच में सिन्ध प्रान्त को बम्बई से अलग करने की माँग सिन्धी मुसलमान और दूसरे मुसलमान नेताओं द्वारा की गयी। भारतीय संवैधानिक सुधार की संयुक्त समिति ने १९३३-३४ में उसे मान भी लिया था। इस प्रकार १९३६ में पहली और अन्तिम बार ब्रिटिश शासनकाल के अन्तर्गत उड़ीसा और सिन्ध के दो प्रान्त भाषा और संस्कृति को दृष्टि में रखते हुए बनाये गये। लेकिन अन्य प्रान्तों को पूर्ववत ही रखा गया।

कांग्रेस के प्रयास

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा भाषा और संस्कृति की समानता के आधार पर प्रान्तों की परोक्ष माँग १९०५ से ही प्रारम्भ हो गयी थी, जब इस संस्था द्वारा

१. रिपोर्ट आन इन्डियन कांस्टीच्यूशनल रिफार्म्स, पारा-२५ और ३०।
२. रिपोर्ट ऑव इन्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन, १९३०।
३. रिपोर्ट ऑव ओरीसा कमिटी, वाल्यूम-१, पारा ६।

बंग-विभाजन को भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतिकूल घोषित किया गया था और उसे शीघ्रातिशीघ्र एक करने की माँग की गयी थी। लेकिन भाषा के आधार पर सभी प्रांतों के पुनर्गठन को अपना स्पष्ट उद्देश्य इस संस्था ने पन्द्रह वर्ष बाद बनाया जब कि १९२० में नागपुर अधिवेशन में इसके लिए प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। १९२७ में जब साइमन कमीशन नियुक्त हुआ उसी समय कांग्रेस ने पुनः यह प्रस्ताव पास किया कि प्रान्तों के पुनर्गठन का समय आ गया है और आंध्र, उत्कल, सिन्ध तथा कर्नाटक प्रान्तों के निर्माण द्वारा इस क्रम का प्रारम्भ किया जाय। १९२८ के सर्वदलीय अधिवेशन में नियुक्त नेहरू कमिटी ने भी इस पर जोर दिया कि भाषा के आधार पर विभिन्न प्रान्तों का पुनर्गठन होने के बाद ही उनमें शिक्षा तथा अन्य विषयक विकास सम्भव हैं क्योंकि किसी भी प्रान्त की सामान्य प्रगति, उसकी संस्कृति, साहित्य और प्रचलित प्रथाओं के सहयोग पर ही निर्भर है और भाषा से इन तीनों का विशिष्ट योग सुलभ है।[1]

सन् १९३६ में उड़ीसा और सिन्ध प्रान्त बन चुकने के बाद १९३७ के कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस ने भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन की मांग को फिर से दुहराया और आंध्र तथा कर्नाटक प्रान्तों के बनाये जाने की सिफारिश की। सन् १९३८ में संस्था की कार्यकारिणी समिति की जो बैठक वर्धा में हुई, उसमें आंध्र, कर्नाटक और केरल के बनाये जाने की माँग करने के लिए सम्बन्धित क्षेत्रों से प्रतिनिधि-मण्डल आये थे। उन्हें यह आश्वासन दिया गया कि प्रान्तों के पुनर्गठन का अधिकार मिलते ही कांग्रेस इस कार्य को प्रारम्भ कर देगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कांग्रेस संस्था भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन का सिद्धान्त बहुत पहले से ही मानती रही और उसके लिए प्रयास भी करती रही। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात १९४५-४६ में अन्तरिम सरकार बनाये जाने के लिए जो चुनाव हुआ उसमें कांग्रेस के घोषणा-पत्र (मेनिफेस्टो) के अन्तर्गत इस सिद्धान्त को पुनः प्रतिपादित किया गया कि भाषा और संस्कृति के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन का प्रयास जहाँ तक सम्भव होगा, किया जायगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात

भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन की जो नीति १९२० से कांग्रेस को मान्य थी उसमें १९४५-४६ की घोषणा से कुछ परिवर्तन मालूम होने लगा। देश के

१. रिपोर्ट आफ नेहरू कमिटी, आल पार्टीज कानफ्रेंस, १९२८, पृष्ठ ६२।

विभाजन और स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात कांग्रेस नेताओं का दृष्टिकोण और भी बदल गया। राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक उन्नति की आवश्यकता और विभाजन के पश्चात उपस्थित हुई विकट समस्याओं के सम्मुख इस प्रश्न को गौण बना दिया गया। लेकिन इस ओर जागरूक वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए संविधान सभा की प्रालेखन-समिति द्वारा एक विशेष आयोग की नियुक्ति हुई जिसे आंध्र, कर्नाटक, केरल और महाराष्ट्र प्रान्तों के निर्माण की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता पर विचार करने और उनसे सम्बन्धित आर्थिक, वित्तीय तथा प्रशासनिक परिणामों का अनुमान करने का भार सौंपा गया। इस आयोग की रिपोर्ट दिसम्बर, १९४८ में प्रकाशित की गयी। उसमें प्रस्तुत परिस्थितियों में प्रान्तों का पुनर्गठन अनुपयुक्त बतलाया गया। आयोग का यह सुझाव था कि राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तथ्यों को प्रश्रय मिलना चाहिए और बाधक तथ्यों का परित्याग होना चाहिए। केवल भाषा के आधार पर किसी प्रान्त का निर्माण देश की एकता में बाधक बन सकता है। अस्तु, आयोग की दृष्टि से नये प्रान्त का निर्माण तभी सम्भव है जबकि भाषा के साथ प्रशासनिक सुविधा हो और उसमें भौगोलिक सान्निध्य, वित्तीय सम्पूर्णता, भावी विकास की योग्यता तथा उस क्षेत्र की जनता की सहमति भी सुलभ हो।[1]

इस आयोग की सम्मति तात्कालिक स्थितियों में प्रान्तों के पुनर्गठन के प्रतिकूल थी और केवल भाषा को आधार मानकर नये प्रान्तों का निर्माण देश की एकता की दृष्टि से अहितकर माना गया। उनके प्रकाश में वस्तुस्थिति पर पुनः विचार करने के लिए कांग्रेस ने दिसम्बर, १९४८ में जयपुर अधिवेशन में तीन व्यक्तियों की एक समिति बनायी। इसके सदस्य पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और डा० पट्टाभि सीतारमैया थे। कांग्रेस द्वारा नियुक्त इस समिति ने प्रथम बार भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन की नीति के विरुद्ध चेतावनी दी। उपर्युक्त आयोग के विचारों की इसने पुष्टि की और यह स्पष्ट कहा कि प्राथमिक महत्ता देश की सुरक्षा, एकता और आर्थिक उन्नति को देनी चाहिए। विग्रह लाने वाली घातक प्रवृत्तियों को कड़ाई से रोकना चाहिए।[2] समिति ने इस पर भी जोर दिया कि भाषा क्षेत्रीय एकता ला सकती है लेकिन इससे राष्ट्रीय विग्रह भी उत्पन्न हो सकता है। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए

१. रिपोर्ट आफ लिंग्विस्टिक प्राविंसेज कमीशन, पैरा—१०।
२. रिपोर्ट ऑव जे० वी० पी० कमिटी, पृष्ठ ४—५।

समिति ने यह सुझाव दिया कि चूंकि भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन का सिद्धान्त अपनाते समय कांग्रेस उसके प्रयोग सम्बन्धी इन समस्याओं का अनुमान नहीं कर सकी थी, अस्तु, उसे व्यावहारिक रूप देते समय प्रत्येक क्षेत्र पर अलग-अलग विचार किया जाय ताकि देश की आर्थिक और राजनैतिक स्थिरता में प्रशासन सम्बन्धी गड़बड़ी न हो अथवा पारस्परिक द्वन्द्व से प्रगति में विघ्न न पड़े। यदि जनता की भावनाओं की प्रबलता के कारण प्रान्तों का पुनर्गठन करना ही पड़े तो प्रारम्भ उन क्षेत्रों से किया जाय जिनका आकार पूर्णतः स्पष्ट और सर्वमान्य हो, लेकिन उपयुक्तता रखते हुए भी सभी क्षेत्रों को एक साथ न लिया जाय। रिपोर्ट में आंध्र राज्य बनाने का भी संकेत था।

समिति के इन सुझावों को कांग्रेस ने १९४९ की अप्रैल में उचित प्रस्ताव द्वारा मान लिया और १९५१ के अपने चुनाव सम्बन्धी घोषणा-पत्र में राज्यों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में उपर्युक्त नीति का ही प्रतिपादन किया। इस प्रकार सन् १९२० से १९३८ तक जो सिद्धान्त इस संस्था की कार्यनीति निर्धारित करने में प्रमुख रहा और जिसको व्यावहारिक रूप देने के लिए उचित अधिकार ढूंढ़ा जा रहा था वही अधिकार मिलने पर वास्तविकता के प्रतिकूल सिद्ध हो गया। राष्ट्र की सुरक्षा और एकता की दृष्टि से यह अनुपयुक्त हो गया। कल्याणी में हुए १९५४ के अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन में अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों के समक्ष इसे पुनः गौण घोषित किया गया।

आंध्र का निर्माण

एक तरफ कांग्रेस संस्था भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन देश की प्रगति में बाधक मानती जा रही थी, दूसरी ओर जनता इसके लिए उतावली हो रही थी। आंध्र प्रान्त बनाये जाने का संकेत १९४९ में ही किया जा चुका था लेकिन उसके क्षेत्र का निर्णय १९५२ तक सम्भव नहीं हो सका। मद्रास शहर की स्थिति के सम्बन्ध में निर्णय नहीं हो पाता था। आंध्र राज्य के पक्ष वाले उसे आंध्र में सम्मिलित कराना चाहते थे लेकिन तामिलनाद कांग्रेस और मद्रास सरकार उसे मद्रास में ही रखना चाहती थी। इसी बीच संसद में प्रधान मन्त्री ने यह स्पष्ट कर दिया कि जे० वी० पी० समिति के सिद्धान्तों के अनुसार ही आंध्र प्रान्त बन सकेगा अर्थात जब तक पारस्परिक विभेद रहेंगे आंध्र का निर्माण सम्भव नहीं होगा। इस स्पष्टीकरण से आंध्र में बड़ा क्षोभ हुआ और राज्य-निर्माण के प्रयत्नों में और बल लाया गया। उसी क्रम में अनशन करते हुए श्री पोत्ति श्री रामुलु का देहा-

वसान हो गया। उसके पश्चात ही जनता में उभड़ती हुई असन्तुष्टि को शान्त करने के लिए तैलगू भाषा-भाषियों का अलग राज्य, "आंध्र", बनाने की घोषणा भारत-सरकार द्वारा की गयी। यह राज्य सभी प्रारम्भिक उपक्रमों की पूर्ति के पश्चात १ अक्टूबर, १९५३ को साकार हो सका। मद्रास नगर मद्रास राज्य में ही सम्मिलित रखा गया।

तृतीय खण्ड

राज्य-पुनर्गठन-आयोग

भाषा के आधार पर निर्मित आन्ध्र राज्य का प्रादुर्भाव जिन दुखद पूर्व-वृत्तों के साथ हुआ उनका प्रभाव देश के दूसरे हिस्सों पर अनुचित पड़ता हुआ प्रतीत होता था। विशेषतः भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की आकांक्षा रखने वाले लोगों में आन्ध्र का क्रम क्षोभ उत्पन्न कर रहा था। उनकी भावनाओं को समझते हुए भारत-सरकार ने २९ दिसम्बर, १९५३ को भारत-संघ के राज्यों को पुनर्गठन पर निष्काम भाव से विचार करने के लिए एक नया आयोग नियुक्त किया। नियुक्ति के प्रस्ताव के अनुसार आयोग को राज्यों के पुनर्गठन की समस्या की वस्तुस्थिति, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा अन्य सम्बन्धित तथ्यों और सुझावों पर विचार करके इस समस्या के सुझाव के लिए प्रमुख सिद्धान्तों और अपनी इच्छानुसार विशिष्ट राज्यों के पुनर्गठन का मार्ग प्रस्तुत करना था। आयोग के सभापति सैयद फज़ल अली तथा अन्य दो सदस्य श्री हृदयनाथ कुँजरू और श्री कवलम माधव पनिक्कर थे।

प्रमुख संस्तुतियाँ

राज्य-पुनर्गठन-आयोग ने अक्टूबर, १९५५ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। रिपोर्ट आठ खण्डों में विभक्त थी। प्रथम में संविधान के अन्तर्गत निश्चित भारत संघ के सभी वर्गों "ए", "बी", "सी", और "डी" के राज्यों के बनाये जाने की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की व्याख्या की गयी थी। उसमें ब्रिटिश शासनकाल के प्रान्तों के निर्माण से लेकर स्वतन्त्र भारत के संविधान के अन्तर्गत विभिन्न वर्गों के राज्यों के बनाये जाने तक की चर्चा हुई। खण्ड के अन्त में यह स्पष्ट किया गया कि संघ के किसी भी राज्य को स्थापित करने, उसके आकार में किसी प्रकार की वृद्धि या कमी करने या उसकी सीमा बदलने का संवैधानिक अधिकार संसद को है क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा स्विटरजलैण्ड के राज्यों की तरह भारत संघ का कोई भी राज्य पहले से सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं था।

द्वितीय खण्ड में आयोग ने प्रान्तों के पुनर्गठन के लिए प्रस्तुत किये गये विविध सिद्धान्तों का ऐतिहासिक विवरण देते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि ब्रिटिश सरकार ने केवल भाषा को पुनर्गठन का आधार संदिग्ध रूप में ही माना था। कांग्रेस ने यद्यपि १९२० में भाषा को पुनर्गठन के मूल सिद्धान्त के रूप में अपनाया था लेकिन बाद में चलकर उसके द्वारा भी भाषा वाले सिद्धान्त के साथ राष्ट्रीय एकता, प्रशासनिक एवम् आर्थिक आवश्यकताओं और दूसरे तथ्यों पर भी विचार करना अनिवार्य माना जाने लगा। आंध्र राज्य की सीमा निर्धारित करते समय भाषा के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध, प्रशासनिक सुविधा और आर्थिक व्यवस्था पर भी विचार किया गया था।

तृतीय खण्ड में आयोग ने राज्यों के पुनर्गठन की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट किया कि देश में बड़े पैमाने पर आर्थिक योजना चलाने के लिए स्थिर राजनैतिक इकाइयाँ होना आवश्यक है, इसके अतिरिक्त देशी रियासतों के विलयन के पश्चात सम्पूर्ण देश के विवेकपूर्ण पुनर्गठन की कठिनाई भी दूर हो गयी थी। उसके बाद पुनर्गठन को और टालना जनता में असन्तोष और निराशा फैलाने का कारण ही होता।

चतुर्थ खण्ड में आयोग ने उन तथ्यों को स्पष्ट किया था जिन्हें राज्यों के पुनर्गठन सम्बन्धी सुझाव देने में उसने उचित समझा और जिनका प्रयोग भी किया। उनका संक्षिप्त उल्लेख निम्नांकित है :—

पुनर्गठन के क्रम में होने वाले परिवर्तनों के परिणामों पर ध्यान रखना आवश्यक है ताकि प्रारम्भ में ही यह अनुमान लगाया जा सके कि पुनर्गठन से जनता को होने वाली सुविधाएँ देश की वित्त-व्यवस्था और प्रशासन पर पड़ने वाले अतिरिक्त भार के अनुरूप हैं अथवा नहीं।

राष्ट्रीय एकता के हित में देश का प्रशासनिक और राजनैतिक ढाँचा राष्ट्र की प्राथमिकता पर आधारित हो।

घातिक क्षेत्रों में राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से ही प्रशासनिक व्यवस्था का निर्धारण किया जाय। सीमा-क्षेत्रों में यदि केन्द्र का प्रत्यक्ष नियन्त्रण न हो तो उसके लिए अपेक्षाकृत बड़े और सम्पन्न राज्यों का निर्माण हो ताकि आवश्यकता पड़ने पर अन्य क्षेत्रों से सुरक्षा के साधन सीमा पर सुलभ किये जा सकें।

भाषा अथवा संस्कृति के एकमात्र मापदण्ड के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन न तो सम्भव है और न वांछनीय ही है। पुनर्गठन का क्रम संतुलित बनाने के

लिए सभी सम्बन्धित तथ्यों जैसे प्रशासनिक सुविधा, आर्थिक प्रगति और राजनैतिक सुदृढ़ता को ध्यान में रखना आवश्यक है।

यद्यपि राज्य-पुनर्गठन सम्बन्धी प्रस्तावों में वित्तीय सम्पन्नता और आत्म-निर्भरता महत्वपूर्ण स्थान रखती है, फिर भी अन्य आवश्यक तथ्यों के साथ ही इन पर विचार करना चाहिए। किसी नये राज्य की वित्तीय सम्पन्नता के साथ उसकी भावी प्रगति की योग्यता तथा संघ के अन्य राज्यों से अनुरूपता पर विचार करना आवश्यक है।

राज्य-पुनर्गठन से पंच वर्षीय आयोजन के प्रवाह में भी अस्त-व्यस्तता आ सकती है इसलिए पुनर्गठन के क्रम में यह भी ध्यान रखना होगा कि आयोजन की प्रगति में कम से कम व्यतिक्रम हो और पुनर्गठन से प्राप्त होने वाली सुविधाएँ आयोजन सम्बन्धी अस्त-व्यस्तता की क्षतिपूर्ति कर सकें।

राज्यों का पुनर्गठन ऐसा नहीं हो सकता जिससे स्पष्ट आर्थिक क्षेत्र बन सकें और न तो आर्थिक निर्भरता को प्रशासनिक इकाइयाँ निश्चित करते समय ही आधार बनाया जा सकता है। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए भी विभिन्न राज्यों में प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता का अन्तर कम से कम रखना वांछनीय होगा।

नये राज्यों का आकार इतना बड़ा अवश्य हो जिसमें प्रशासनिक कुशलता रखी जा सके और आर्थिक विकास तथा कल्याण-कार्यों में समन्वय रह सके। इनके निर्माण में अन्य सिद्धान्तों के साथ जनता की इच्छाओं को भी ध्यान में रखना होगा।

राज्यों के पुनर्गठन में ऐतिहासिक तथ्यों और संबंधों के स्थान पर प्रस्तुत परिस्थितियों को विशेष महत्त्व देना है। ऐतिहासिकता के नाम पर ही किसी राज्य की सीमा अथवा आकार निश्चित करना सर्वथा अनुपयुक्त है। भौगोलिक सान्निध्य भी प्रशासनिक सुविधाओं को दृष्टि में रखते हुए ही विचारणीय है। भौगोलिक तथ्यों को पुनर्गठन में प्रमुख स्थान नहीं दिया जा सकता।

इन उपर्युक्त बातों का सम्यक् विश्लेषण करते हुए आयोग ने खण्ड के अन्त में अपना यह मत व्यक्त किया कि राज्य पुनर्गठन का कोई भी प्रस्ताव किसी एक मापदण्ड से निर्णीत न हो। इस सम्बन्ध के निष्कर्ष प्रत्येक विषय से सम्बन्धित सभी परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर ही निकाले जायँ।

पंचम खण्ड में आयोग ने यह सुझाव दिया था कि राज्यों का पुनर्गठन इस प्रकार हो जिससे उस समय संविधान में व्यक्त राज्यों का वर्गीकरण समाप्त हो जाय। भारत-संघ के प्रायः सभी राज्य एक कोटि के हो जायँ। केवल उन क्षेत्रों में जहाँ विकास अथवा सुरक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार का ध्यान रहना आवश्यक है केन्द्रीय

शासन रहें। संविधान की ३७१वीं धारा को समाप्त कर तथा राज्य प्रमुख की नियुक्ति की प्रथा मिटा कर "बी" वर्ग के राज्यों को "ए" वर्ग के राज्यों के समकक्ष बनाने का प्रयास किया जाय। "सी" वर्ग के राज्यों को जहाँ संवैधानिक, प्रशासनिक और वित्तीय समस्याओं का सुलझाव सम्भव नहीं था, समीपवर्ती राज्यों में मिलाये जाने का सिद्धान्त अपनाया जाय। केवल तीन इस वर्ग के राज्यों—हिमांचल प्रदेश, कच्छ और त्रिपुरा को उनके विकास का क्रम कायम रखने के लिए केन्द्रीय सरकार के निरीक्षण के अन्तर्गत रखने की व्यवस्था की जाय।

राज्य-पुनर्गठन सम्बन्धी सुझाव

रिपोर्ट का छठा खण्ड सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इसी में आयोग ने राज्यों का पुनर्गठित रूप प्रस्तावित किया था। १६ राज्यों और तीन केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों को बनाये जाने की सिफारिश की गयी थी। इनका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है:—

१. **मद्रास**—इस राज्य के उस समय के क्षेत्र में से मालाबार और साउथ कनारा जिले और कोयम्बटूर जिले का कोल्लीगल तालुका अलग कर दिया जाय और उसमें ट्रावनकोर-कोचीन के पाँच तालुके, वगस्थीस्वरम्, थोवला, कैलकुलम्, विलावान्कोड और शेनकोट्टा मिलाये जायँ।

२. **केरल**—यह नया राज्य बनाया जाय जिसमें मद्रास में मिलाये जाने वाले पाँचों तालुकों को छोड़ कर शेष ट्रावनकोर-कोचीन, मालाबार जिला (कोचीन किला और लक्काद्वीप के साथ) साउथ कनारा जिले का कैसेरागोड तालुका और अमीनद्वीप सम्मिलित हों।

३. **कर्नाटक**—यह भी नया राज्य बनाया जाय जिसमें निम्नांकित क्षेत्र मिलाये जायँ:—

(अ) सिरुगप्पा, बेलारी, हांस्पेत तालुकों और बेलारी जिले के मल्लापुरम् सब-तालुका के कुछ हिस्सों को छोड़कर सम्पूर्ण मैसूर राज्य;

(आ) बम्बई के चार कन्नड़ भाषा-भाषी जिले—धारवार, बीजापुर, उत्तरी कैनारा और बेलगाँव (चाँदगढ़ तालुका छोड़कर);

(इ) हैदराबाद के गुलबर्गा और रायचूर जिले;

(ई) कैसेरा-गोड तालुका को छोड़कर मद्रास का साउथ कैनारा जिला

(उ) मद्रास के कोयम्बटूर जिले का कोल्लीगल तालुका;

(ऊ) कुर्ग।

४. हैदराबाद—इसके उस समय वाले क्षेत्र से कर्नाटक के लिए रायचूर और गुलबर्गा अलग करने के साथ-साथ मरथवाड़ा जिलों को भी अलग कर लिया जाय। शेष में इस राज्य के अन्तर्गत तैलगू भाषा-भाषी जिले महबूबनगर, नालगोंडा, खैम्माम के सहित वारंगल, करीमनगर, अदीलाबाद, निजामाबाद, हैदराबाद और बिदार जिले के साथ मेडक तथा आन्ध्र के कृष्णा जिला, नालगोण्डा जिले में निकले अंश मुनैगला सम्मिलित किये जायँ। इस हिस्से के सम्बन्ध में आयोग ने यह भी सुझाव दिया था कि यदि यहाँ की विधान-सभा कम से कम दो-तिहाई के बहुमत से आंध्र राज्य में मिलने के पक्ष में हो तो १९६१ के आम चुनाव के बाद इसे आन्ध्र में मिलाया जा सकता है।

५. आंध्र—इस राज्य के इस समय वाले क्षेत्र में सिरुगप्पा, बेलारी और हास्पेत तालुके तथा बेलारी जिला का मल्लापुरम् सब-तालुका का कुछ हिस्सा मिलाया जाय और कृष्णा जिला का मुनैगला क्षेत्र अलग करके हैदराबाद में मिलाया जाय। मद्रास शहर की स्थिति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का परिवर्तन प्रस्तावित नहीं किया गया।

६. बंबई—इस राज्य के उस समय वाले क्षेत्र से बनकंठ जिले का आबू रोड तालुका और कन्नड़ भाषा-भाषी जिलों—धारवार, बीजापुर, उत्तरी कैनारा और चाँदगढ़ तालुके को छोड़कर बेलगाँव को अलग कर लिया जाय और सौराष्ट्र, कच्छ तथा हैदराबाद के मराठा भाषा-भाषी जिलों उस्मानाबाद, भीर, औरंगाबाद, पर्भनी और नन्देक को सम्मिलित कर लिया जाय।

७. विदर्भ—मध्य प्रदेश के नीचे दिये गये मराठी बोलने वाले जिलों को मिलाकर इस नाम के अन्तर्गत एक नया राज्य बनाये जाने का सुझाव था—बुल्दना, अकोला, अमरावती, योतमल, वर्धा, नागपुर, भंडारा और चांदा।

८. मध्यप्रदेश—विदर्भ राज्य के निर्माण के लिए उपर्युक्त जिलों को विलग करने पर मध्य प्रदेश में निम्नांकित क्षेत्रों को मिलाने का सुझाव था :—

(अ) मध्यप्रदेश के शेष चौदह जिले;

(आ) सम्पूर्ण भोपाल और विन्ध्य प्रदेश;

(इ) मन्दसौर जिले का सुनेल क्षेत्र छोड़कर सम्पूर्ण मध्य भारत; और

(ई) राजस्थान के कोटा जिले की सिरौंज तहसील।

९. राजस्थान—इस राज्य के उस समय वाले सम्पूर्ण क्षेत्र में से सिरौंज तहसील निकालनी थी और अजमेर, बम्बई के बनस्कंद जिले का आबू रोड तालुका,

मध्यभारत के मन्दसौर जिले का सुनैल क्षेत्र तथा पंजाब के हिसार जिले का लोहारू सब तहसील इसमें जोड़नी थी।

१०. **पंजाब**—उस समय वाले पूर्वी पंजाब के क्षेत्र में पेप्सू और हिमांचल प्रदेश मिलाने और हिसार जिले से लोहारू सब-तहसील निकालने का प्रस्ताव था। यद्यपि हिमांचल प्रदेश को केन्द्रीय सरकार के तत्वावधान में रखने का सुझाव भी दिया गया था, लेकिन पंजाब मंत्रिमंडल में उसका एक सदस्य रखे जाने का मत व्यक्त किया गया था।

११. **उत्तर प्रदेश**—इस राज्य का रूप पूर्ववत रखे जाने का सुझाव दिया गया था।

१२. **बिहार**—इस राज्य के आदिवासी क्षेत्र को झारखण्ड राज्य में बदलने की माँग का आयोग ने विरोध किया। उड़ीसा द्वारा चाहे जाने वाले क्षेत्र सरायकेला और खरसवान को बिहार राज्य में रखने की सिफारिश की गयी। लेकिन इसके पूर्वी हिस्से से पूर्णिया जिले का महानन्दा नदी के पूर्व वाले क्षेत्र और मानभूम जिले से चास थाना छोड़कर सम्पूर्ण पुरुलिया को पश्चिमी बंगाल में मिलाने की संस्तुति की गयी।

१३. **पश्चिमी बंगाल**—इस राज्य के पूर्ववर्ती क्षेत्र में बिहार के उपयुक्त हिस्सों को मिलाने की सिफारिश थी। लेकिन बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और आसाम द्वारा एक दूसरे के प्रति अपना क्षेत्रीय हक घोषित किये जाने के कारण उनकी सीमा में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की अनुपयुक्तता बतलायी गयी।

१४. **आसाम**—इसके पूर्ववर्ती क्षेत्र में त्रिपुरा मिलाने और इसके आदिवासी क्षेत्रों के विकास के लिए विशेष ध्यान देने का सुझाव आयोग ने दिया था।

१५. **उड़ीसा**—इस राज्य के क्षेत्र को पूर्ववत रखे जाने का सुझाव था।

१६. **जम्मू और काश्मीर**—इस राज्य के सम्बन्ध में आयोग ने किसी प्रकार का सुझाव नहीं दिया था।

इन सोलहों बड़े राज्यों के अतिरिक्त संघ के कुछ क्षेत्रों को केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत रखे जाने का सुझाव भी आयोग ने दिया था। ऐसे तीन क्षेत्र प्रस्तावित थे—दिल्ली, मणिपुर और अंडमन तथा नीकोबार द्वीपसमूह। दिल्ली के प्रशासन के लिए आयोग ने शक्ति-सम्पन्न कारपोरेशन बनाने का संकेत किया था।

प्रशासनिक और आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित सुझाव

राज्य-पुनर्गठन-आयोग के ये सुझाव भारत के प्रान्तों या राज्यों को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर निरूपित करने के प्रथम प्रयास थे। जिस सक्रिय प्रयोग

की कल्पना ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा की जा रही थी और जिसका मौखिक प्रस्ताव कुछ सीमित आधारों पर ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा १९२० में पास किया गया, उसकी स्थूल रूपरेखा पर्याप्त छान-बीन के बाद इस आयोग ने १९५५ में प्रस्तुत की। संघ के विभिन्न राज्यों के आकार में आमूल परिवर्तन का सुझाव दिया गया था। कुछ नये राज्यों का निर्माण करने और पुराने छोटे राज्यों को बड़ों में विलीन करने के क्रांतिपूर्ण प्रस्ताव थे। राज्यों में वर्गीकरण के आधार पर विभेद का जो दोष संविधान पर लगाया जाता था उसे दूर करने के प्रशस्त मार्ग का प्रदर्शन आयोग ने किया था। लेकिन पुनर्गठन के ये प्रस्ताव केवल भाषा या संस्कृति पर आधारित नहीं थे। आयोग ने प्रशासनिक सुविधा, आर्थिक आयोजन की प्रगति, भौगोलिक सान्निध्य, वित्तीय सम्पन्नता आदि उन सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखा जो उसकी रिपोर्ट के चौथे खण्ड में पुनर्गठन के सिद्धान्त रूप में व्यक्त हैं। फलस्वरूप एक भाषा और संस्कृति रखने वाले राज्यों के निर्माण के प्रस्ताव सम्भव न हो सके। विभिन्न राज्यों में किसी विशेष भाषा के बहुसंख्यकों के कारण दूसरी भाषा के अल्पसंख्यकों का अहित न हो और उन्हें अपनी भाषा में ही आगे बढ़ने का अवसर मिल सके, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखते हुए आयोग ने अपनी रिपोर्ट के सातवें खण्ड में अन्य भाषा-भाषी अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए कुछ विशेष प्रस्ताव प्रस्तुत किये हैं। उनमें मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा पाने की सुविधा दिलाने, राज्य प्रशासन के कुछ क्षेत्रों में राज्य की विविध भाषाओं के प्रयोग की व्यवस्था कराने तथा जन-सेवा में नियुक्ति पाने के लिए की जाने वाली परीक्षाओं में अल्पसंख्यकों की भाषा राज्य की मान्य भाषा अथवा राष्ट्रीय भाषा में से किसी में भी उत्तर लिखने के अधिकार को सुरक्षित कराने वाले प्रस्ताव उल्लेख्य हैं।

आयोग ने राज्यों के पुनर्गठन से उत्पन्न होने वाली प्रशासनिक और आर्थिक कठिनाइयों पर भी विचार किया था। उन कठिनाइयों और समस्याओं का उचित हल निकालने के लिए इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण संस्तुतियाँ भी थीं जिन्हें रिपोर्ट के अन्तिम खण्ड में प्रकाशित किया गया। मिलाये गये राज्यों के कर्मचारियों की अग्रता आदि ध्यान में रखते हुए उनका संगठन करने के लिए एक विश्वस्त निकाय कायम करने का सुझाव था। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों की सम्पत्ति और दायित्व के न्यायपूर्ण वितरण के लिए विशिष्ट साधन का प्रयोग करने का उल्लेख किया गया था। अन्तरिम काल में नये राज्यों को वित्तीय कठिनाइयों का सामना न करना पड़े

इसके लिए केन्द्र द्वारा विशेष योग देने की सिफारिश की गयी थी। आयोग की संस्तुतियों के अनुसार सभी क्षेत्रों में समान रूप से विकास हो, इसकी देख-रेख करने के लिए एक स्थायी निकाय बनाया जाय जिसमें आयोजना के सदस्य भी सम्मिलित रहें। सभी क्षेत्रों में विकास व्यय का समान बँटबारा हो इसके लिए औद्योगिक स्थानीकरण की नीति केन्द्रीय सरकार द्वारा सम्पूर्ण देश के आधार पर निश्चित की जाय। विभिन्न राज्यों में नियुक्त अखिल भारतीय सेवा के कर्मचारियों में से लगभग आधे राज्य के बाहर के हों और उनको एक राज्य से दूसरे राज्य तथा राज्य से केन्द्र को स्थानान्तरित किया जाय। इससे केन्द्र की मर्यादा बनी रहेगी और राज्यों में क्षेत्रीय संकीर्णता का प्रसार नहीं होगा। इन विविध सुझावों को देकर आयोग ने राज्यों के पुनर्गठन को सम्पूर्ण राष्ट्र की प्रगति में बाधक नहीं बल्कि सहायक बनाने का प्रयास किया और अपनी नियुक्ति के समय घोषित विचारणीय विषयों के मूल तत्वों का निर्वाह भी किया।

चतुर्थ खण्ड

राज्यपुनर्गठन की ओर

राज्य-पुनर्गठन सम्बन्धी इन प्रस्तावों के प्रकाशित होते ही सम्पूर्ण देश में अनेक भ्रान्तियाँ फैलीं। केवल भाषा और संस्कृति के आधार पर पुनर्गठन की मांग करने वाले लोगों में बहुत आवेश बढ़ा। महाराष्ट्र वाले विशाल महाराष्ट्र, गुजरात के लोग महागुजरात, सिख अपना अलग क्षेत्र बनाने की आवाज उठाने लगे। "सी" वर्ग के कुछ राज्य विशेषतः विन्ध्य प्रदेश अपना अस्तित्व खोने को तैयार न होते थे। बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम के राजनैतिक नेता अपने राज्यों की सीमा के सम्बन्ध में तरह-तरह के अधिकार घोषित करने लगे थे। कभी एक मुख्य मन्त्री इसके आधार पर पदत्याग की घोषणा करता तो, कभी दूसरे पूरे राज्य में आंदोलन उठ खड़े होने का भय दिखलाते। आवेशों के प्रदर्शनों ने कुछ क्षेत्रों में इतना विकट रूप धारण कर लिया था कि सामान्य शासन क्रम से उसे नियन्त्रण में रखना और शान्ति तथा सद्भाव की सुरक्षा करना असम्भव जान पड़ता था। उत्तेजित जन-समूह को विनाश-पूर्ण संघर्षों से बचाने के लिए कुछ बड़े शहरों में पुलिस को कड़ी नीति भी अपनानी पड़ी थी। ऐसा भय होने लगा था कि कहीं नवजात भारत-राष्ट्र क्षेत्रीय दावाग्नि में झुलस न जाय और पुनः मध्यकालीन स्थिति न लौट आये। लेकिन हर्ष का विषय है कि प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू और गृहमन्त्री पं० गोविन्द-वल्लभ पन्त की विचक्षण शक्ति और देश के अन्य दूरदर्शी नेताओं के सहयोग से स्थिति सँभली। प्रादेशिकता की भावना मिटाने और अखिल राष्ट्र-निर्माण में क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने के लिए देश भर में पांच क्षेत्रीय परिषद और कुछ प्रादेशिक समितियाँ स्थापित करने का निश्चय किया गया। पुनर्गठन के सम्बन्ध में संघर्ष करने वाले राज्यों के पारस्परिक विलयन की चर्चा भी प्रारम्भ की गयी थी।

इन उद्वेलित परिस्थितियों के क्रम में राज्य-पुनर्गठन आयोग की संस्तुतियों में संशोधन लाने के लिए १,२२,१५० आलोक-पत्र केन्द्रीय सरकार को प्राप्त हुए। विविध राज्यों की विधान सभाओं और संसद में भी उन पर पर्याप्त विचार-

विमर्श हुए। १६ जनवरी, १९५६ को भारत-सरकार द्वारा कुछ परीक्षात्मक निर्णय आयोग की अधिकांश संस्तुतियों के आधार पर किये गये। इन निर्णयों से, यद्यपि वे पूर्णतः परीक्षात्मक थे, एक ओर बम्बई और गुजरात में और दूसरी ओर बंगाल, बिहार और उड़ीसा में बड़ी उत्तेजना बढ़ी थी। इन्हें कुछ संशोधनों के साथ विधेयक के रूप में विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं के सम्मुख मत प्रकाश के लिए पुनः रखा गया। सन् १९५६ के अगस्त-सितम्बर में विधेयक पर संसद में विचार किया गया और कुछ संशोधनों के साथ उसे अधिनियम का रूप दिया गया। तीन अधिनियम बनाये गये। बिहार और बंगाल के बीच सीमा सम्बन्धी परिवर्तन के लिए अलग अधिनियम बना; अन्य सभी राज्यों के पुनर्गठन के लिए राज्य पुनर्गठन अधिनियम बना; और पुनर्गठन के कारण संविधान में उचित संशोधन लाने के लिए संविधान-सप्तम संशोधन अधिनियम बना।

राज्य-पुनर्गठन

पहली नवम्बर, १९५६ से अधिनियम लागू किये गये। उसी दिन से भारत के इतिहास में प्रथम बार अखिल देशीय एकता और सुरक्षा के आधार पर भाषा व संस्कृति की समानता, वित्तीय, आर्थिक और प्रशासनिक सुविधा तथा राष्ट्रीय-विकास-आयोजन के सफल संचालन की आवश्यकताओं के अनुसार पुनर्गठित राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रादेशिक स्वच्छन्दता और प्रगति के साथ राष्ट्रीय एकता और विकास का क्रम सजीव हो उठा। वर्षों की कल्पनाएँ साकार हुईं। गतिमान भारत का आलोक-पूर्ण चित्र खिंच गया। सम्पूर्ण भारत संघ का ९८ प्रतिशत जन-समुदाय समानाधिकारी १४ राज्यों और २ प्रतिशत केन्द्र द्वारा प्रशासित ६ क्षेत्रों में अवस्थित हुआ। नये राज्य केरल की उत्पत्ति हुई। आयोग द्वारा प्रस्तावित विदर्भ और बम्बई को मिला कर बम्बई नाम के अन्तर्गत बड़ा राज्य बनाया गया। कन्नड़ भाषा-भाषियों का क्षेत्र मैसूर के अन्तर्गत रखा गया। अवशिष्ट हैदराबाद और आंध्र मिलाकर विशाल आन्ध्र का निर्माण हुआ। आयोग की संस्तुतियों के अनुसार ही मध्य प्रदेश और राजस्थान राज्य बने। आसाम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और जम्मू-काश्मीर राज्यों को पूर्ववत छोड़ा गया। बंगाल और बिहार की सीमाओं का निपटारा नये अधिनियम के अनुसार हुआ जिसमें बिहार के मान-भूमि और पूर्णिया जिले का कुछ अंश पश्चिम बंगाल में मिलाया गया। पंजाब में पेप्सू तो मिलाया गया लेकिन हिमांचल प्रदेश केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत ही रखा गया। त्रिपुरा और लकद्वीप तथा मिनिकाय, अमिद्रिवि द्वीप समूहों को भी आयोग

के प्रस्ताव के अनुसार बड़े राज्यों में न मिला कर केन्द्रीय प्रशासन के अंतर्गत ही रखा गया। इस प्रकार केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत ६ क्षेत्र—दिल्ली, मणिपुर, त्रिपुरा, हिमांचल प्रदेश, लक आदि द्वीप-समूह और अंडमन-निकोबार द्वीप-समूह बने।

संगठन और एकता के प्रयास

प्रादेशिकता की भावना का उग्र प्रदर्शन देखने के पश्चात राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ बनाने के लिए उचित साधनों का प्रयोग प्रारम्भ करना अनिवार्य समझा गया। सम्पूर्ण देश को पांच क्षेत्रों में विभक्त करके प्रत्येक में क्षेत्रीय परिषद करने की व्यवस्था हुई। इनके माध्यम से विभिन्न राज्यों में सहयोग लाने, उनके पारस्परिक विग्रहों और मतभेदों को समाप्त करने तथा केन्द्र की सहायता से सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए सुसंगठित विकास-योजनाएँ बनाने और उनके संचालन करने में बड़ी सरलता हुई। पंजाब और आन्ध्र प्रदेश में मिलाये गये नये क्षेत्रों के हितों की सुरक्षा के लिए विधायकों की प्रादेशिक समितियाँ भी बनायी गयीं जिससे उनके निवासी अपने को उपेक्षित समझकर असन्तुष्ट न हों। केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों में प्रशासन के लिए जन-सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से सलाहकारिणी समितियाँ बनायी गयी हैं जिनसे राज्य-सम्बन्धी विषयों के प्रशासन में तथा क्षेत्र से सम्बन्धित वैधानिक प्रस्तावों और वार्षिक वित्तीय घोषणाएं करने में सरकार द्वारा सलाह ली जाती है। हिमांचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा में जनता को प्रजातन्त्रीय शासन का अनुभव कराने और मतदान का अधिकार प्रयोग में लाने के लिए एक विशेष अधिनियम द्वारा प्रादेशिक परिषद बनाने की व्यवस्था की गयी है। इसमें जनता के प्रतिनिधि स्थानीय शासन चलाने के लिए वैसे ही चुने जाते हैं जैसे राज्यों में विधायकों का चुनाव होता है।

आयोग के सुझावों के अनुसार विभिन्न राज्यों में स्थित अल्पसंख्यक भाषा-भाषियों को शिक्षा-सम्बन्धी सुविधा दिलाने के लिए संविधान में एक नया अनुच्छेद ३५० ए जोड़ा गया। उसके अन्तर्गत प्राथमिक स्तर पर मातृ-भाषा में शिक्षा पाने के अधिकार को सुरक्षा मिली। इसके साथ ही माध्यमिक स्तर पर भी स्पष्ट नीति घोषित करने और उसे कार्यान्वित करने की व्यवस्था भी की गयी। केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों को राज्यभाषा और विभिन्न पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में आयोग द्वारा दिये सुझावों को कार्यान्वित करने की सलाह दी है। संविधान संशोधन के अनुसार अल्प संख्यक भाषा-भाषियों के हितों की सुरक्षा के लिए विभिन्न राज्यों म एक आयुक्त की व्यवस्था की गयी है। पुनर्गठन से उत्पन्न आर्थिक, प्रशासनिक

और वित्तीय मामलों को उचित रूप में सुलझाने के लिए मुख्य मन्त्रियों और मुख्य सचिवों का एक अधिवेशन बुलाया गया था। इसमें सभी विग्रहात्मक तथ्यों पर शान्तिपूर्ण ढंग से समझौता हो गया और पुनर्गठित राज्यों को सुगमतापूर्वक सहयोग-मय विकास के पथ पर बढ़ा दिया गया।

एक अपूर्व कृति

संघ के विविध राज्यों का यह सफल पुनर्गठन कांग्रेस सरकार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति रही है। इससे नव-भारत-निर्माण में अपूर्व योग मिला है और प्रजा-तन्त्र के मूलतत्त्व—सभी नागरिकों को राजनैतिक समानाधिकार—को निर्बाध क्षेत्र सुलभ हो सका है। देशी राज्यों के विलयन से संघ के विभिन्न क्षेत्रों में जो विविधरूपता और राजनैतिक अधिकारों की असमानता उत्पन्न हुई थी उसे पुन-र्गठन द्वारा समाप्त कर दिया गया। देशी रियासतें पूर्ण संवैधानिक रूप से भारत संघ में सदैव के लिए विलीन हो गयीं। सम्पूर्ण देश के आधार पर विकास-योजनाएँ बनाने और उन्हें सफलतापूर्वक चलाने का मार्ग सुगम हो गया। इतना विशद कार्य, जिसके सम्पादन के विषय में ब्रिटिश सरकार सोचती ही रह गयी, स्वतंत्रता मिलने के लगभग ९ वर्ष बाद ही सम्पूर्ण हो गया। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इसके लिए देश की किसी भी विकास-योजना को स्थगित नहीं करना पड़ा। आर्थिक प्रगति अपने निश्चित क्रम से होती रही और देश के सम्पूर्ण चित्र को बद-लने वाली राजनैतिक क्रांति भी पूर्ण हो गयी। यद्यपि आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से राज्यों का पुनर्गठन आदर्श नहीं कहा जा सकता, फिर भी पुनर्गठन के पहले बताये गये सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए इसे उपयुक्त ही मान सकते हैं। इस क्रम में देश के विभिन्न हिस्सों में घटी कुछ घटनाएँ हमारी शान्तिपूर्ण संस्कृति और सहिष्णुता के आदर्शों के अनुरूप नहीं रहीं, फिर भी जिस योग्यता से देश की जनता और उसके नेताओं ने विग्रहात्मक शक्तियों को चलने और भारतीय एकता को सुदृढ़ रखने में योग देकर पुनर्गठन का कार्य पूर्ण कराया, वह भारत के इतिहास में अमर हो गया है। राष्ट्र की भावी सन्तानें इससे देश की एकता के लिए क्षेत्रीय ममता को त्याज्य समझने का प्रोत्साहन निरंतर पाती रहेंगी।

भारत-संघ के राज्यों का यह पुनर्गठन अपनी अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण और शीघ्रगामी विधियों के लिए विश्व के इतिहास में अपूर्व रहा है।

आर्थिक-क्रान्तियाँ

छठाँ अध्याय

आर्थिक योजनाएं

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आर्थिक-सम्पन्नता अनिवार्य

लोकतन्त्र की सफलता देश के नागरिकों में पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ाने से ही स्थिर हो सकती है। इसके लिए एक दूसरे के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान हो, सभी को अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार विकास करने का अवसर मिले, एक वर्ग का दूसरे से शोषण न हो। यदि इनके विपरीत परिस्थिति वर्तमान है तो पारस्परिक कटुता बढ़ेगी और विभिन्न वर्गों में संघर्ष होगा। नागरिकों में होने वाले पारस्परिक विद्वेषों और संघर्षों के बीच लोकतन्त्र का सफल संचालन सम्भव नहीं है। हमारे संविधान की प्रस्तावना में ही, जैसा कि द्वितीय अध्याय में बतलाया गया है, जनता में पारस्परिक सद्भाव और सहयोग स्थापित रखने के इन मूल तत्वों का समावेश हुआ है। जन-साधारण की आर्थिक विपन्नता और विभिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति संबंधी असमानता इनकी प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। इन्हीं कारणोंवश साधन-हीन नागरिकों को विकास की सुविधा नहीं मिलती। वे सम्पन्न वर्गों से शोषित होते रहते हैं और समाज में उपेक्षित जीवन बिताते हैं। साम्यवादी राजनैतिक क्रान्तियों का बीज भी आर्थिक विपन्नता और असमानता की उष्णता से ही अंकुरित होता है। अस्तु, लोकतन्त्र को सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करने के लिए समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक असमानता मिटाना तथा सभी की सम्पन्नता बढ़ाना अनिवार्य है।

भारत में आर्थिक विपन्नता और असमानता

भारतीयों की आर्थिक विपन्नता बहुत पहले से प्रख्यात रही है। यहाँ की कुल राष्ट्रीय आय १९३१-३२ के आधार पर डा० बी० के० रा० वी० राव की गणना के अनुसार १६०० से १८०० करोड़ रुपये के बीच (ब्रिटिश भारत के लिए) आती थी। प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय ६५ रुपये प्रतिवर्ष थी। वितरण की असमानता भी विकट थी। ऐसा अनुमान था कि कुल राष्ट्रीय आय का एक-तिहाई केवल

५ प्रतिशत जन-संख्या उपभोग करती थी, एक-तिहाई से कुछ अधिक ३५ प्रतिशत लोग पाते थे और शेष ६० प्रतिशत लोग कुल आय के एक-तिहाई से भी कम हिस्सा पाते थे।[१] *विद्वत्तापूर्ण कार्यों में लगे लोगों, बड़े-बड़े उद्योगपतियों और भूस्वामियों* की वार्षिक आय औसत से बहुत अधिक थी। साधारण कृषकों और मजदूरों की आय औसत से भी कम थी। गाँवों में रहने वालों की औसत आय नगर-निवासियों की आय से कम थी। स्वतन्त्रता मिलने पर भी लगभग यही स्थिति थी। १९४८-४९ के आँकड़ों के अनुसार भारत की कुल राष्ट्रीय आय ८६५० करोड़ रुपये थी। इस प्रकार प्रति व्यक्ति औसत आय २४६ रुपये वार्षिक थी। पहले के आँकड़ों की तुलना में पाँचगुणी वृद्धि प्रतीत होती है। लेकिन इस बीच में हुई कीमत-तल की वृद्धि को देखते हुए वस्तुस्थिति में विशेष सुधार नहीं माना जा सकता। १९३८-३९ के आधार पर ही १९४८-४९ का सामान्य कीमत-तल निर्देशांक ३७६·२ था।[२] आय-वितरण की असमानता भी लगभग पूर्ववत थी। निम्नांकित तालिका में राष्ट्रीय आय के विभिन्न स्रोतों और उन पर निर्भर जन-संख्या के आनुपातिक प्रतिशतों में की गयी विवेचना इसी तथ्य की ओर संकेत करती है।

आय के विविध स्रोत	कुल राष्ट्रीय आय में उनका प्रतिशत	स्रोतों पर निर्भर जन-संख्या का प्रतिशत
कृषि	४९	६९·८
खानें और बड़े-छोटे उद्योग	१७	१०·६
वाणिज्य, परिवहन और समाचार संवहन	१८·५	७·५
अन्य सेवाएं	१५·५	१२·१
	१००·०	१००·०

१. शाह और खम्बटा "वेल्थ एण्ड टैक्सेबुल कैपेसिटी आफ इंडिया।"

२. भारत-सरकार के आर्थिक सलाहकार के कार्यालय द्वारा प्रकाशित आँकड़ों के अनुसार।

विविध उत्पादन-कार्यों की दृष्टि में कुल राष्ट्रीय आय और कुल जन-संख्या का उपर्युक्त विवरण यह स्पष्ट करता है कि कृषि-क्षेत्रों में लगे लोगों की औसत आय अन्य क्षेत्रों में कार्य करने वाले लोगों से कम थी। इसमें भी कुल उत्पादन का अधिकांश बड़े भूस्वामियों को मिलता था। भूमिहीन कृषकों की, जिनका अनुपात कुल जन-संख्या का लगभग १३ प्रतिशत था, मजदूरी के रूप में बहुत न्यून आय होती थी। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी अधिकांश कार्यकर्ताओं और स्वामियों तथा बड़े कर्मचारियों की आय में बहुत विषमता थी। आय-वितरण की विषमता मिटाना भारतीय लोकतंत्र को सुरक्षित रखने के लिए अनिवार्य था।

सर्वतोमुखी सम्पन्नता के लिए आयोजन की आवश्यकता

आय के वितरण की विषमता मिटा देने मात्र से ही देश की आर्थिक समस्या को सुलझाना सम्भव नहीं था। वितरण की समानता के प्रयास तो केवल दारिद्रय-प्रसार के साधन बनते। आर्थिक सम्पन्नता लाने के लिए उत्पादन में वृद्धि आवश्यक थी। पश्चिम के विकसित देशों की तुलना में भारत की कुल राष्ट्रीय आय बहुत ही कम थी जबकि जन-संख्या में इसका ऊँचा स्थान रहा है। देश के उत्पादन की यह स्थिति यहाँ की प्राकृतिक सम्पन्नता देखते हुए बहुत ही शोकप्रद थी। केवल आधुनिक ढंग के प्रयोगों के अभाव में यहाँ की अतुल जन-शक्ति और विविध प्राकृतिक सम्पत्ति निरर्थक हो रही थी। सम्पन्नता के सभी उपकरण विद्यमान रहते हुए भी जनता विपन्नता से पीड़ित थी। सभी क्षेत्रों में उत्पादन-स्तर उठाने के लिए आधुनिक विधियों और जानकारियों का प्रसार करना था। देश में संतुलित औद्योगीकरण के विकास का समुचित आधार बनाने के लिए मूल और बृहद उद्योगों को पर्याप्त संख्या में स्थापित करना था। उपभोग की विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने तथा रोजगारी के विविध स्रोत प्रस्तुत करने के लिए कुटीर उद्योगों को आधुनिक प्रावैधिकी के योग से बड़ी संख्या में चलाना था। सम्पूर्ण देश के विभिन्न क्षेत्रों को एक दूसरे से संबद्ध करने तथा कच्चे मालों, निर्मित पदार्थों और श्रम की गतिशीलता बढ़ाने के लिए परिवहन और समाचार-संवहन के आधुनिक साधनों का प्रसार भी आवश्यक था। जनता को दीर्घकालीन शिथिलता से मुक्त करा कर उसे विकासोन्मुख बनाने के लिए उचित प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करनी थी। इन सबके साथ समाज के पिछड़े वर्गों में कल्याण के विशेष कार्यों का सम्पादन कराना था। एक साथ और निश्चित समय में समाज का यह सर्वतोमुखी विकास करना आवश्यक था। इसी की पूर्ति के लिए स्वतन्त्रता

के पश्चात शीघ्र ही पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ १९५१–५२ से किया गया।

आर्थिक आयोजन के रूप में संगठित विकास के प्रयत्न सामान्य परिस्थितियों में नहीं करने थे। विभाजन-जन्य विषम समस्याएँ, जिनमें लाखों की संख्या में आये विस्थापितों के पुनर्वास का प्रबन्ध उग्रतम था, साथ-साथ सुलझानी थीं। भारतीय निर्यात के प्रमुख स्रोत जूट-उद्योग और करोड़ों भारतीयों के जीवन-स्तर को प्रभावित करने वाले वस्त्रोद्योग के लिए कच्चे माल की व्यवस्था करनी थी। प्रतिवर्ष लाखों टन खाद्यान्न के अभाव को पूरा करके दुर्भिक्ष जैसी परिस्थितियों को मिटाना था। बढ़ते हुए कीमत-तल को सर्व-साधारण के कल्याण के लिए निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत रखना था। इनमें से प्रत्येक समस्या इतनी भीषण थी कि उसकी तनिक भी अवहेलना सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट-भ्रष्ट कर सकती थी। इन सब पर उचित ध्यान देते हुए प्रजातन्त्रात्मक विधियों से विकास का क्रम प्रारम्भ करना था। उसके लिए सभी उपकरणों के निश्चय और प्रयोग का भार सरकार पर ही था। विकास-कार्यों में सहयोग देने के लिए जनता को बाध्य नहीं बल्कि राजी करना था। इन्हीं सीमाओं के साथ विकास-योजनाओं को सफलतापूर्वक चलाकर सामाजिक विषमताओं को दूर करना था और भावी प्रगति का सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करना था।

संगठित विकास द्वारा देश को समृद्ध बनाने का विचार बिलकुल नया नहीं रहा। प्रथम महायुद्ध के पश्चात रूस की राजनैतिक और आर्थिक क्रान्तियों तथा उनकी सफलता से सभी राष्ट्र प्रभावित हुए थे। तभी से अर्थ-व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए संगठित आयोजनों की चर्चा चली थी। भारत भी उस प्रभाव से अछूता नहीं था।

द्वितीय खण्ड

भारत में आर्थिक योजनाओं का प्रारम्भ

भारत की अधिकांश विपन्न जनता को समृद्ध बनाने की चर्चा यहाँ की राजनैतिक जागृति के साथ ही प्रारम्भ हो गयी थी और सन् १९३४ में सर विस्वेसरैया ने "प्लांड इकॉनामी फार इंडिया" नामक पुस्तक में देश की विकास-योजना का एक संक्षिप्त रूप देने का प्रयास किया था। फिर भी सन् १९३८ के पूर्व इस ओर कोई संगठित प्रगति नहीं हो सकी। उस वर्ष उद्योग-मन्त्रियों के अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार देश की दरिद्रता और बेकारी मिटाने तथा आर्थिक उत्पादन और सुरक्षा लाने में सहायक उद्योगीकरण के लिए व्यापक राष्ट्रीय योजना बनाने के उद्देश्य से कांग्रेस के तत्वावधान में एक राष्ट्रीय आयोजन समिति की स्थापना की गयी। उसके सभापति पं० जवाहरलाल नेहरू और अवैतनिक प्रमुख सचिव श्री के० टी० शाह बनाये गये। इस समिति ने अपने प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति एवं राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विविध क्षेत्रों से संबंधित आँकड़ों की प्राप्ति के लिए कुछ उपसमितियाँ बनायी थीं। कृषि, उद्योग, श्रम और जन-संख्या, वाणिज्य और वित्त, यातायात, जन-कल्याण, शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान आदि प्रमुख विषयों पर छानबीन करने के लिए कुल २९ उपसमितियां कायम की गयी थीं। सन् १९४० तक इनका कार्य वेग से चला था पर इसके पश्चात अधिकांश कार्यकर्ताओं की जेलयात्रा के परिणामस्वरूप सन् १९४५ तक कार्य स्थगित रहा। सन् १९४५ की जेलमुक्ति के बाद फिर कार्य प्रारम्भ हुआ। चूँकि सभी क्षेत्रों के आँकड़े तब तक पुराने हो चुके थे, अस्तु, युद्धजनित परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनमें फिर से नवीनता लायी गयी। इस प्रकार सन् १९४९ तक सभी उपसमितियों की रिपोर्टों को प्रकाशित कराया जा सका।

इस बीच युद्धकाल में ही, जब राष्ट्रीय आयोजन समिति का कार्य स्थगित हो चुका था, देश के आठ प्रमुख उद्योगपतियों---श्री घनश्यामदास बिड़ला, सर श्रीराम, सर पुरुषोत्तमदास, ए० डी० सर्राफ, आदर्शिर दलाल, श्री जे० आर० डी० ताता, कस्तूरभाई लालभाई और डा० जान मथाई ने मिलकर एक १५

वर्षीय योजना प्रकाशित की। इसका प्रमुख उद्देश्य कृषि की उपज को दूना और औद्योगिक उपज को पाँचगुना बढ़ाकर राष्ट्र की कुल आय को तीनगुना और वैयक्तिक आय को दुगुना बनाना था। यह विकास लाने के लिए कुल योजना पर १५ वर्षों में १०,००० करोड़ रुपये व्यय करना था। उसमें से ४४८० करोड़ रुपये उद्योग में, १२४० करोड़ रुपये कृषि में, ९४० करोड़ रुपये यातायात में, ४९० करोड़ रुपये शिक्षा में, ४५० करोड़ रुपये स्वास्थ्य में, २२०० करोड़ रुपये गृह-निर्माण में और २०० करोड़ रुपये अन्य कार्यों में लगने वाले थे। यह योजना कुछ समय तक के लिए विवाद का प्रमुख विषय बनी रही लेकिन कार्य-रूप में परिणत नहीं हो सकी। लगभग इसी समय "इंडियन फेडरेशन आफ लेबर" के तत्वावधान में श्री एम० एन० राय द्वारा रचित एक दूसरी दसवर्षीय योजना "जन-योजना" नाम के अन्तर्गत प्रकाशित की गयी। इसके संचालन के लिए १५००० करोड़ रुपये का अनुमान लगाया गया, जिसमें से कृषि पर २९५० करोड़ रुपये, उद्योग पर ५६०० करोड़ रुपये, यातायात पर १५०० करोड़ रुपये, स्वास्थ्य पर ७६० करोड़ रुपये, शिक्षा पर १०४० करोड़ रुपये और गृह-निर्माण में ३१५० करोड़ रुपये लगाने की बात सोची गयी थी। इसका प्रमुख उद्देश्य जनता की अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन आवश्यकताओं को पूरा करना था। उनकी क्रयशक्ति की वृद्धि पर विशेष महत्त्व नहीं दिया गया था।

इन्हीं योजनाओं के प्रकाशन के पश्चात ही श्री एस० एन० अग्रवाल (वर्तमान अखिल भारतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के प्रमुख सचिव) ने एक नैतिक और आचारिक सिद्धान्तों पर आधारित दसवर्षीय दूसरी योजना "गांधी योजना" नाम से निकाली। इसमें भारतीय संस्कृति के अनुकूल जीवन बनाने और उसी के आधार पर सम्पूर्ण समाज को संगठित करने को विशेष महत्त्व दिया गया था। इसकी सम्पूर्ण अवधि में ३५०० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था बनायी गयी थी, जिसमें से १२१५ करोड़ रुपये कृषि पर, ३५० करोड़ रुपये कुटीर-उद्योग पर, १००० करोड़ रुपये बड़े तथा मूल उद्योगों पर और १११५ करोड़ रुपये लोकोपयोगी सेवाओं पर लगाये जाने वाले थे। लेकिन यह योजना भी कार्यान्वित नहीं हो सकी।

युद्ध के पश्चात भारत-सरकार द्वारा देश को औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध बनाने का प्रयास प्रारम्भ हो गया। कृषि के विकास के लिए खरेघाट की योजना और औद्योगिक प्रशिक्षण के लिए बर्न महोदय के आलोक-पत्र इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। लेकिन इन्हें सुसंगठित योजना का रूप नहीं माना जा सकता। सन् १९४७ में सलाहकार योजनामंडल की स्थापना श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में

कार्य करने के लिए की गयी। इस मंडल ने सम्पूर्ण देश की स्थायी आर्थिक प्रगति के लिए अपनी कुछ प्रमुख संस्तुतियाँ दी थीं। उनके अनुसार विकासवादी योजना के प्रमुख उद्देश्य जनसाधारण का जीवन-स्तर ऊँचा करना, सभी के लिए लाभ-पूर्ण नियोजन का प्रबन्ध करना एवं राष्ट्र की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध करना, निश्चित किये गये। उनके यह भी सुझाव थे कि योजना को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए आवश्यक पूँजी, यंत्रों और औद्योगिक कुशलता का अभाव न होने पाये; उद्देश्य की प्राप्ति में निश्चित प्राथमिकता दी जाय; खाद्य एवं अन्य आवश्यक सामग्रियों की पैदावार बढ़ाने पर विशेष जोर दिया जाय और सर्वतोमुखी योजना की रचना और उसके संचालन के लिए एक स्थायी योजना-आयोग बनाया जाय।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात ही विशाल विस्थापित जनसमूह की पुनःस्थापन संबंधी समस्याएँ, खाद्यान्नों एवं अन्य कच्चे मालों के अभाव तथा काश्मीर में युद्ध-जन्य परिस्थितियाँ नव-निर्मित राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पश्चात ही विकास-वादी योजना की ओर उसे बढ़ने देने में पूर्णतः बाधक थीं। लेकिन इनके सुलझाने का क्रम ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार अपने पूर्वनिश्चित आदर्शों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होती गयी। अप्रैल सन् १९४८ में स्वतंत्र भारत सरकार की औद्यो-गिक नीति निश्चित हुई। इसी के अनुसार निर्माण और विकास कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १९४९ तक राष्ट्रीय योजना समिति की लगभग सभी रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी थीं। इसके पश्चात ही सलाहकारिणी योजना मण्डल की संस्तुतियों के अनुसार सम्पूर्ण देश के सर्वतोमुखी विकास के लिए संगठित योजनाओं का निर्माण और उनका संचालन करने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार के प्रस्ताव द्वारा मार्च सन् १९५० में पं० नेहरू के सभापतित्व में आयोजना-आयोग की स्थापना की गयी।

आयोजना-आयोग को भारतीय संविधान के आधारभूत सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए जनसाधारण के जीवन-स्तर में शीघ्र उन्नति लाने के निमित्त उत्पादन और सेवा-योजन के साथ देश की सम्पत्तियों का कुशल उपयोग कराने का भार सौंपा गया। उसके लिए उसे निम्नलिखित कार्य करना पड़ा है:—

१—राष्ट्र की पूंजी, जनशक्ति एवं उसकी औद्योगिक कुशलता तथा अन्य साधनों का पूरा पता लगाना और यदि उसमें से किसी की मात्रा में आवश्यकता के अनुसार कमी हो तो उसे पूरा करने की सम्भावनाओं की खोज करना।

२—राष्ट्र के इन साधनों का प्रभावपूर्ण और संतुलित उपयोग करने के लिए उचित योजनाओं का निर्माण करना।

३–योजना में प्राथमिकता निश्चित करते समय उसकी विभिन्न अवस्थाओं को स्थिर करना और प्रत्येक अवस्था की उचित पूर्ति के लिए साधनों के वितरण की व्यवस्था करना।

४–आर्थिक विकास की बाधाओं को बतलाना और प्रस्तुत सामाजिक तथा राजनैतिक स्थितियों में योजना को सफलतापूर्वक संचालित रखने की शर्तों को निश्चित करना।

५–योजना की प्रत्येक अवस्था के संबंध में उचित शासन-व्यवस्था निश्चित करना।

६–योजना के कार्य-काल में उसकी प्रत्येक अवस्था की प्रगति का अनुमान लगाना और यथावश्यक संशोधन और सुधार के लिए सुझाव देना।

इस आयोग ने केन्द्रीय और राज्य-सरकारों तथा प्रमुख उद्योगों के प्रतिनिधियों से सलाह लेकर जुलाई, १९५१ में पांच वर्ष के लिए विकास योजना की रूपरेखा का प्रारूप प्रस्तुत किया। इस प्रारूप का समुचित विवेचन केन्द्रीय सरकार, राज्य-सरकारों, उद्योग, वाणिज्य, श्रम और कृषि का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं और समुदायों द्वारा किया गया। इन्हीं विवेचनों के आधार पर कुछ संशोधनों के साथ प्रथम-पंचवर्षीय आयोजन का अन्तिम रूप दिसम्बर सन् १९५२ में प्रकाशित कराया गया। इसका कार्यकाल १९५१–५२ से लेकर १९५५–५६ तक था। योजना के विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने में केन्द्रीय और राज्य-सरकारों तथा अन्य संस्थाओं में सहयोग रखने और विविध विकास संबंधी कार्य-क्रमों को कार्यान्वित कराने में योग देने के लिए अगस्त, सन् १९५२ में राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गयी।

भारतीय आयोजन के मूलतत्व

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रमुख अंगों और उसकी प्रगति का विश्लेषण करने के पूर्व भारतीय आयोजन-क्रम की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालना उचित होगा। उन्हीं तथ्यों की दृष्टि से योजना की उपादेयता आंकी जा सकती है। ये तथ्य निम्नांकित हैं:—

१–भारत में विकास योजनाओं का क्रम दीर्घकालीन रखा गया है। विकास की गति परिस्थितियों के अनुकूल रखने के लिए नीतियों तथा लक्ष्यों को पंचवर्षीय खण्डों में विभक्त करने की व्यवस्था है। प्रथम पंचवर्षीय योजना उसी दीर्घकालीन क्रम का प्रथम खण्ड था और दूसरा खण्ड द्वितीय पंचवर्षीय योजना है।

२—विकास-योजनाओं के अन्तर्गत समाज के प्राकृतिक और मानवीय शक्तियों के अधिक से अधिक उपयोग द्वारा उत्पादन और रोजगारी बढ़ा कर सामान्य जीवन-स्तर को उठाना है, साथ ही आर्थिक और सामाजिक समानता भी लानी है। इसके लिए विभिन्न क्षेत्रों और विधियों में परिवर्तन ही नहीं लाना है बल्कि उन प्रचलित सामाजिक व्यवस्थाओं और रूढ़ियों को भी बदलते रहना है जो उत्पादन, रोजगारी, और आर्थिक तथा सामाजिक समानता और विकास लाने में बाधक हो रही हैं।

३—विकास के विभिन्न क्रमों को साम्यवादी देशों के ढंगों से नहीं चलाना है बल्कि प्रजातन्त्रात्मक ढंग से जनता को सुशिक्षित और विकसित बनाते और उनसे सहयोग लेते हुए आगे बढ़ना है।

४—विकास योजनाओं की सफलता के लिए भारत सरकार को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में प्रयत्न करने हैं। उन क्षेत्रों में जहां निजी संस्थाएं नहीं चल सकतीं अथवा उनका रहना सामाजिक हित के प्रतिकूल है सरकार को ही सक्रिय भाग लेना है लेकिन जिनमें निजी प्रयास हो रहे हैं, सरकार को अपनी आर्थिक और अन्य प्रकार की नीतियों द्वारा परोक्ष रूप से विकास में सहायक होना है।

५—सभी उद्देश्यों और नीतियों को एक बार स्थिर किये जाने के बाद भी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है। सभी स्थिति में राष्ट्र का सर्वतोमुखी विकास ही उनकी उपयुक्तता का एकमात्र माप-दण्ड है।

तृतीय खण्ड

प्रथम पंचवर्षीय आयोजन

इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर प्रथम पंचवर्षीय योजना बनायी गयी। असाधारण परिस्थितियों जैसे खाद्यान्नों और कच्चे मालों का अभाव, बढ़ते हुए कीमत-तल, विस्थापितों का पुनर्स्थापन आदि की सुव्यवस्था को इसमें प्रमुखता दी गई। सन् १९५५–५६ तक सार्वजनिक क्षेत्र में कुल २०६९ करोड़ रुपये व्यय करने को सोचा गया। सबसे अधिक महत्ता कृषि, ग्राम-विकास और सिंचाई तथा शक्ति-योजनाओं को दी गयी ताकि खाद्यान्नों और कच्चे मालों की पैदावार बढ़ायी जा सके। इसके बाद परिवहन तथा समाचार-संवहन के साधनों के विकास को स्थान दिया गया। इसके अन्तर्गत जल, स्थल और वायु तीनों से संबंधित परिवहन के साधनों के विकास संबंधी कार्य-क्रम सम्मिलित किये गये थे। तीसरा स्थान समाज-सेवा-कार्यों को दिया गया, जिनमें शिक्षा, स्वास्थ्य-चिकित्सा, गृह-निर्माण, श्रम-जीवियों के लिए कल्याण-कार्यों के प्रसार और पिछड़ी जातियों के विकास की व्यवस्था सम्मिलित की गयी। चौथा स्थान उद्योगों के विकास को और पाँचवाँ विस्थापितों के पुनर्स्थापन को दिया गया। इनमें और अन्य विविध क्षेत्रों में होने वाले विकास संबंधी व्ययों से कुल राष्ट्रीय आय में सन् १९५५–५६ तक ११ प्रतिशत वृद्धि लाने का अनुमान था।

योजना के अन्तर्गत किये जाने वाले व्यय की राशियों को प्रारम्भ के दो वर्षों के पश्चात ही बेकारी की विकट समस्या उपस्थित होने के कारण बदलना पड़ा। आयोजन-काल में व्यय होने वाली कुल राशि को २०६९ करोड़ से बढ़ाकर २३७८ करोड़ रुपये कर दिया गया। परिवर्तित राशि का वितरण विभिन्न मदों में आगे दिया जा रहा है[1] :—

१. देखिए "रिव्यू ऑव दी फर्स्ट फाईव इयर प्लान"—अध्याय १, पृष्ठ संख्या २—प्लानिंग कमीशन द्वारा मई १९५७ में प्रकाशित।

विविध मद	व्यय होनेवाली राशि (करोड़ रुपयों में)	प्रतिशत
कृषि और सामुदायिक विकास	३५४	१४·९
सिंचाई और शक्ति	६४७	२७·२
उद्योग और खानें	१८८	७·९
परिवहन और समाचार-संवाहन	५७१	२४·०
समाज-सेवा और पुनर्वास	५३२	२२·४
विविध	८६	३·६
कुल	२३७८	१००·०

इन व्ययों को केन्द्र सरकार और "ए", "बी", "सी" तीनों वर्गों की राज्य-सरकारों को मिल कर करना था। इनका वितरण निम्न प्रकार से हुआ था[1] :—

	पूर्व निश्चित राशि			परिवर्तित राशि		
	कुल	केन्द्र सरकार	राज्य सरकार	कुल	केन्द्र सरकार	राज्य सरकार
कृषि	२४०·८	६६·३	१७४·५	२४९·३	८३·९	१६५·४
सामुदायिक विकास योजना	९०·०	९०·०	...	९०·०	९०·०	....
सिंचाई और विविधोपयोगी योजना	४३३·६	२६५·९	१६७·७	४६८·८	२५५·९	२१२·९
शक्ति योजना	१२७·५	...	१२७·५	१७८·६	...	१७८·६
उद्योग	१७२·९	१४६·७	२६·२	१८८·२	१५८·८	२९·४
जनस्वास्थ्य और चिकित्सा	१००·९	१७·९	८३·०	१३७·८	२०·३	११७·५
पुनर्वास	८५·०	८५·०	...	१३५·७	१३५·७	...
परिवहन और समाचार-संवहन	४९८·५	४०९·५	८९·०	५७०·०	४६६·१	१०३·९
अन्य (इसमें स्थानीय विकास के अन्य मदों वाले व्यय सम्मिलित थे)	३१९·५	१५२·४	१६७·१	३५९·३	१७८·८	८०·५
कुल व्यय	२०६८·७	१२३३·७	८३५·०	२३७७·७	१३८९·५	९८८·२

१. देखिए पूर्वोक्त "रिव्यू ऑव दी फर्स्ट प्लान"—अध्याय २, पृष्ठ १९-२०।

प्रारम्भ में निश्चित राशि २०६९ करोड़ की प्राप्ति के लिए बजट संबंधी स्रोतों को ही विशेष महत्त्व दिया गया था। इसमें नये तथा पुराने करों की आय, पूँजी बचत, रेल-प्रशासन की आय, जनता से प्राप्त ऋण और बचतें प्रमुख थीं। कुछ अंश विदेशी सहायता और शेष घाटे के बजट से पूर्ण करने का निश्चय किया गया था। निम्नलिखित तालिका में इन स्रोतों से मिल सकने वाली राशियाँ दिखायी गयी हैं।

विवरण	राशियाँ (करोड़ रुपयों में)
बजट संबंधी स्रोतों से प्राप्य	१२५८·०
विदेशी सहायता से प्राप्य	५२१·०
घाटे के बजट से	२९०·०
कुल निश्चित राशि	२०६९·०

बजट संबंधी स्रोतों से प्राप्य राशि को केन्द्रीय सरकार और राज्य-सरकारों दोनों से सुलभ करने की व्यवस्था थी। उसका अनुमान आगे दिये गये ढंग से लगाया गया था :—

(करोड़ रुपयों में)

	केन्द्रीय सरकार	राज्य सरकार	योग
चालू आय से बचत	३३०	४०८	७३८
पूंजीगत प्राप्ति	३९६	१२४	५२०
केन्द्रीय सरकार से राज्य-सरकारों को प्राप्त होने वाली सहायता	—२२९	२२९	
योग	४९७	७६१	१२५८

आयोजन-अवधि में इस राशि की प्राप्ति सर्वथा निश्चित थी। सन् १९५२ तक विदेशों से १५२ करोड़ रुपयों की प्राप्ति हो चुकी थी। शेष ६५५ करोड़ रुपयों की व्यवस्था सोचनी थी। विदेशी सहायता के अन्तर्गत २९० करोड़ रुपया पौण्ड

पावने से प्राप्त करने का अनुमान था। इतनी ही राशि "घाटे के बजट" से उपलब्ध करने का सोचा गया। शेष ७५ करोड़ रुपये अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं, विदेशी सरकारों तथा विनियोगकर्त्ताओं से प्राप्त करने की आशा प्रकट की गयी। इन सबके अभाव में "घाटे की बजट" का ही आश्रय लेना था।

विकास-क्रम में होने वाले अतिरिक्त आय की अधिकांश राशि को योजना संबंधी कार्य-क्रमों में लगाये जाने के लिए प्रोत्साहन देना था ताकि राष्ट्रीय आय का अधिक प्रतिशत उत्तरोत्तर विकास के लिए व्यवहृत हो सके। योजना के प्रारम्भ के समय कुल राष्ट्रीय आय के लगभग ४·९ प्रतिशत ही विनियोग होता था। इसे अधिक से अधिक बढ़ाना आवश्यक था तभी निश्चित प्रगति सम्भव थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रगति

सन् १९५१-५६ में राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की प्रगति का अनुमान कुल विनियोग के विवरण से किया जा सकता है। नीचे दी गयी तालिका में आयोजन के विभिन्न वर्षों में विविध स्रोतों से प्राप्त राशि का उल्लेख किया गया है:—

वर्ष	कुल राशि	बजट सम्बन्धी स्रोतों से प्राप्त	विदेशों से प्राप्त	घाटे के बजट से व्यवस्था
१९५१—५२	२५९·४	२०४·८	६४·९	−१०·३
१९५२—५३	२६७·६	१४१·३	४५·६	८०·७
१९५३—५४	३४३·०	२४६·१	१८·५	७८·४
१९५४—५५	४७५·९	३६८·६	१६·०	९१·३
प्रथम चार वर्षों का वास्तविक विनियोग	१३४५·९	९६०·८	१४५·०	२४०·१
१९५५—५६ का संशोधित अनुमान	६६६·५	३१६·५	५८·२	२९१·८
पाँचों वर्षों में विनियोग	२०१२·४	१२७७·३	२०३·२	५३१·९

प्रथम आयोजन के पाँचवें वर्ष में वास्तविक विकास-व्यय ६१४·१ करोड़ रुपये तक सम्भव हो सका। इसमें ३९१·२ करोड़ रुपये बजट संबंधी स्रोतों से सुलभ

हुए, ४३ करोड़ रुपये विदेशी सहायता से प्राप्त हुए और १७९·९ करोड़ रुपये घाटे के बजट से उपलब्ध किये गये। इस प्रकार प्रथम आयोजन काल में विविध विकास-कार्यों पर कुल १९६० करोड़ रुपये व्यय हो सके। इस राशि की प्राप्ति विभिन्न स्रोतों से निम्न रूप में हुई :—

(करोड़ रुपयों में)

कुल विकास व्यय	..	१९६०
बजट संबंधी स्रोतों से सुलभ	..	१३५२
विदेशी सहायता से प्राप्त	..	१८८
घाटे के बजट से प्रबन्धित	..	४२०

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि बजट संबंधी स्रोतों से सुलभ राशि पूर्व निश्चय से अधिक प्राप्त हुई। "घाटे के बजट" की मात्रा को भी निर्दिष्ट सीमा से बढ़ाना पड़ा। लेकिन विदेशी सहायता से बहुत ही कम राशि मिल सकी। पहले निश्चयों से कम व्यय होने का प्रमुख कारण[1] भी यही था।

कुल व्ययों का ११४·९ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय होने का अनुमान है। "ए" वर्ग के राज्यों ने ६७२·९ करोड़ रुपये, जम्मू और काश्मीर सहित "बी०" वर्ग के राज्यों ने १९२ करोड़ और "सी" तथा "डी" वर्ग के राज्यों ने ३२·६ करोड़ रुपये अनुमानतः खर्च किये। केन्द्रीय सरकार द्वारा किया गया व्यय पूर्व निश्चित लक्ष्य का लगभग ८०·२ प्रतिशत था। "ए" वर्ग के राज्यों में लक्ष्य का औसतन ९३·७ प्रतिशत, "बी" वर्ग के राज्यों में लक्ष्य का औसतन ८५ प्रतिशत और "सी" वर्ग तथा "डी' वर्ग के राज्यों में लक्ष्य का औसतन ७३·६ प्रतिशत व्यय हुए।

विकास के विविध क्षेत्रों में हुए व्ययों का क्रम निम्नांकित तालिका में स्पष्ट किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा के लिए आयोजन के आरम्भ में निश्चित और बाद में संशोधित राशियाँ भी आगे दी जा रही हैं :—

१. देखिए-प्लानिंग कमीशन द्वारा प्रकाशित पूर्वोक्त पुस्तक, अध्याय २, पृष्ठ ३५

(करोड़ रुपये में)

	वास्तविक व्यय	प्रारम्भ में निश्चित व्यय की राशि	संशोधित राशि	संशोधित राशि से वास्तविक व्यय की कमी की प्रतिशत
कृषि	२२६·९	२४०·८	२४९·३	९·०
सामुदायिक विकास योजना	५७·३	९०·०	९०·०	३६·३
सिंचाई और बहु-उपयोगी योजनाएं	४३२·१	४३३·६	४६८·८	७·८
विद्युत योजनाएं	१५२·९	१२७·५	१७८·६	१४·४
उद्योग	९९·८	१७२·९	१८८·२	४७·०
जनस्वास्थ्य और चिकित्सा	१००·९	१००·९	१३७·८	२६·८
पुनर्वास	९७·३	८५·०	१३५·७	२८·२
परिवहन और समाचार संवहन	५३१·५	४९८·५	५७०·०	६·७
अन्य (स्थानीय विकासकार्यों सहित)	३१३·७	३१९·५	३५९·७	१२·७
कुल व्यय	२०१२·४	२०६८·७	२३७७·७	१५·४

उपर्युक्त तालिका में दिखाये गये वास्तविक व्यय पाँचवें वर्ष के संशोधित बजट के आँकड़ों पर आधारित हैं। जैसा कि संशोधित राशि से वास्तविक व्यय की कमी के प्रतिशतों से स्पष्ट है, उद्योगों के विकास पर किये जाने वाले व्ययों में सबसे अधिक कमी हुई। उसके बाद क्रमशः सामुदायिक विकास योजनाओं, पुनर्वास, जनस्वास्थ्य और चिकित्सा के क्षेत्रों में वास्तविक व्यय की कमी हुई। परिवहन और समाचार संवहन, सिंचाई और बहुउपयोगी योजनाओं तथा विद्युत योजनाओं पर कम से निश्चित राशि के अधिक से अधिक निकट तक व्यय किये गये।

निजी क्षेत्रों में भी विकास संबंधी व्ययों के लिए जो अनुमान लगाये गये थे उससे कुछ ही कम राशि का विनियोग हुआ। अन्तिम दो वर्षों में पहले तीन वर्षों की तुलना में अधिक दर से विनियोग हुआ था।

इन व्ययों से राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि निम्नांकित प्रकार से हुई:—

(१९४७-४९ के कीमत-तल के आधार पर: करोड़ रुपयों में)

उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र	१९५०-५१ की उत्पत्ति	१९५५-५६ की उत्पत्ति	प्रतिशत वृद्धि
कृषि, पशु-पालन और अन्य सहायक कार्य	४३४०	४९८०	१४·७
खान-खोदाई, निर्माण-कार्य और लघु उद्योग	१४८०	१७५०	१८·२
वाणिज्य, परिवहन और समाचार संवहन	१६६०	१९७०	१८·७
अन्य सेवाएं	१३९०	१७२०	२३·७
योग	८८७०	१०४२०	१०·५
प्रति व्यक्ति वार्षिक राष्ट्रीय आय	२४६·३ रु०	२७२·१ रु०	१०·५ प्रतिशत वृद्धि

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि सभी क्षेत्रों में १९५०-५१ की तुलना में उत्पादन बढ़ा है। राष्ट्रीय उत्पादन की औसत वृद्धि १७·५ प्रतिशत रही। आयोजन के प्रारम्भ में राष्ट्रीय आय की यह वृद्धि अंत तक केवल ११ प्रतिशत आँकी गयी थी। प्रति व्यक्ति वार्षिक राष्ट्रीय आय भी १९५०-५१ में २४६·३ रुपये थी लेकिन १९५५-५६ में यही बढ़कर २७२·१ रुपये हो गयी अर्थात लगभग १०·५ प्रतिशत की वृद्धि रही। कृषि से उत्पन्न और निर्माणों में निर्मित पदार्थों की उत्पादन मात्रा में भी १९५०-५१ की तुलना में १९५५-५६ में पर्याप्त वृद्धि हुई। कृषि उत्पादन निर्देशांक १९५०-५१ में १९४९-५० वर्ष के आधार पर ९५·६ था। १९५३-५४ में यही बढ़कर ११४·३ और १९५४-५५ में ११६·४ तक पहुंच गया। यद्यपि अन्तिम वर्ष १९५५-५६ में चौथे वर्ष की अपेक्षा उत्पादन में कुछ कमी हुई। फिर भी आयोजन के प्रारम्भ की तुलना में अंत का उत्पादन १९ प्रतिशत अधिक रहा। खाद्यान्न का उत्पादन १९५५-५६ में ६४९ लाख टन था जो उस वर्ष के लिए पूर्व निश्चित लक्ष्य से ३० लाख टन अधिक था। कपास, जूट, तिलहन में क्रमशः ३७·५ प्रतिशत, २८ प्रतिशत और १३·२ प्रतिशत वृद्धि हुई।

निर्मित पदार्थों का उत्पादन भी इन पाँच वर्षों में लगभग ४० प्रति सैकड़ा बढ़ा। मिलों में बने सूती कपड़े का उत्पादन ३७·२ प्रतिशत बढ़ा। १९५५-५६ के लिए निर्दिष्ट लक्ष्य से वास्तविक उत्पादन ४००० लाख गज अधिक था। चीनी,

सिलाई की मशीनों, कागज, सायकिल के उत्पादन भी लक्ष्य के अनुरूप ही थे। कच्चे मालों की सुलभता, अव्यवहृत उत्पादन शक्ति का उत्पादन बढ़ाने में सहायक हुई। देश में कुछ व्यवहार एवं उत्पादन के नये क्षेत्रों में विनियोग की वृद्धि के लिए निर्मित पदार्थों के महत्वपूर्ण नये उद्योग खोले गये जिनमें पेट्रोल साफ करने के कारखाने, जलपोत-निर्माण, वायुयान-निर्माण, रेल के डिब्बों का निर्माण, पेंसिलीन, अम्युनियम क्लोराइड, डी० डी० टी० आदि के निर्माण प्रमुख हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में खोली गयी बड़ी संस्थाओं ने जिनमें सिन्धी में खाद निर्माण करने, चितरंजन में इंजन बनाने और बंगलौर में टेलीफोन के कारखाने उल्लेखनीय हैं, इस अवधि में पर्याप्त प्रगति की।

उत्पादन की इस वृद्धि का प्रभाव सामान्य उपभोग-स्तर पर पड़ा। सन् १९५०-५१ की तुलना में १९५५-५६ में उपभोग-स्तर ८ प्रतिशत बढ़ा। खाद्यान्नों का प्रति वयस्क दैनिक उपभोग १९५०-१९५१ में १२·६ औंस के लगभग था। १९५५-५६ में यह बढ़कर १४·४ औंस के लगभग हो गया। कपड़े का प्रति व्यक्ति औसत उपभोग ९·७ गज से १६·४ गज हो गया। चीनी का औसत उपभोग भी ०·३७ औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिन से बढ़कर ६·५७ औंस प्रति व्यक्ति हो गया।

आयोजन काल में सरकार की मौद्रिक नीतियों और उत्पादन में वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमत-तल को पर्याप्त नियन्त्रण में रखा जा सका, सन् १९५१ के मार्च में थोक मूल्य-निर्देशांक ४५० था। लेकिन एक वर्ष बाद ही मार्च सन् १९५२ में यह घटकर ३७८ हो गया। कीमतों के गिरने का यह क्रम मई १९५२ तक चलता रहा। उसके बाद १९५३-५४ तक इसके आस-पास ही परिवर्तन होता रहा। लेकिन इसी वर्ष कृषि-पदार्थों की पैदावार अच्छी होने से विशेषतः खाद्यान्नों और कच्चे मालों की कीमतों में अधिक गिराव होने लगा। उसे रोकने के लिए सरकार को विशेष प्रयत्न करने पड़े। सन् १९५५ की जुलाई में पुनः कीमत-तल में बढ़ने की प्रवृत्ति आयी। आयोजन के अंत तक लगभग १४ प्रतिशत की वृद्धि भी हुई। लेकिन विकास-क्रम के देखते हुए यह वृद्धि बहुत ही कम है। आयोजन-काल में घाटे के बजट से ४२० करोड़ रुपये की व्यवस्था होने और मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर भी कीमत-तल का उचित सीमाओं में रखा जाना देश की अर्थ व्यवस्था की सुदृढ़ता और उसके नियन्त्रणकर्त्ताओं की कुशलता का द्योतक रहा है। देश के भुगतान-शेष की स्थिति भी आयोजन के प्रारम्भ में किये गये अनुमानों को देखते हुए बहुत ही संतोषप्रद रही। प्रारंभ में ऐसा अनुमान किया गया था कि आयोजन काल में प्रतिवर्ष १८० से २०० करोड़ रुपयों का घाटा आयेगा। लेकिन वास्तव में घाटा केवल १९५१-५२ में ही १६३ करोड़ रुपयों का आया। सन् १९५२-५३

और १९५३-५४ में क्रमशः ६० और ४७ करोड़ की बचत हुई। सन् १९५४-५५ में बचत की राशि केवल ६ करोड़ थी और अन्तिम वर्ष में इसकी मात्रा १५ करोड़ रुपयों तक पहुँच गयी। इस प्रकार आयोजन काल भर में भुगतान शेष का कुल घाटा केवल ३० करोड़ रुपये के लगभग था। इसमें से यदि विदेशी सरकारों से प्राप्त अनुदानों को निकाल दें तो भी भुगतान शेष का कुल घाटा ९६ करोड़ रुपयों तक ही आता है। पौण्ड पावने से भी २९० करोड़ रुपयों के स्थान पर केवल १३८ करोड़ रुपये ही वास्तव में निकालने पड़े। भुगतान शेष की इस सुदृढ़ स्थिति को रखने में भी देश में उत्पादन की वृद्धि, मुद्रा-स्फीति के नियन्त्रण एवं उत्पादन वस्तुओं के सीमित आयात का विशेष स्थान था।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि प्रथम पंचवर्षीय आयोजन सामयिक विषमताओं को दूर करने और भावी विकास के लिए सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करने में सफल रहा है। कुछ राष्ट्रीय आय का विनियोग किये जाने वाले प्रतिशत में भी वृद्धि हुई है। आयोजन के प्रारम्भ में यह केवल ४·९ प्रतिशत था और अन्त में बढ़कर ७ प्रतिशत हो गया। किसी भी विकासोन्मुख राष्ट्र के लिए विनियोग का बढ़ता प्रतिशत भावी प्रगति को निश्चित बनाता है। लेकिन विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादन की वृद्धि और विनियोग प्रतिशत के बढ़ने के रुख मात्र से ही प्रथम आयोजन को सफल कहना कहाँ तक उचित होगा—इस प्रश्न पर विचार करते समय कुल लगायी गयी अतिरिक्त पूँजी और उससे प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन का संबंध दृष्टि में रखना उपयोगी होगा। आयोजन के अन्त में विभिन्न उत्पादनों का अनुमानित लक्ष्य से अधिक होना अनुमान का दोष इंगित करता है। योजना बनाते समय कुल लगायी जाने वाली अतिरिक्त पूँजी और उससे होने वाले उत्पादन में सामान्यतः ३ और १ का संबंध दो वर्षों की अंतरावधि के साथ अनुमानित था। लेकिन योजना काल में यह संबंध अधिकांशतः उसी अन्तरावधि के साथ १·८ और १ का रहा है। यद्यपि इस परिवर्तन में जलवायु की अनुकूलता और पूर्वस्थिति उद्योगों की अव्यवहृत शक्तियों के उपयोग का हाथ कुछ रहा है पर अनुमान के सैद्धान्तिक आधार की अनुपयुक्तता भी इससे अवश्य लक्षित होती है।

भारतीय योजनाओं के प्रथम खण्ड को ठोस सफलता का अभाव यहाँ की आर्थिक व्यवस्था के कुछ मौलिक दोषों का ही फल रहा है। इनको मिटाने के लिए पाँच वर्ष बहुत ही अपर्याप्त हैं। अब दूसरी योजना की रूपरेखा के अध्ययन से यह देखा जाय कि वह खण्ड किस स्तर तक भारत की सभी शक्ति के समुचित उपयोग करने और यहाँ की सम्पन्नता बढ़ाने में सहायक हो रहा है।

चतुर्थ खण्ड

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन

देश के संतुलित आर्थिक विकास का जो क्रम प्रथम पंचवर्षीय आयोजन-काल में प्रारम्भ हुआ उसी को आगे बढ़ाने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन का समारम्भ १ अप्रैल १९५६ को किया गया। इसके अन्तर्गत देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन और रोजगारी बढ़ाने के निमित्त विनियोग की मात्रा और दर बढ़ाने का प्रयास हो रहा है। इसके प्रारम्भ के पूर्व ही राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने वार्षिक अधिवेशन अबादी में समाजवादी सामाजिक ढाँचे का निर्माण अपनी अर्थ-नीति के प्रमुख उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लिया था। उसी की विधिवत प्राप्ति इस आयोजन-काल के अन्तर्गत सभी प्रयत्नों का प्रमुख उद्देश्य है। इसका रूप निम्नलिखित है:—

१. देश की जनता के जीवन-स्तर में वृद्धि लाने के लिए राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि करना।

२. मूल और वृहद् उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान देते हुए शीघ्र औद्योगीकरण करना।

३. रोजगारी के अवसरों में वृहद् प्रसार लाना।

४. आय और सम्पत्ति की असमानता में कमी लाना और आर्थिक शक्ति का अधिक से अधिक समान वितरण कराना।

ये खण्ड एक दूसरे से बहुत अधिक संबद्ध हैं। राष्ट्रीय आय में वृद्धि और जीवन-स्तर में सुधार लाना बिना उत्पादन की वृद्धि और रोजगारी के अवसरों के पर्याप्त प्रसार के सम्भव नहीं है। इसके लिए पर्याप्त विनियोग द्वारा शीघ्र औद्योगीकरण आवश्यक रहा है। औद्योगीकरण की प्रगति भी मूल और वृहद् उद्योगों जैसे लोहा-निर्माण, यंत्र-निर्माण, रसायन निर्माण, तथा खनिज पदार्थों के उत्पादन के फैलाव पर ही निर्भर है। इसी से देश की प्राकृतिक और जन शक्तियों का सदुपयोग हो सकता है। सभी को अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार कार्य क्षेत्र मिलने और आर्थिक प्रगति का समान अवसर सुलभ होने से ही समाजवादी

सामाजिक ढाँचे का निर्माण सम्भव है। इसीलिए इस आयोजन-काल में इन चारों खण्डों की प्राप्ति का निश्चय किया गया है। आर्थिक शक्तियों की असमानता समाप्त करने के लिए विशेष कर नीतियों के प्रयोग को भी उचित स्थान दिया गया है।

उपर्युक्त मूल उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर १९५६-५७ से १९६०-६१ तक सार्वजनिक क्षेत्रों में ४८०० करोड़ रुपये और निजी क्षेत्र में २४०० करोड़ रुपये व्यय करने का निश्चय हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय का क्रम निम्नांकित रखा गया है:—

(करोड़ रुपये में)

विकास क्षेत्र	व्यय की जाने वाली राशि	कुल का प्रतिशत
कृषि और सामुदायिक विकास	५६८	११·८
सिंचाई और शक्ति	९१३	१९·०
उद्योग और खानें	८९०	१८·५
परिवहन और समाचार संवहन	१३८५	२८·९
सामाजिक सेवाएं	९४५	१९·७
विविध	९९	२·१
योग	४८००	१००·०

इस बार प्रथम योजना की तुलना में औद्योगिक विकास को अधिक महत्व दिया गया है; कृषि, सिंचाई तथा शक्ति की प्रगति को कायम रखने का प्रबन्ध है; और परिवहन तथा समाचार संवहन के साधनों विशेषतः रेलों को अधिक व्यापक बनाने के लिए पर्याप्त प्रावधान हैं। सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, गृहनिर्माण, पिछड़े वर्गों का कल्याण आदि पर पूर्ववत ध्यान रखा गया है। केवल पुनर्वास पर पहले आयोजन की अपेक्षा कम व्यय होगा। उद्योगों के अन्तर्गत उपभोग सामग्रियों का उत्पादन बढ़ाने तथा रोजगारी का क्षेत्र फैलाने के लिए कुटीर उद्योगों के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। केन्द्र और विविध राज्य-सरकारों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के व्ययों को अगले पृष्ठ पर दिये गये रूप में करने का निश्चय हुआ है:—

(करोड़ रुपयों में)

विकास क्षेत्र	कुल व्यय होने वाली राशि	केन्द्र सरकार द्वारा किया जाने वाला व्यय	राज्य सरकारों द्वारा होने वाले व्यय
कृषि और सामुदायिक विकास	५६८	६५	५०३
सिंचाई और शक्ति	९१३	१०५	८०८
उद्योग और खानें	८९०	७४७	१४३
परिवहन और समाचार संवहन	१३८५	१२०३	१८२
सामाजिक सेवाएं	९४५	३९६	५४९
विविध	९९	४३	५६
योग	४८००	२५५९	२२४१

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि पहले आयोजन की अपेक्षा इस बार कृषि, सामुदायिक विकास और सिंचाई पर राज्य सरकारों को केन्द्र की तुलना में अधिक व्यय करना पड़ रहा है। परिवहन और समाचार संवहन के विकास का अधिकांश भार पूर्ववत केन्द्र पर ही है।

सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय के केवल ३८०० करोड़ रुपये नयी उत्पादक सम्पत्तियों के निर्माण में लग रहे हैं। शेष १००० करोड़ रुपये विकास-क्रम के चालू व्यय की पूर्ति करेंगे। इस प्रकार नये विकास पर वास्तविक व्यय ३८०० करोड़ रुपये ही करने का निश्चय हुआ।

निजी क्षेत्र में व्यय होने वाली राशि २४०० करोड़ रुपये का विभाजन विकास के विभिन्न क्षेत्रों पर निम्न क्रम से निश्चित किया गया :—

(करोड़ रुपयों में)

विकास क्षेत्र	व्यय होने वाली राशि
संगठित उद्योग और खानें	५७५
बगीचे, विद्युत उत्पादन संस्थाएं और रेल को छोड़ कर अन्य परिवहन	१२५
निर्माण	१०००
कृषि और ग्रामीण तथा लघु उद्योग	३००
स्टाक	४००
योग	२,४००

सार्वजनिक क्षेत्र के वास्तविक विकास व्यय (३८०० करोड़ रुपये) और निजी क्षेत्र के विकास व्यय का अनुपात इस बार ६१·३९ है जबकि प्रथम आयोजन में यह ५०-५० अर्थात आधा आधा था। इससे विकास संबंधी प्रयत्नों में सार्वजनिक क्षेत्र का क्रमशः बढ़ता हुआ प्रभाव प्रकट होता है। लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों पर संचालित विकास-क्रम में ऐसा होना स्वाभाविक भी है।

सार्वजनिक क्षेत्र में विकास व्ययों के लिए वित्तीय व्यवस्था

इस बार पहली योजना की तुलना में दूने से भी अधिक वित्तीय प्रबन्ध करना है। व्ययों के लिए निश्चित ४८०० करोड़ रुपयों में से बजट संबंधी स्रोतों से केवल २४०० करोड़ रुपये आयोजन-काल में प्राप्त होने की सम्भावना है। शेष में से २००० करोड़ रुपये की व्यवस्था विदेशी सहायता और घाटे के बजट से करने को सोचा गया। ४०० करोड़ रुपये प्राप्त करने के लिए कोई भी समुचित स्रोत नहीं निश्चित हो सका। निम्नांकित तालिका में द्वितीय आयोजन की वित्तीय व्यवस्था स्पष्ट की गयी है।

(करोड़ रुपयों में)

स्रोत	राशि		राशियाँ
(अ) बजट संबंधी स्रोत			
१—चालू राजस्व में १९५५—५६ में प्रचलित करों की दर पर	३५०	८००	
अतिरिक्त कर	४५०		
२—जनता से प्राप्त ऋण—मुद्रा बाजार से प्राप्त	७००	१२००	
छोटी बचतें	५००		
३—अन्य—विकास के लिए रेल-विभाग से प्राप्त योग	१५०	४००	२४००
प्राविडेन्ट फंड और अन्य जमा	२५०		
(आ) विदेशों से प्राप्त सहायता			८००
(इ) घाटे के बजट से			१२००
(ई) कमी जिसकी पूर्ति अन्य आन्तरिक साधनों के प्रयोग से करनी थी			४००
योग			४८००

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि विकास के कार्यक्रमों के अनुकूल वित्तीय व्यवस्था नहीं की जा सकी है। पिछले आयोजन काल के अनुभवों को देखते हुए विदेशी सहायता से भी अत्यधिक आशा की गयी है। उस बार अनुकूल वातावरण

रहने पर भी कुल १८८ करोड़ रुपये सुलभ हो सके थे जबकि ५२१ करोड़ रुपये पाने की आशा की गयी थी। इस बार समाजवादी सामाजिक ढाँचे के निर्माण की घोषणा, केरल में कम्युनिस्टों का मंत्रिमण्डल बनने और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण भारत को विदेशी सहायता प्राप्त करने में विशेष कठिनाई हो रही है। इससे विदेश से सम्भावित वित्तीय सहयोग अनिश्चित ही रहा है।

घाटे के बजट से की जाने वाली पूर्ति की मात्रा भी प्रस्तुत परिस्थितियों को देखते हुए अनुपयुक्त ही है। कीमत-तल के बढ़ने का रुख और खाद्यान्नों की कमी देखते हुए इतनी बड़ी राशि को इस स्रोत से सुलभ कराना कठिन लगता है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लिए घाटे के बजट सम्बन्धी यह भार दुर्वह भी है।

देश की छोटी बचतों तथा आर्थिक असमानता मिटाने के लिए लगाये जाने वाले नये करों जैसे सम्पत्ति कर, व्यय कर, आदि से कुछ आशा की जा सकती है। लेकिन उनसे पूर्व-सम्भावित मात्रा और कमी वाली राशि दोनों की पूर्ति होना प्रस्तुत परिस्थितियों को देखते हुए सम्भव नहीं प्रतीत होता। फिर विदेशों से अधिक से अधिक सहयोग पाने की चेष्टा और घाटे के बजट का पूर्ण सतर्कता से संचालन ये दो मार्ग ही उचित वित्तीय व्यवस्था के आधार दिखायी पड़ते हैं। इन्हीं के बल पर विकास-क्रमों को संचालित रखना सम्भव होगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना से सम्भावित प्राप्तियाँ

आयोजन काल में होने वाले व्ययों से विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में निम्नांकित क्रम से वृद्धि सम्भावित है :—

राष्ट्रीय उत्पादन (१९५२–५३) की कीमतों के आधार पर

(करोड़ रुपयों में)

उत्पादन क्षेत्र	१९५५–५६ में प्राप्त	१९६०–६१ में सम्भावित	१९६०–६१ में वृद्धि का प्रतिशत
१—कृषि एवं अन्य सहायक कार्य	५२३०	६१७०	१८
२—खान खोदाई	९५	१५०	५८
३—फैक्टरियों का उत्पादन	८४०	१३८०	६४
४—लघु उद्योग	८४०	१०८५	३०
५—निर्माण-कार्य	२२०	२९५	३४
६—वाणिज्य परिवहन समाचार संवहन	१८७५	२३००	२३
७—अन्य सेवाएँ	१७००	२१००	२३
कुल राष्ट्रीय उत्पादन	१०८००	१३४८०	२५

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि इस बार उत्पादन के लगभग सभी क्षेत्रों में प्रथम आयोजन-काल की अपेक्षा अधिक वृद्धि सम्भावित है। कुल उत्पादन १९५५-५६ की तुलना में १९६०–६१ तक २५ प्रतिशत से बढ़ेगा। प्रति व्यक्ति वार्षिक आय भी २८१ रुपये से बढ़कर ३३१ रुपया के लगभग हो जायगी। उत्पादन की इस वृद्धि का प्रभाव सामान्य उपभोग-स्तर पर भी पड़ेगा। १९५५–५६ की तुलना में १९६०–६१ में उपभोग-स्तर लगभग २१ प्रतिशत अधिक होगा। कुल राष्ट्रीय आय का उत्पादन कार्यों में विनियोग होने वाला प्रतिशत भी १९५५–५६ में ७ से बढ़कर १९६०–६१में लगभग ११ हो जायगा।

विकास संबंधी व्ययों का प्रभाव देश के सेवा-योजन पर भी पड़ेगा। विभिन्न क्षेत्रों में निम्नांकित क्रम से इस आयोजन-काल के अंत तक सेवा-योजन की वृद्धि सम्भावित है :—

(लाख रुपयों में)

कार्य क्षेत्र	अतिरिक्त सेवा-योजन की सम्भावना
१—निर्माण कार्य	२१·००
२—सिंचाई और शक्ति	०·५१
३—रेलवे	२·५३
४—अन्य परिवहन और समाचार संवहन	१·८०
५—उद्योग और खानें	७·५०
६—कुटीर और लघु उद्योग	४·५०
७—जंगल संबंधी कार्य, मत्स्योद्योग, राष्ट्रीय प्रसार सेवा और अन्य सहायक कार्य	४·१३
८—शिक्षा	३·१०
९—स्वास्थ्य	१·१६
१०—अन्य सामाजिक सेवाएँ	१·४२
११—सरकारी नौकरियाँ	४·३४
योग	५१·९९

निर्माण-कार्य के अन्तर्गत कृषि, सामुदायिक विकास-योजना, सिंचाई, शक्ति, उद्योग, खानें, परिवहन और समाचार संवहन, सामाजिक सेवाएँ तथा अन्य सरकारी क्षेत्रों में होने वाले निर्माण आते हैं।

यद्यपि यह वृद्धि प्रतिवर्ष कार्यशील जन-संख्या में होने वाली २० लाख की वृद्धि को देखते हुए बेरोजगारी की समस्या हल करने में सफल नहीं हो सकेगी लेकिन उसकी भीषणता को बहुत कुछ कम करने में अवश्य सहायक होगी।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन की कठिनाइयाँ

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन की उपर्युक्त प्राप्तियाँ इसके सफल संचालन पर निर्भर हैं। संचालन की सबसे बड़ी कठिनाई वित्तीय-व्यवस्था का अभाव है। जैसा कि पहले बतलाया गया है—सार्वजनिक क्षेत्र में किये जाने वाले व्ययों के लिए ५० प्रतिशत वित्तीय साधन ही निश्चित स्रोतों से सुलभ हैं। शेष की व्यवस्था या तो संदिग्ध है या बहुत ही कष्टप्रद है। बहुत उत्पादन सामग्रियों को विदेश से मँगाना है। उनके अभाव में आधुनिक प्रकार के मूल और वृहद् उद्योगों तथा परिवहन के साधनों का समुचित विकास कठिन है। इसके लिए विदेशी-विनिमय की पर्याप्तता आवश्यक है। इसे या तो विदेशी सहायता से प्राप्त किया जा सकता है या आयात की तुलना में निर्यात की अधिकता से। विदेशी सहायता की मात्रा बहुत सीमित और अनिश्चित रही है और निर्यात को बहुत अधिक बढ़ा सकना देश की आर्थिक परिस्थितियों को देखते हुए सम्भव नहीं लगता। आयोजन-काल के प्रथम वर्ष में ही निर्यात से आयात ४३९·५ करोड़ रुपये अधिक था और भुगतान शेष के चालू खाते में लगभग २९३ करोड़ रुपये का घाटा रहा। जलवायु की विषमता के कारण खाद्यान्नों का अभाव और उसकी पूर्ति के लिए आयात की अनिवार्यता परिस्थितियों को और भी प्रतिकूल बना रही है। इन संदर्भों में खाद्यान्नों और मालों की कीमतों को बढ़ने से रोकना भी विकास-क्रम को स्थायी रखने के लिए आवश्यक हो जाता है।

कुशल प्रशासकों और प्रौद्योगिक कार्यकर्त्ताओं की अपर्याप्तता भी विकास योजना की गति को बढ़ाने में बाधक होती है। यद्यपि इसे समाप्त करने के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था बढ़ायी जा रही है फिर भी इसके लिए विदेशी सहायता अपरिहार्य है।

कुछ कार्यकर्त्ताओं में राष्ट्रीय भावना की कमी भी राष्ट्रीय साधनों के उच्चतम प्रयोग में बाधक होती है। सामाजिक हितों को वैयक्तिक स्वार्थों से गौण माना जाना स्वाभाविक होता है। इस कारणवश साधन उपलब्ध रहते हुए भी प्रयोग के दोष से विकास-स्तर आशाओं के अनुरूप उठ नहीं पाता।

उपसंहार

लेकिन भारत-सरकार इन सभी दोषों और कमियों को मिटाने के लिए प्रयत्नशील है। लोकतन्त्र में इसके लिए जितने भी साधन सुलभ हो सकते हैं सभी का प्रयोग हो रहा है। अपनी तटस्थता की नीति सुरक्षित रखते हुए जिन भी विदेशों से सहयोग सम्भव है, आर्थिक और व्यापारिक समझौतों अथवा अन्य माध्यमों से प्राप्त किया जा रहा है। सभी नागरिकों में विकास की अनिवार्यता के भाव भरे जा रहे हैं। राष्ट्रीय सम्पत्ति का दुरुपयोग करने वाले अधिकारियों और कार्य-कर्त्ताओं के विरुद्ध उचित कार्रवाई की जा रही है। इन प्रयत्नों और जागृतियों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि भारत अपने लोकतंत्रीय आर्थिक विकास के आयोजनों को सफलतापूर्वक संचालित रख सकेगा। भारत का यह प्रयोग आर्थिक योजनाओं के क्षेत्र में अपूर्व है। इसकी सफलता से भारत की कुल राष्ट्रीय आय १९६६--७१ वाली चौथी पंचवर्षीय योजना के अंत तक प्रथम योजना के अंत वाली आय की दुगुनी हो जायगी और वर्तमान दर से बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ भी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय पाँचवीं योजना के अन्त तक १९५५--५६ की तुलना में दुगुनी हो जायगी।

दलित और पिछड़े वर्गों में विकास के लिए विशेष प्रयत्न करने, सभी व्यक्ति को शक्ति और इच्छा के अनुसार बढ़ने का स्वतन्त्र क्षेत्र देने तथा आर्थिक शक्ति के वितरण की असमानता समाप्त करने के लिए विशेष कर-नीति अपनाने से भारतीय समाज में फैली वर्गीय आर्थिक असमानता समाप्त हो रही है। सर्वतोमुखी विकास से देश की समृद्धि और समाज का ज्ञान भी बढ़ाये जा रहे हैं। ग्रामीणों का दृष्टिकोण बदलने और उन्हें अपनी प्रगति आप करने की प्रेरणा देने के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ और राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्ड चलाये जा रहे हैं। इस प्रकार हमारी आर्थिक योजना सभी क्षेत्रों में प्रगति लाकर लोकतन्त्र के सफल संचालन के उपयुक्त समाजवादी समाज को लाने में सहायक हो रही है।

सातवाँ अध्याय

भारत में भूमि-सुधार

भूमि-सुधार की अनिवार्यता

स्वतन्त्र भारत में शान्तिपूर्ण आर्थिक और राजनैतिक प्रगति के लिए सर्वतो-मुखी विकास के प्रयत्नों के साथ भूमि-व्यवस्था पर विशेष ध्यान देना अनिवार्य रहा है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाँ के आर्थिक और सामाजिक विकास में भूमि-स्वामित्व और कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि-पद्धति में सुधार लाकर उत्पादन बढ़ाना और कृषि-कार्य में संलग्न विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों में पायी जाने वाली आय और सम्पत्ति की विषमता मिटाना आवश्यक रहा है। कृषि-उत्पादन की वृद्धि से विकास-योजनाओं को, सुचारु रूप से संचालित रखा जा सकता है और काश्तकारों तथा भूमिहीन कृषक श्रमिकों के हितों को सुरक्षित बनाने से शोषण दूर किया जा सकता है। तभी ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों को स्थिति और अवसर की समानता सुलभ हो सकती है। भूमि-व्यवस्था में समुचित संशोधन लाये बिना इन उद्देश्यों की पूर्ति कठिन है।

भूमि-व्यवस्था में शीघ्रातिशीघ्र सुधार लाना हिंसात्मक क्रान्ति की फूटने वाली ज्वाला को रोकने के लिए अनिवार्य रहा है; क्योंकि करोड़ों भूमिहीन और छोटे कृषकों में स्वतन्त्रता के साथ ही सुखमय जीवन की सम्भावनाओं के प्रति जागरूकता आने लगी है। उनकी परम्परागत सहिष्णुता भी समाप्तप्राय है। उन्हें उभाड़ने और हिंसात्मक-पद्धतियों का आश्रय लेने के लिए विभिन्न क्षेत्रों से प्रोत्साहन भी दिये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में प्रजातन्त्रात्मक समाज की स्थापना और उसकी सुरक्षित प्रगति के लिए भूमि-सुधार से बढ़कर कोई दूसरा उपयोगी मार्ग नहीं हो सकता। चीन और इंडोचीन में वहाँ की सरकारों द्वारा भूमि-सुधार पर पर्याप्त ध्यान न दिये जाने से ही भीषण हिंसात्मक क्रान्तियाँ हुईं। भूमि-सुधार के इस महत्त्व को समझते हुए ही स्वतन्त्र भारत-सरकार ने उपयुक्त भूमि-व्यवस्था को आर्थिक विकास-योजना के निर्देशक सिद्धान्त के रूप में अपनाया है। स्वतन्त्रता के पश्चात से ही उसे प्राप्त करने के प्रयास भी हो रहे हैं।

भारत की अर्थ-व्यवस्था में भूमि का महत्त्व

भारत की प्राकृतिक सम्पत्तियों में भूमि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीयों का एक बड़ा समूह भूमि के प्रयोग पर निर्भर है। कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ४६ प्रतिशत कृषि से आता है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जन-संख्या का ७० प्रतिशत कृषि पर निर्भर है। इसमें ४७ प्रतिशत कृषक भूस्वामी हैं। ९ प्रतिशत काश्तकारों का, १३ प्रतिशत भूमिहीन श्रमिकों का और केवल एक प्रतिशत लगान वसूलने वाले जमींदारों का रहा है। कृषि पर निर्भर कुल जन-संख्या का उनके कार्यों और भू-स्वामित्व के अनुसार निम्नांकित वितरण था :—

(लाख रुपयों में)

	आत्मनिर्भर व्यक्ति	गैरकमाऊ आश्रित	कमाऊ आश्रित	योग
भूमि पर पूर्णतया स्वामित्व रखने वाले श्रमिक	४५८	१००१	२१४	१६७३
स्वामित्व न रखने वाले कृषक	८८	१८९	३९	३१६
कृषक श्रमिक	१४९	२४६	५३	४४८
कृषि न करने वाले भूमिपति	१६	३३	४	५३
योग	७११	१४६९	३१०	२४९०

भारत की कुल जन-संख्या ३५·९३ करोड़ में से लगभग १४·३२ करोड़ कार्यकर्त्ता हैं। उनमें से ७२ प्रतिशत या १०·३६ करोड़ कृषि में संलग्न हैं। इनकी शुद्ध वार्षिक उत्पत्ति १९५१ के आँकड़ों के आधार पर ४८९० करोड़ रुपये थी।

नेशनल सेम्पुल सर्वे की दूसरी रिपोर्ट में ग्रामीण परिवारों को उनकी भूमि के अनुसार कई वर्गों में विभक्त किया गया है। इन आँकड़ों में भूमि-स्वामित्व का तात्पर्य वास्तविक स्वामित्व से नहीं है। इसके अन्तर्गत अपने स्वामित्व में रखी जमीन के साथ पट्टे पर ली गयी जमीन भी सम्मिलित है तथा पट्टे पर दूसरे को दी गयी जमीन को निकाल दिया गया है। इस आधार पर १० एकड़ से अधिक भूमि रखने वाले कृषकों की प्रतिशत केवल १६·३ है। २५ एकड़ या अधिक भूमि जोतने वालों की प्रतिशत केवल ५·३ है, लेकिन ये कुल फसल उगाने वाली भूमि का ३३·४ प्रतिशत अपने अधिकार में रखते हैं। ५·९ प्रतिशत कृषक कुछ भी भूमि नहीं रखते। ४९·२ प्रतिशत कृषक २·५ एकड़ से कम भूमि रखते हैं और

कुल भूमि का केवल ७·६ प्रतिशत भाग इस्तेमाल करते हैं और १४·३ प्रतिशत २·५ से ५ एकड़ भूमि रखते हैं और कुल भूमि का केवल ११·१ प्रतिशत व्यवहार करते हैं।

भूमि एकड़ में	सूचना प्राप्त परिवारों की प्रतिशत	सूचना प्राप्त परिवारों द्वारा प्रबंधित कुल फसल उगाने वाले क्षेत्रों की प्रतिशत
—	५·९	—
०·०१ — २·४९	४९·२	७·६
२·५० — ४·९९	१४·३	११·१
५·०० — ७·४९	९·५	११·४
७·५० — ९·९९	४·८	७·२
१०·०० — १४·९९	६·१	१३·१
१५·०० — २४·९९	४·९	१६·२
२५·०० और ऊपर	५·३	३३·४

जैसा कि उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि प्रति कृषक भूमि का क्षेत्र औसतन बहुत सीमित है। अधिकांश कृषकों के पास भूमि की मात्रा वितरण की असमानता के कारण भी बहुत कम है लेकिन वितरण की असमानता के अतिरिक्त भूमि का क्षेत्र भी कम सुलभ है। विभाजन के पश्चात देश को १२,६६,९०० वर्ग मील क्षेत्र प्राप्त हुआ। यह लगभग ८१·०८ करोड़ एकड़ आता है। इसमें से केवल ७२·१५ करोड़ एकड़ अथवा ८८·९९ प्रतिशत के लिए ही सूचना सुलभ है। इनका विवरण १९५०–५१ और १९५४–५५ में निम्न रूप में था :—

	१९५०–५१ करोड़ एकड़	१९५४–५५ करोड़ एकड़
कुल क्षेत्र	८१·०८	८१·०८
सूचना प्राप्त क्षेत्र	७१·२५	७२·१५
जंगल	१०·००	१३·३४
खेती के लिए अनुकूल भूमि		
(१) गैर कृषि प्रयोगों में लगी भूमि	२·३१	४·२०
(२) ऊसर और खेती के अयोग्य भूमि	९·४३	७·९८
कुल	११·७४	१२·१८

	१९५०–५१ करोड़ एकड़	१९५४–५५ करोड़ एकड़
कृषि में न व्यवहृत अन्य भूमि—		
(१) स्थायी चारागाह	१·६५	२·७२
(२) वृक्षों और बागों के लगाने में व्यवहृत भूमि	४·९०	०·९७
(३) खेती योग्य बंजर	५·६७	५·७०
कुल	१२·२२	९·३९
परती भूमि—		
(१) वर्तमान परती	२·६४	२·८२
(२) अन्य	४·३१	२·९३
कुल	६·९५	५·७५
खेती के लिए प्रयुक्त कुल भूमि	२६·३४	३१·४९
फसल उगायी हुई कुल भूमि	३२·५९	३५·३४
एक बार से अधिक व्यवहृत भूमि	३·२५	३·७५

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि १९५४–५५ में खेती की जाने वाली भूमि के क्षेत्र में २·१५ करोड़ एकड़ और जंगलों में ३·३४ करोड़ एकड़ भूमि की वृद्धि हुई। इस वृद्धि में सेन्ट्रल ट्रैक्टर आर्गनाइजेशन और स्टेट ट्रैक्टर आर्गनाइजेशन के प्रयास से क्रमशः १० लाख एकड़ और १४ लाख एकड़ नयी भूमि कृषियोग्य बनायी गयी। इसके परिणामस्वरूप फसल उगाने वाली भूमि के क्षेत्र में ३२·६ करोड़ एकड़ से ३५·२ करोड़ एकड़ की वृद्धि हुई। खाद्यान्न उत्पन्न करने वाली भूमि का क्षेत्र

२५·७ करोड़ एकड़ से २७·२ करोड़ एकड़ तक और व्यावसायिक फसल उत्पन्न करने वाली भूमि के क्षेत्र में ४·९ करोड़ एकड़ से ६ करोड़ एकड़ तक की वृद्धि हुई है। अन्य फसलों का क्षेत्र (२ करोड़ एकड़) पूर्ववत ही रहा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भूमि के क्षेत्र में बहुत सीमित वृद्धि सम्भव है। लेकिन भारतीय जन-संख्या की वृद्धि अनवरत जारी है। इसके लिए खाद्यान्नों और देश की औद्योगिक प्रगति के लिए अधिक कच्चे मालों की उत्पत्ति अनिवार्य है। इन दो प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति से ही देश की सफलता एवं सम्पन्नता को ठोस आधार दे सकना सम्भव है। इसके लिए कृषि-प्रणाली और भूमि-व्यवस्था दोनों में परिवर्तन लाना एकमात्र मार्ग है। कृषि-प्रणाली को बदलने में भी भूमि व्यवस्था सुधारना आवश्यक है क्योंकि छोटे-छोटे अलाभकर खेतों में नये साधनों का प्रयोग सम्भव नहीं है और न तो क्षमता और कुशलता से अधिक भूमि स्वामित्व में रखकर भूमि-हीन श्रमिकों के बल पर विकास लाया जा सकता है। वास्तविक कृषकों को भूमि-स्वामित्व दिलाने, मध्यस्थों को मिटाने, छोटे भूमिखण्डों को मिलाकर बड़े क्षेत्र कायम करने और वैयक्तिक स्वामित्व में रखी भूमि पर सीमा लगाने से ही कृषि-पद्धति और उत्पादन दर में विकास सम्भव है। भारत-सरकार स्वतन्त्रता मिलने के बाद से ही कृषि-सुधार के इन मूल तत्त्वों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए भूमि-व्यवस्था में परिष्कार लाने का प्रयास कर रही है। सबसे पहला प्रयत्न कृषकों और सरकार के बीच स्थित मध्यस्थों को मिटाना था। उसके साथ ही काश्तकारों की भूधृति सुरक्षित बनाने के प्रयास किये गये हैं। चकबन्दी और अन्य विषयक विधान द्वारा छोटे-छोटे खेतों की समस्या हल करना, जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित करके अत्यधिक भूमि का केन्द्रीकरण रोकना तथा सामूहिक खेती के प्रचार द्वारा आधुनिक रीतियों से बड़े पैमाने पर खेती प्रारम्भ कराने का क्रम प्रचलित कराना अन्य प्रयास हैं जिन्हें प्रथम आयोजन-काल में कुछ अंश तक कार्यान्वित किया गया है और द्वितीय आयोजन में और अधिक सफल बनाने का प्रयत्न हो रहा है।

भूमि-प्रबन्ध में किये जाने वाले ये परिवर्तन भारतीय अर्थ-व्यवस्था के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्र, कृषि में अपूर्व जागृति लाने में सहायक हो रहे हैं। इनसे भूमिहीन और छोटे कृषकों की स्थिति में भी सुधार सम्भव है। उनके असन्तोष को कम कर क्रान्ति की सम्भावना भी कम की जा रही है। भूमि-सुधार के इन प्रयत्नों का विस्तृत उल्लेख करने के पूर्व भूमि-व्यवस्था का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण देना वर्तमान प्रगतियों के विवेचन में सहायक होगा।

द्वितीय खण्ड

भूमि-व्यवस्था का ऐतिहासिक विवरण

प्राचीन काल से भूमि का स्वामित्व--उसका अधिकार और प्रयोग--प्रशासन व्यवस्था और जनता के सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित रहा है। ये मूल्य भूमि-व्यवस्था के परिणाम रहे अथवा इस कारण थे, यह विषय विवादग्रस्त है। लेकिन इतना निश्चित है कि इन दोनों का एक दूसरे पर गहरा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल में जब राज्य का अस्तित्व स्थापित नहीं हो सका था और जब जन-जाति ही सामाजिक संगठन का एकमात्र रूप थी, भू-धृति पूरे समाज में सन्नि-हित थी। भूमि को प्रकृति का मुक्त-दान समझा जाता था। उसका पूँजी-मूल्य अथवा लगानी-मूल्य स्थूल रूप नहीं ले सका था। वर्गहीन आदि जातियों में सम्पत्ति का भाव श्रम से सम्बद्ध था। जो लोग भी भूमि की देखभाल करते और श्रम द्वारा पैदावार करते, वे ही पैदावार के अधिकारी बनते थे।

सामूहिक-भूमि स्वामित्व का यह भाव अलग कृषि करने के अधिकार के साथ बहुत समय तक प्रचलित रहा। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परि-वर्तनों के लम्बे क्रम में भूमि के सामूहिक स्वामित्व और व्यक्तिगत प्रयोग की प्राचीन भावना धीरे-धीरे बदल कर आज के व्यक्तिगत स्वामित्व और सामाजिक प्रयोग का रूप ले सकी है। पाश्चात्य देशों में सामूहिक भू-धृति, सामन्तवादी भू-धृति में शीघ्र ही परिणत हो गयी। लेकिन भारत में भू-स्वामित्व के परिवर्तन का यह क्रम पाश्चात्य देशों जैसा नहीं रहा। आदि-कालीन जन-जाति-भू-धृति बहुत पहले ही समाप्त हो गयी। लेकिन उसके पश्चात यूरप जैसी सामन्तवादी भू-धृति नहीं आयी। जबकि यूरप में साधारण कृषक भूमि के स्वामित्व-सम्बन्धी सभी अधिकारों से वंचित हो चुके थे और दासतापूर्ण जीवन बिता रहे थे, भारत में सुदृढ़ ग्राम-समाज का संगठन कृषकों के अधिकारों को सुरक्षित रखता था और संपूर्ण समाज की भलाई के लिए उन्हें विनियमित करता था। कुछ गाँव-समाजों के अन्तर्गत भूमि पर सभी का सामूहिक अधिकार था और कुछ में वैयक्तिक परिवार ही भूमि-स्वामित्व का अधिकार रखते थे। राजा भूमि की उपज का निश्चित भाग लेता

था। हिन्दू और अधिकांश मुगल काल में प्रायः कृषकों से ही सीधे लगान वसूला जाता था। कभी कभी गाँव के मुखिया या स्थानीय सरदारों का माध्यम भी अपनाया जाता था। जैसा कि लार्ड बेडेन पावेल ने कहा है "मुगलों के समय विशिष्टतः रैयतवाड़ी व्यवस्था थी जिसमें सरकार का कृषकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता था। तिमूरी व्यवस्था, शेरशाह सूरी के सुधार अथवा अकबर के वित्त-मन्त्री राजा टोडरमल के बन्दोबस्त, भू-राजस्व के अनुमान और संग्रह सम्बन्धी विनियमों को पुनर्गठित करने के ही प्रयास थे। कृषकों का भू-स्वामित्व तब तक सुरक्षित रहता था जब तक कि वे निश्चित लगान नियमपूर्वक चुकता करते जाते थे। मुसलमान काल में जागीरदार के अधिकार उपज में हिस्सा पाने, बंजर भूमि का स्वामित्व रखने और राह-कर वसूलने तक ही सीमित थे।[1]

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात केन्द्रीय सत्ता घटने पर कृषकों का भू-स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। स्थानीय सरदारों और शासकों ने औरंगजेब के बाद केन्द्रीय शासन से अपने को स्वतन्त्र बनाने का प्रयास प्रारम्भ किया। उस स्थिति में कृषकों से शाहंशाह के लिए सीधे लगान वसूलना कठिन हो गया। शाह और कृषकों के बीच मध्यस्थों का एक विशेष वर्ग बन गया। पहले मालगुजारी पर खेती कराने का क्रम चलता रहा। लेकिन मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते ही इन मध्यस्थों ने केन्द्रीय सरकार और कृषक दोनों के हितों का अपहरण करके अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार भारत में अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रथम बार सामन्तवादी व्यवस्था के चिह्न दीख पड़ने लगे। यह प्रारम्भ राजनैतिक और प्रशासनिक दुर्व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव हो सका। लेकिन कृषकों के स्वत्वों का सम्पूर्ण अपहरण जिसका क्रम पाश्चात्य देशों के सामन्तवादी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रचलित था, यहाँ सम्भव न हो सका। भूमिपति वर्ग के भू-स्वामित्व संबंधी अधिकार प्रायः अनिश्चित ही रहे और दखलकार कृषकों के अधिकारों को स्पष्टतः कम नहीं किया जा सका।

भारत में स्थायी बन्दोबस्त का प्रारम्भ

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने देश का प्रशासन हस्तगत करना प्रारम्भ किया, भूमि-व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी। कम्पनी का राज-

१. देखिए बेडेन पावेल द्वारा लिखित "इंडियन विलेज कम्युनिटी" पृष्ठ २०८।

नैतिक जीवन भी मीरजाफर से प्राप्त चौबीस परगना की जमींदारी से प्रारम्भ हुआ था। कम्पनी ने पहले लगान वसूलने का क्रम मध्यस्थों के माध्यम से अपनाया था। लेकिन इसमें सफलता न मिली। कुछ समय पश्चात नीलामी बन्दोबस्त का क्रम अपनाया गया, जिसमें सबसे अधिक लगान की बोली लगाने वाले को भूमि दी जाती थी। सन् १७७० से १७९३ ई० तक इन प्रयोगों की असफलता के कारण जमींदारों के साथ स्थायी-बन्दोबस्त का प्रारम्भ किया गया। पहले भू-स्वामित्व के संबंध में विशिष्ट अधिकारों का निश्चय नहीं हो सका था, लेकिन अन्त में उन्हें पूर्ण स्वामित्व दे दिया गया। इससे कम्पनी को लगान से स्थायी आय की व्यवस्था सम्भव हो सकी, जो उसके संगठित प्रशासन के लिए अनिवार्य थी।

जमींदारों को स्थायी बन्दोबस्त करने का निर्णय केवल राजनैतिक आवश्यकताओं से ही प्रभावित था। कम्पनी को प्रारम्भिक दखलकारों के अधिकारों को स्थायी रूप से छीनने का विचार नहीं था। अत्यधिक लगान वसूलने और लगान बढ़ाने की सम्भावना पर कम्पनी का ध्यान नहीं जा सका था, क्योंकि उस समय कृषि योग्य भूमि कृषकों की तुलना में बहुत अधिक थी। इससे काश्तकारों का मिलना ही कठिन था। जमींदारों को भूमि का स्वामी बनाते समय यह भी ध्यान रखा गया कि उनके अधिकारों से काश्तकारों के परम्परागत अधिकारों में कमी न हो। इस प्रकार जमींदारों को प्रारम्भ में दिये गये अधिकार यूरप की सामन्तवादी भू-धृति के समान व्यवस्था लाने वाले नहीं थे। लेकिन धीरे-धीरे कृषकों के अधिकारों में कमी होती गयी। शान्ति-व्यवस्था रखना और लगान वसूलना विदेशी सरकार के लिए दो महत्त्वपूर्ण बातें थीं। समय के परिवर्तन से कृषकों का भूमि-स्वामित्व बहुत कुछ समाप्त हो गया। यूरोपीय देशों जैसी औद्योगिक और राजनैतिक क्रान्तियों का अभाव इसका प्रमुख कारण था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी को स्थायी बन्दोबस्त से देश की खेती पर पड़ने वाले प्रभाव का विशेष अनुमान नहीं था। केवल आय की सुविधा और लगान वसूलने की सरलता को दृष्टि में रखकर ही स्थायी बन्दोबस्त किया गया। कम्पनी को देश में एक ऐसा वर्ग भी कायम करना था जिसकी स्वामिभक्ति पर अपनी कठिनाइयों के समय वह निर्भर रह सके। स्थायी बन्दोबस्त से यह भी आशा थी कि भू-स्वामित्व रखने वाले लोग अपने अधिकार में की गयी भूमि को आधुनिक ढंग की खेती के लिए प्रयोग में लायेंगे; इससे कृषिकार्य में फैलाव सम्भव हो सकेगा।

स्थायी बन्दोबस्त का यह क्रम बंगाल से प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे कुछ अन्य क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग किया गया। मद्रास के अधिकांश क्षेत्रों में कृषकों

के विरोध के कारण स्थायी बन्दोबस्त सम्भव नहीं हो सका। वहाँ कृषकों से सीधे लगान वसूलने की व्यवस्था रैयतवाड़ी सिद्धान्त पर करनी पड़ी। आगरा और अवध में भी जमींदारी के स्थान पर संयुक्त और सामुदायिक स्वामित्व मानना पड़ा। इस क्षेत्र में महालवारी व्यवस्था लागू की गयी, जिसमें गाँवों का बन्दोबस्त सामूहिक रूप में किया गया था। इस व्यवस्था को कुछ समय पश्चात मध्यप्रदेश और पंजाब में भी अपनाया गया। लेकिन मध्यप्रदेश की महालबारी आगरा और पंजाब से भिन्न थी। आगरा बन्दोबस्त में भू-राजस्व चुकाने का दायित्व प्रायः सम्पूर्ण गाँव पर था, लेकिन गाँव का कोई भी वर्ग या व्यक्ति अपना दायित्व अलग करा सकता था। लेकिन मध्यप्रदेश में गांव के मुखिया मालगुजार होते थे और पूरे गांव से लगान वसूलने और उसे सरकार को देने का दायित्व उन्हीं पर होता था।

इस प्रकार कम्पनी के शासन-काल में ही स्थायी बन्दोबस्त, रैयतवाड़ी व्यवस्था और महालवारी व्यवस्था का सफल प्रयोग प्रारम्भ हो गया। ये तीनों व्यवस्थाएँ ही ब्रिटिश शासन के अन्त तक भारतीय भूमि-प्रबन्ध का आधार बनी रहीं। समय-समय पर काश्तकारों के स्वत्वों को विनियमित करने के लिए अलग-अलग प्रान्तों में अधिनियम बनाये गये। लेकिन उनसे मूल व्यवस्थाओं में किसी प्रकार का मौलिक परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका। सन् १९४० तक के सुधार सम्बन्धी विधान भूमि-संगठन के मूल रूप को ज्यों का त्यों रखते हुए जमींदारों के अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न वर्गों के हितों को सुरक्षित रखने तथा उसे सुधारने का प्रयास करते थे। यह विचार कि भूमि सीमिति सम्पत्ति है और इसके अधिकार तथा प्रयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का एकाधिकार राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध होगा, व्यापक नहीं हो सका था।

कृषक-जनता पर भार-स्वरूप रहने वाले और कृषि-व्यवस्था में सुधार के बाधक बनने वाले भू-स्वामी-मध्यस्थों के प्रति सामान्य जनता और प्रशासन दोनों की सहानुभूति समाप्त होने लगी। जमींदारी के दोष राजनैतिक जागृति के साथ-साथ और भी स्पष्ट होने लगे। बंगाल के भू-राजस्व आयोग ने (लैंड रेवेन्यू कमीशन) १९४० में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में जमींदारी व्यवस्था को कृषि-सम्बन्धी कुशलता और सरकारी लगान की सुलभता दोनों दृष्टियों से घातक बताया। उनके सुधार के निमित्त आयोग का यह सुझाव था कि कृषकों से लगान वसूलने वाले मध्यस्थ वर्गों के स्वत्वों को हस्तगत कर लेना चाहिए। सन् १९४३ के दुर्भिक्ष जाँच आयोग (फेमिन इन्क्वायरी कमीशन) के सम्मुख बंगाल और बिहार की सरकारों ने जमींदारी को प्रस्तुत परिस्थितियों के प्रतिकूल बतलाया और इसे मिटाने की आवश्यकता पर जोर दिया। युद्ध का अन्त होते-होते देश में जमींदारी उन्मूलन के पक्ष में विचार

फैल गया था। दिसम्बर सन् १९४५ में भारतीय-राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने भी अपने चुनाव घोषणा-पत्र में कृषकों और सरकार के बीच के सभी मध्यस्थों को उचित क्षतिपूर्ति के साथ मिटाना आवश्यक बतलाया था। अन्य दलों ने भी भूमि सम्बन्धी मध्यस्थों को तुरत मिटाने पर जोर दिया स्वतंत्रता मिलने के पश्चात केन्द्र और राज्यों में राष्ट्रीय-सरकार की स्थापना होते ही भूमि-व्यवस्था में सुधार के संगठित प्रयास प्रारम्भ हो गये।

स्वतन्त्रता के पश्चात भूमि-व्यवस्था-सम्बन्धी सुधार

जैसा कि पहले बतलाया गया है, स्वतन्त्रता के अभ्युदय के साथ ही, विविध आशाओं की पूर्ति की उत्कण्ठा जन-साधारण में जागृत हो उठी। राष्ट्रीय-सरकार भी उसके अनुरूप प्रशासन क्रम निर्मित तथा संचालित करने की ओर सक्रिय प्रयास करने लगी। सभी क्षेत्रों के साथ भूमि-व्यवस्था सुधार में भी निश्चित तीव्रता आयी। इस सम्बन्ध में लगान पर जीवित रहने वाले भू-स्वामी-मध्यस्थों की समाप्ति को सर्वप्रथम स्थान दिया गया। इसके अतिरिक्त भूमि-सम्बन्धी अन्य दोषों को मिटाने का भी प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। दूसरे प्रकार के सुधारों के अन्तर्गत छोटे-छोटे भूमि-खण्डों को मिलाकर बड़े कृषि-क्षेत्र बनाने के लिए चकबन्दी और सहकारी खेती के प्रसार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। भूमिहीन कृषक-श्रमिकों की समस्या सुलझाने तथा भूमि का अनुचित केन्द्रीकरण मिटाने के लिए जोत-सीमा का निर्धारण प्रारम्भ किया गया। आचार्य बिनोवा भावे द्वारा संचालित भूदान और ग्रामदान-आन्दोलनों ने भी भूमि-सम्बन्धी उपर्युक्त प्रमुख सुधारों के प्रसार में पर्याप्त योग दिया है। इन्हीं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

मध्यस्थों का लोप

स्वतन्त्रता के समय कृषि की जाने वाली कुछ भूमि का लगभग आधा भाग भू-स्वामी मध्यस्थों के अधीन था। काश्तकारों को इनके अंतर्गत सीमित अधिकार प्राप्त थे। इन मध्यस्थों को मिटाने के लिए सभी राज्य-सरकारों ने संगठित प्रयास प्रारम्भ किया। उत्तर प्रदेश, हैदराबाद, सौराष्ट्र, राजस्थान और मध्यभारत में इस पर विचार करने के लिए समितियाँ नियुक्त की गयीं। सन् १९४७ में ही मध्य-प्रदेश सरकार ने भी एक सलाहकारिणी परिषद की स्थापना की जिससे मध्यस्थों के लोप के सम्बन्ध में उचित राय ली जा सके। मद्रास विधान-मण्डल ने जमींदारी-उन्मूलन का सिद्धान्त विशेष प्रस्ताव द्वारा स्वीकार किया। बिहार सरकार

ने भी जमींदारी-उन्मूलन-विधेयक प्रस्तुत किया। आसाम विधान सभा ने सन् १९४९ में जमींदारी विधेयक पास किया। मद्रास-जमींदारी-उन्मूलन अधिनियम को २ अप्रैल, १९४९ को गवर्नर जनरल की स्वीकृति मिली। बिहार और मध्य-प्रदेश के जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों को २२ जनवरी, १९५१ के दिन राष्ट्र-पति की स्वीकृति मिली। अन्य राज्यों में भी क्रमशः जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम बनते गये और उन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलती गयी। उत्तर प्रदेश अधिनियम को २४ जनवरी, १९५१ के दिन, मध्यभारत अधिनियम को ५ जून, १९५१ को, आसाम अधिनियम को २७ जुलाई १९५१ के दिन और उड़ीसा अधिनियम को २३ जनवरी, १९५२ को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिली। बम्बई राज्य में जहाँ रैयतवाड़ी व्यवस्था थी, विशेष भू-धृतियों जैसे भागदारी आदि को समाप्त करने के लिए विशेष अधिनियम बनाया गया। पंजाब में राष्ट्रपति के सन् १९५१ वाले अधिनियम के अनुसार दखलकार काश्तकारों के भू-स्वामियों और आला-मालिकों वाले अधिकारों को समाप्त कर दिया गया। हैदराबाद, मध्यभारत और राजस्थान में जागीर-दारी समाप्त करने के लिए विशेष अधिनियम बनाये गये। कच्छ में जागीरों और इनामी भूमि को समाप्त करने के प्रथम क्रम के रूप में उन पर लगान लगाने की व्यवस्था की गयी। सौराष्ट्र में भूमि-सुधार के लिए तीन अधिनियम बनाये गये :—

(१) सौराष्ट्र भूमि-सुधार-अधिनियम, (२) बारखाली-उन्मूलन-अधि-नियम और (३) भू-सम्पदा-प्राप्ति-अधिनियम।

इनमें पहले दो अधिनियम गिरसदारों और बारखालीदारों के भूमि-सम्बन्धी अधिकारों को समाप्त करने के लिए बनाये गये, जबकि तीसरा अधिनियम खेती के अतिरिक्त दूसरे व्यवहार में आने वाली भूमि से संबंधित स्वामित्व के अधिकार को मिटाने के लिए बनाया गया था। जम्मू और काश्मीर में भी बड़ी जमींदारियों को मिटाने और भूमि-संबंधी विशेष अनुदानों को समाप्त करने के लिए, भूमि-सुधार-अधिनियम बनाये गये।

कुछ राज्यों में मध्यस्थों को मिटाने के लिए बनाये गये विधान को अविहित घोषित कराने का प्रयास जमींदारों द्वारा किया गया। लेकिन संविधान में विशेष संशोधन लाकर अधिनियमों की वैधानिकता सुनिश्चित कर दी गयी। इस प्रकार प्रथम आयोजन-काल में १९५४-५५ के अन्त तक ही मध्यस्थों के मिटाने का क्रम आन्ध्र, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश, पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, सौराष्ट्र, भोपाल और विन्ध्यप्रदेश में लगभग पूर्ण हो चुका था। आसाम, बिहार, उड़ीसा

और राजस्थान में भी आंशिक रूप में मध्यस्थों के उन्मूलन-सम्बन्धी-अधिनियम लागू किये गये। सन् १९५५-५६ में इस ओर निम्नांकित प्रगति हुई।

बिहार के शेष खण्डों में (९ जिलों में) जमींदारी-उन्मूलन का क्रम पूरा किया गया। पश्चिमी बंगाल में अप्रैल सन् १९५५ में जमींदारी उन्मूलन-अधिनियम बना और उससे सभी जमींदारियाँ समाप्त कर दी गयीं। मैसूर की इनामी भू-धृति, ट्रावनकोर-कोचीन की एडवागई व्यवस्था और अजमेर की इस्तमरारी और जागीरदारी प्रथा को मिटाने के लिए विधान का प्रयोग प्रारम्भ किया गया। उत्तर प्रदेश के जौनसार और बवार के पहाड़ी क्षेत्रों में मध्यस्थों को हटाने का क्रम जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम लागू करके पूरा किया गया। हिमांचल प्रदेश में जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम बनाया गया।

इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय आयोजन काल के अन्त तक लगभग देश भर में से मध्यस्थों को समाप्त कर दिया गया।

मध्यस्थों के उन्मूलन में क्षतिपूर्ति की व्यवस्था

संविधान के अनुच्छेद ३१ के अनुसार सार्वजनिक उद्देश्य से सरकार द्वारा प्राप्त की जाने वाली सम्पत्ति के लिए क्षतिपूर्ति आवश्यक है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न राज्य सरकारों ने अपने जमींदारी-उन्मूलन-सम्बन्धी-अधिनियम में क्षतिपूर्ति को उचित स्थान दिया है। देश भर में मध्यस्थों के स्वत्वों को प्राप्त करने के लिए लगभग ६१५ करोड़ रुपये दिये जाने का अनुमान है। इसमें से ३७९ करोड़ प्राप्त की जाने वाली भूमि के मूल्य के रूप में, ८६ करोड़ रुपये पुनर्स्थापन अनुदान के रूप में और १५० करोड़ रुपये देय-निधि पर सूद के रूप में दिये जाने की गणना की गयी है। कुछ प्रमुख राज्यों में जमींदारी-उन्मूलन के क्रम में दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशि निम्नांकित प्रकार से है:—बिहार में २४० करोड़, उत्तर प्रदेश में १७८ करोड़, पश्चिमी बंगाल में ५९ करोड़, और राजस्थान में ३६ करोड़। देश भर की सम्पूर्ण क्षतिपूर्ति राशि में इन राज्यों का हिस्सा लगभग ८३ प्रतिशत है।

क्षतिपूर्ति की राशि निश्चित करने के लिए अलग-अलग राज्यों में अलग पद्धतियां अपनायी गयी हैं। इस सम्बन्ध में दो तथ्यों का विशेष प्रभाव पड़ा—पहला, वैयक्तिक भू-स्वामी और दूसरा प्राप्त की जाने वाली सम्पत्ति।

बिहार और उत्तरप्रदेश में व्यक्ति को ही क्षति की राशि निश्चित करने का आधार माना गया है, लेकिन आसाम, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और मध्य-

भारत में भू-सम्पदा अथवा भू-धृति को ही इसके निश्चय की इकाई माना गया है।

क्षतिपूर्ति की दर आसाम, बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में भूमि से प्राप्त होने वाली शुद्ध-आय पर आधारित है। मद्रास में भूमि के वार्षिक मूल्य और उत्तर प्रदेश में भूमि के शुद्ध-सम्पत्ति-मूल्य के अनुसार क्षतिपूर्ति निश्चित की गयी है। लेकिन शुद्ध-सम्पत्ति-मूल्य अथवा शुद्ध-आय अथवा वार्षिक-मूल्य का रूप सभी अधिनियमों में समान नहीं रहा है। सामान्यतः शुद्ध-सम्पत्ति-मूल्य और शुद्ध-आय की गणना भू-स्वामी की कुल आय में से भू-राजस्व, कृषि-आयकर, स्थानीय-कर, प्रबन्ध-व्यय, आदि घटाकर की जाती है।

भूमि-स्वत्वों से होने वाली इसी शुद्ध-आय का निश्चित गुणा क्षतिपूर्ति की राशि निकालने का आधार होता है। कम आय वाले मध्यस्थों को अधिक गुणा देने का निश्चय किया गया। उन राज्यों में जहां बड़े और छोटे मध्यस्थों के बीच क्षति-पूर्ति के लिए शुद्ध आय को ही आधार मानना विधान द्वारा अनिवार्य था, वहां कम आय वाले छोटे मध्यस्थों को पुनर्स्थापन-अनुदान दिये जाने की व्यवस्था की गयी।

उत्तर प्रदेश में क्षतिपूर्ति की राशि शुद्ध-आय की आठगुणी रक्खी गयी। राज-स्थान और मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों में क्षतिपूर्ति शुद्ध आय की दस गुणी निश्चित की गयी। मध्यभारत में जमींदारी-उन्मूलन के सम्बन्ध में शुद्ध-आय की आठगुणी क्षतिपूर्ति राशि नियत की गयी और जागीरदारी उन्मूलन अधिनियम में उसे सात-गुणा रक्खा गया। आसाम और उड़ीसा में क्षतिपूर्ति राशि शुद्ध-आय की तीन से पन्द्रह गुणी तक, बिहार में तीन से बीस गुणी तक, मद्रास में साढ़े बारह से तीस गुणी तक और मध्यप्रदेश के शेष हिस्सों में दस से बीस गुणी तक क्षतिपूर्ति राशि निश्चित की गयी।

छोटे भू-स्वामियों को क्षतिपूर्ति की अधिकांश राशि एक साथ ही दे दी गयी। पांच हजार या इससे कम क्षतिपूर्ति पाने वाले भू-स्वामियों को पुनर्स्थापन-अनुदान दिये जाने का निश्चय किया गया। अनुदान राशि कुल क्षतिपूर्ति का २/५ भाग होती थी।

क्षतिपूर्ति का भुगतान करने का ढंग अलग-अलग राज्यों में भिन्न रहा है। आन्ध्र, मद्रास, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, हैदराबाद, मध्यभारत, सौराष्ट्र, भोपाल और विन्ध्यप्रदेश में क्षतिपूर्ति नकद किश्तों में करने की व्यवस्था की गयी। लेकिन बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पश्चिमी बंगाल में क्षतिपूर्ति सम्बन्धी दायित्व अधिक था, इसलिए उनमें बांड का प्रयोग किया गया। बिहार, उत्तर प्रदेश और

राजस्थान के बांड हस्तांतरणीय और परक्राम्य थे। लेकिन बंगाल में ये केवल हस्तांतरणीय थे, परक्राम्य नहीं। ये बांड समान किश्तों में निश्चित अवधि के भीतर शोधनीय थे। शोधन की अवधि बिहार और उत्तर प्रदेश में ४० वर्ष, पश्चिमी बंगाल में २० वर्ष और राजस्थान में पन्द्रह वर्ष रक्खी गयी है।

सन् १९५५-५६ के अन्त तक लगभग ६७ करोड़ रुपये क्षतिपूर्ति-राशि के रूप में दिये जा चुके थे। इसमें ४४ करोड़ रुपये उत्तर प्रदेश में ही दिये गये।

मध्यस्थों के उन्मूलन से काश्तकारों और उप-काश्तकारों के स्वत्वों में पर्याप्त सुधार हुए। विभिन्न अधिनियमों में उनकी स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश भी डाला गया। कुछ राज्यों में उन्हें एक निश्चित धनराशि द्वारा विशेष अधिकार क्रय करने और इस प्रकार अपनी स्थिति में पर्याप्त सुधार लाने का अवसर दिया गया। इसका विस्तृत विवरण आगे दिया गया है।

जमींदारी-उन्मूलन से जंगलों और बंजर भूमि का एक बड़ा अंश राज्य सरकारों के अधीन आ गया। उनके कुशल-प्रबन्ध और विकास पर राज्य सरकारों का विशेष ध्यान है। अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में मध्यस्थों को हटाकर लगान वसूलने की प्रत्यक्ष पद्धति अपनायी गयी। इसके लिए लगान वसूलने वाली पुरानी प्रणाली को अधिक संगठित बना दिया गया। स्थायी बन्दोबस्त अथवा जागीरदारी वाले इलाके में राजस्व प्रशासन संगठित नहीं था और न तो भूमि के लेखे ही शुद्ध रूप में आधुनिक आधार पर थे। इससे मध्यस्थों को हटाने में और जमींदारी-उन्मूलन अधिनियम पूर्णतः लागू करने में कुछ विलम्ब अवश्य हुआ, लेकिन उद्देश्य-प्राप्ति हुई। इस प्रकार संगठित प्रयत्नों द्वारा जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियमों को विभिन्न राज्यों में बड़ी शान्ति-पूर्ण ढंग से कार्यान्वित कराया गया। इससे भारतीय भूमि-व्यवस्था में पिछली कुछ शताब्दियों से जो बाधाएं मध्यस्थों के रूप में उठ खड़ी हुई थीं, उन्हें समाप्त कर दिया गया। सरकार और काश्तकार के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया।

काश्तकारों की भू-धृति सम्बन्धी सुरक्षा

जैसा कि अध्याय के प्रारम्भिक खण्ड में बतलाया गया है, मध्यस्थों के उन्मूलन का मुख्य उद्देश्य काश्तकारों की भू-धृति सुरक्षित बनाना था। जमींदारी-उन्मूलन अधिनियमों में ही सभी काश्तकारों और उप-काश्तकारों के अधिकारों की व्याख्या की गयी है। उत्तर प्रदेश और दिल्ली में इन्हें स्थायी अधिकार दिये गये हैं। जमींदारी और ताल्लुकदारी दोनों प्रकार की भू-धृतियों के कारण उत्तर प्रदेश में

भू-स्वामियों का विशेष प्राबल्य था। उन्हें जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत समाप्त करके काश्तकारों को विशेष सुरक्षा दी गयी है।

उत्तर प्रदेश में काश्तकारों की सुव्यवस्था

इस राज्य के जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत तीन प्रकार के काश्तकारों के होने का क्रम निश्चित किया गया है। वे हैं भूमिधर, सीरदार और आसामी। भूमिधर सर्वोच्च प्रकार का काश्तकार है। इसे अपनी भूमि, कृषि, उद्योग, भवन-निर्माण और किसी प्रकार के सुधार के लिए प्रयुक्त करने का अधिकार है। इसे अपनी भूमि में स्थायी उत्तराधिकारिता और हस्तांतरण के अधिकार सुलभ हैं। लेकिन अपनी भूमि दूसरे को लगान पर देने का अधिकार इसे नहीं है। कुछ विशेष परिस्थितियों में ही भूमिधर अपनी भूमि लगान पर दे सकता है। इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने का प्रमुख उद्देश्य यह था कि सभी कृषक अपनी भूमि स्वयं जोतें। परोक्ष रूप से भू-स्वामित्व का प्रसार न हो।

सीरदार

भूमिधरों के बाद सीरदारों का स्थान आता है। वे लोग जिन्हें दखलकारी काश्तकार के अधिकार प्राप्त हैं अथवा जो दमामी और इस्तमरारी पट्टे पर भूमि रखते हों अथवा किसी बाग के अधिकारी हों, उन्हें सीरदार होने का अधिकार है। सीरदार अपनी भूमि को औद्योगिक अथवा गृह-निर्माण संबंधी कार्यों के लिए प्रयुक्त नहीं कर सकता। केवल कृषि और कृषि-सम्बन्धी अन्य कार्यों, जैसे पशु-पालन, मत्स्य-पालन, कुकुट-पालन आदि, के लिए ही सीरदार अपनी भूमि का प्रयोग कर सकता है। भूमिधर की तरह सीरदार अपनी भूमि को लगान पर दूसरों को जोतने के लिए नहीं दे सकता। वह अपनी भूमि किसी भी परिस्थिति में दूसरों के नाम हस्तांतरित नहीं कर सकता, लेकिन उसे अपनी भूमि में स्थायी उत्तराधिकार प्राप्त है।

असामी

जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत मध्यस्थों के बगीचे की भूमि का गैर-दखलकार-काश्तकार अथवा उसका उप-काश्तकार अथवा चरागाही भूमि का गैर-दखलकार-काश्तकार अथवा भूमिधर या सीरदार से पट्टे पर प्राप्त भूमि को जोतने वाला व्यक्ति असामी हो सकता है। असामी को अपने अधिकार में आयी

हुई भूमि का एकमात्र स्वामित्व रखने का हक है, और वह कृषि अथवा उससे सम्बन्धित अन्य कार्यों के लिए अपनी भूमि का प्रयोग कर सकता है। यदि गांव-सभा द्वारा अथवा भूमिपति द्वारा असामी को उसकी जमीन से हटाया जाय अथवा पट्टे की अवधि बीतने पर वह स्वयं भूमि छोड़ दे, तो ऐसी स्थिति में छोड़ने के पूर्व तक भूमि-सुधार के संबंध में जो भी व्यय उसके द्वारा किये गये हों, उन्हें पाने का अधिकार उसे है।

अन्य राज्यों में काश्तकारों को भू-धृति-सम्बन्धी सुरक्षा, उत्तर प्रदेश की तरह अथवा उससे कुछ भिन्न रूप में दी गयी है। दिल्ली में सभी काश्तकारों और उप-काश्तकारों को विधान द्वारा स्वामित्व के अधिकार मिले हैं लेकिन उसके लिए उन्हें लगान का चार से चालीस गुणा तक दस वर्षों की अवधि में समान किश्तों में चुकता करना है। बम्बई, राजस्थान, हिमांचल प्रदेश और पंजाब में जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत जमींदारों को अपने काश्तकारों से स्वयं खेती करने के लिए भूमि लेने का अधिकार दिया गया है। लेकिन इसके साथ-साथ काश्तकारों के हितों को सुरक्षित रखने की व्यवस्था हुई है। काश्तकार को अपनी भूमि का कुछ निश्चित हिस्सा अपने अधिकार में रखने की शक्ति अधिनियम द्वारा प्राप्त है। बम्बई में वे अपनी कुल भूमि का कम से कम आधा अपने अधिकार में अवश्य रख सकते हैं। जमींदार उनकी भूमि का अधिक से अधिक आधा प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार पंजाब और पेप्सु में काश्तकार अपनी कुल भूमि का कम से कम पांच एकड़ अपने अधिकार में रख सकते हैं। उससे उन्हें बेदखल करना तभी सम्भव है, जबकि राज्य सरकार अन्य स्थानों में उनके लिए भूमि की व्यवस्था करे। राज-स्थान में काश्तकारों को कम से कम बारह सौ रुपये शुद्ध-वार्षिक-आय देने वाली भूमि रखने का अधिकार है। हिमांचल-प्रदेश में काश्तकार अपनी कुल भूमि के ३/४ भाग से बेदखल नहीं किये जा सकते।

उपर्युक्त राज्यों में काश्तकारों के वर्णित स्वत्वों की सुरक्षा के साथ भूमिपतियों को निजी खेती के लिए भूमि प्राप्त करने का अवसर दिया गया, लेकिन उस सम्बन्ध में भी कुछ विशिष्ट सीमाएं निश्चित की गयीं जिनका अतिक्रमण विधान के अनुसार सम्भव नहीं। बम्बई में भूमिपति बारह से अड़तालीस एकड़ तक, पंजाब और पेप्सु में तीस स्टैंडर्ड एकड़ तक, हिमांचल प्रदेश में पांच एकड़ तक और राजस्थान में काश्त-कारों के लिए निर्धारित न्यूनतम भूमि छोड़कर शेष ही अपने अधिकार में कर सकते हैं।

दूसरे राज्यों में भी भू-स्वामियों द्वारा अपने काश्तकारों को बेदखल करके प्राप्त की जा सकने वाली भूमि की मात्रा अधिनियमों द्वारा निश्चित की गयी है।

हैदराबाद में भूमिपति बारह से एक सौ अस्सी एकड़ भूमि रख सकते हैं। भूमि की उर्वरा-शक्ति के अनुसार ही रक्खी जाने वाली भूमि का क्षेत्र निश्चित किया जाता है। यदि भूमिपति न्यूनतम क्षेत्र अपने अधिकार में नहीं रखता तो वह काश्तकार से न्यूनतम सीमा की पूर्ति के लिए अधिकांश अथवा सम्पूर्ण भूमि प्राप्त कर सकता है। लेकिन सामान्य परिस्थितियों में काश्तकार द्वारा काश्त की जाने वाली कुल भूमि का आधा अथवा न्यूनतम सीमा को पूर्ण करने के लिए आवश्यक भूमि इनमें जो भी कम हो, अपने अधिकार में करने की शक्ति ही सुलभ है।

आसाम में भूमिपति निजी खेती के लिए ३३⅓ एकड़ भूमि प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार बरार में उसे पचास एकड़ तक, उड़ीसा में सात से चौदह एकड़ तक, जम्मू और काश्मीर में दो से छः एकड़ तक और कच्छ में पचास एकड़ तक भूमि अपने अधिकार में रखने की सुविधा दी गयी है। यह अधिकार इसलिए स्पष्ट किये गये हैं कि खेती करने की इच्छा रखने वाले भूमिपतियों को आवश्यक भूमि सुलभ हो सके और काश्तकारों के हितों को भी सुरक्षित रक्खा जा सके।

बिहार के काश्तकारों को जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम के अन्तर्गत बेदखल किये जाने से सुरक्षा प्रदान करने के लिए उचित व्यवस्था की गयी है। काश्तकारों अथवा उपरैयतों को जिनमें बटाई भी सम्मिलित है, तीन वर्गों में बांटा गया है :—
(१) दखलकार उपरैयत, जो लगातार बारह वर्षों से भूमि के प्रयोग का अधिकार रखते रहे हैं। ये बेदखल नहीं किये जा सकते। भूमि पर इनका स्थायी अधिकार माना गया है; (२) लिखित पट्टे में स्वीकृत उपरैयत दूसरी कोटि में आते हैं। उन्हें पट्टे का समय बीतने पर बेदखल किया जा सकता है। उपरैयतों का तीसरा वर्ग मौखिक पट्टे पर स्वीकृत उपरैयतों का है। उन्हें तभी बेदखल किया जा सकता है, जबकि वे नियम से लगान नहीं देते अथवा भूमि को खेती करने योग्य नहीं रखते, अथवा अन्य किसी शर्त को तोड़ते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि बेदखली का क्षेत्र बहुत सीमित करके काश्तकारों के स्वत्वों को सुरक्षित रखने की उपयुक्त व्यवस्था अधिनियम में हुई है।

बरार को छोड़कर मध्यप्रदेश में पट्टे पर दी जाने वाली सभी भूमि पर काश्तकार के दखलकारी अधिकार तीन वर्षों तक ही पट्टा जारी रहने से प्राप्त हो जाते हैं।

पश्चिमी बंगाल में नकद लगान चुकाने वाले सभी काश्तकार सरकार के प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आ गये। केवल बरगादार अर्थात फसल में हिस्सा लेने वालों के सम्बन्ध में यह विधान कर दिया गया है कि कुल भूमि का २/३ भाग भू-स्वामी

द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन यदि भू-स्वामी के पास साढ़े सात एकड़ से कम भूमि है तो वह अपने काश्तकार से कुल भूमि प्राप्त कर सकता है।

मैसूर के मध्यस्थों के उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम के अन्तर्गत बारह वर्ष या इससे अधिक समय तक भूमि जोतने वाले काश्तकारों को कुल काश्तकारी भूमि के आधे पर स्थायी अधिकार दिया गया है। अन्य काश्तकारों को भी बेदखल न किये जाने की व्यवस्था कुछ समय तक के लिए कर दी गयी है। इसी प्रकार सौराष्ट्र, विन्ध्यप्रदेश आदि दूसरे राज्यों में भी काश्तकारों की भू-धृति सुरक्षित बनाने का प्रयास हुआ है।

काश्तकारों को सुरक्षा देने वाले विविध विधानों का प्रयोग संगठित रूप में न होने से कुछ कठिनाई अवश्य हुई है, और भूमिपतियों द्वारा बेदखली के अधिकार का प्रयोग भी विस्तृत रूप में किया गया, लेकिन इनसे काश्तकारों के हितों को सुरक्षित बनाने में पर्याप्त सहायता मिली है। सुरक्षा में जो भी अभाव था उसका मूल कारण भूमि-सुधार अधिनियमों के प्रशासन की शिथिलता थी। धीरे-धीरे जन-जागृति बढ़ने और ग्रामीण समाज में संगठन तथा विकास आने से काश्तकारों के लिए अपने अधिकारों को सुरक्षित रखना सरल होता जा रहा है।

काश्तकारों के स्वामित्व-सम्बन्धी अधिकारों की व्यवस्था

प्रथम पंचवर्षीय आयोजन के अन्त तक भारत के अधिकांश राज्यों में काश्तकारों को भू-स्वामित्व के अधिकार दिलाने के लिए उचित वैधानिक व्यवस्थाएँ की गयीं। इनके अन्तर्गत काश्तकारों को कुछ राज्यों में भू-स्वामित्व अधिकार क्रय करने के लिए उचित मूल्य देना पड़ा और कुछ में क्षतिपूर्ति की अदायगी काश्तकारों को नहीं करनी पड़ी। भू-स्वामित्व मूल्य चुका कर क्रय करने का अधिकार प्रायः ऐच्छिक रक्खा गया। इसके प्रयोग की अवधि भी बम्बई और मध्यभारत को छोड़कर अन्य राज्यों में प्रायः अनिश्चित थी। स्वामित्व-क्रय के लिए काश्तकारों द्वारा दी जाने वाली राशियाँ अलग राज्यों में अलग रही हैं। पंजाब में भूमि के औसत बाजार मूल्य का ३/४ क्षतिपूर्ति राशि के लिए निश्चित किया गया। अन्य राज्यों में इसे भूराजस्व का कुछ गुणा ठहराया गया। मध्यप्रदेश में यह सात-गुणा, उत्तर प्रदेश में दस गुणा, हैदराबाद में छः से पन्द्रह गुणा, मध्यभारत में उस भूमि से जमींदार को होने वाली आय का दो से आठ गुणा तक स्वामित्व-अधिकार के प्रतिफल के रूप में दिये जाने का निश्चय किया गया। बम्बई, पेप्सु, दिल्ली और हिमांचल प्रदेश में इसे भू-राजस्व के आधार पर नहीं, बल्कि वार्षिक लगान-

निर्धारण के आधार पर निश्चित किया गया। स्वामित्व-क्रय-मूल्य भुगतान कई किस्तों में किया जाना सम्भव है। भुगतान की अवधि प्रायः पाँच से पन्द्रह वर्षों के भीतर तक रक्खी गयी है।

इन नियमों के बनने से लेकर अब तक की प्रगति को देखने से यह स्पष्ट होता है, कि भू-स्वामित्व-क्रय के ऐच्छिक अधिकारों का प्रयोग व्यापक नहीं हो सका। काश्तकार स्वामित्व-क्रय के लिए विशेष मूल्य देने को तब तक तत्पर नहीं होते जब तक कि उन्हें प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिलता। जमींदारों के स्थान पर सरकारी कर्मचारियों को लगान देने के क्रम से ही वे प्रभावित नहीं होते। इसका प्रचार तभी सम्भव है जब काश्तकारों को नये क्रम में पहले की अपेक्षा कम दायित्व हो, और उनके द्वारा भूमि-सुधार के लिए निश्चित व्ययों में किसी प्रकार की कमी न हो।

द्वितीय आयोजन-काल में काश्तकारों को सरकार के अधिक से अधिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध में लाने का प्रयास हो रहा है। इस क्रम में यह भी ध्यान रक्खा जा रहा है कि लगान और स्वामित्व-क्रय-मूल्य की किस्त दोनों मिलकर सामान्य लगान की सीमा से अधिक न हो। लेकिन इस संबंध में यह भी नहीं भूलना है कि काश्तकारों को स्वामित्व दिलाने के व्यय का भार राज्य-सरकारों पर कम से कम पड़े ताकि वे विकास के अन्य क्षेत्रों में उचित व्यय कर सकें।

भूमि-व्यवस्था-सम्बन्धी अन्य सुधार

केवल मध्यस्थों के हटाये जाने मात्र से ही भारत की भू-व्यवस्था आर्थिक प्रगति के अनुरूप नहीं हो सकती। बड़े भू-स्वामियों के अधिकार में कृषि-भूमि का अधिकांश क्षेत्र रहना स्वाभाविक है। जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ में दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है कि खेती की जाने वाली कुल भूमि का ३३·४ प्रतिशत कृषि पर निर्भर कुल परिवारों के लगभग ५·३ प्रतिशत लोगों के अधिकार में है। ये पच्चीस एकड़ से अधिक भूमि रखने वाले में आते हैं। कृषि पर निर्भर रहने वाला शेष ९४·७ प्रतिशत परिवार कुल कृषि की जाने वाली भूमि का ६६·६ प्रतिशत ही अपने स्वामित्व और प्रयोग में रखता है। पाँच एकड़ से कम भूमि रखने वाले परिवार कुल का ६९·४ प्रतिशत हैं। ५·९ प्रतिशत भूमिहीन कृषक हैं। इन आँकड़ों से भूमि-वितरण की असमानता स्पष्ट होती है। जमींदारी-उन्मूलन से वितरण-सम्बन्धी विषमता में विशेष सुधार नहीं हो सका है। इस दोष को मिटाने के लिए विभिन्न राज्यों में जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित की जा रही है, ताकि

बड़े भू-स्वामियों से अतिरिक्त भूमि, भूमिहीन और छोटे कृषकों के लिए प्राप्त की जा सके।

जोत-सीमा-निर्धारण की व्यवस्था लागू करने के पूर्व प्रथम आयोजन काल में जोत-भूमि की गणना लगभग बाईस राज्यों में की गयी। इस गणना का मुख्य उद्देश्य यह मालूम करना था कि भू-स्वामियों की कितनी भूमि कुशलतापूर्वक प्रबन्धित है और कितनी नहीं। आन्ध्र, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, हैदराबाद, मध्यभारत, सौराष्ट्र, अजमेर, भोपाल और कच्छ में सभी जोतों की गणना हुई। लेकिन पंजाब, पेप्सु, कुर्ग, दिल्ली, हिमांचल प्रदेश और विन्ध्यप्रदेश में दस एकड़ और उससे अधिक क्षेत्रों वाली जोतों की गणना की गयी। उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान और ट्रावनकोर-कोचीन में सैंपुल सर्वे से ही जोतों की गणना की गयी। कुछ राज्यों में जैसे आसाम, पश्चिमी बंगाल और जम्मू काश्मीर में जोत की कोई गणना नहीं की गयी। राज्य-सरकारों के पास सुलभ आँकड़ों को ही जोत-सीमा-निर्धारण का आधार मान लिया गया।

जोत-सम्बन्धी आँकड़ों को इस प्रकार एकत्र कर भूमि की उर्वरा शक्ति, निर्भर रहने वाले व्यक्तियों की औसत संख्या आदि की दृष्टि से अलग अलग राज्यों में जोत की उच्चतम सीमा अनुमानित की गयी। कुछ राज्यों के अनुमान नीचे दिये जा रहे हैं:—

आसाम में ५० एकड़; बम्बई में तीन आर्थिक जोत, अर्थात बारह से अड़तालीस एकड़ तक; उत्तरप्रदेश में तीस एकड़; पश्चिमी बंगाल में पच्चीस एकड़, हैदराबाद में बारह से एक सौ अस्सी एकड़; जम्मू और काश्मीर में २२$\frac{3}{4}$ एकड़; मध्यभारत में पचास एकड़; पेप्सु में तीस प्रमाणित एकड़, दिल्ली में तीस प्रमाणित एकड़।

इन जोत की सीमाओं को लागू कराने के लिए विधान की व्यवस्था कुछ ही राज्यों में की जा सकी है। जम्मू और काश्मीर में १९४९ में इस उद्देश्य का एक अधिनियम बनाया गया था। उसे आंशिक रूप में प्रथम आयोजन-काल में कार्यान्वित भी किया गया उसके अंतर्गत सीमा से अधिक भूमि सरकार के अधिकार में बिना किसी क्षतिपूर्ति के करने की व्यवस्था थी। हैदराबाद में १९५४ में इसके लिए आवश्यक विधान बनाया गया। हिमांचल प्रदेश में भूमि-सीमा-निर्धारण के लिये बनाये गये विधान के अन्तर्गत दो क्रम अपनाये गये। चम्बा जिले में जोत की उच्चतम सीमा तीस एकड़ ठहरायी गयी। अन्य जिलों में एक सौ पच्चीस रुपये वार्षिक लगान वाली भूमि को उच्चतम सीमा माना गया। पंजाब सरकार ने इस सम्बन्ध

में ऐसा अधिनियम बनाया है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक भू-स्वामी की तीस एकड़ से अधिक वाली भूमि (विस्थापित जनों के लिए पचास एकड़ से अधिक) सरकार के अधीन होने की व्यवस्था है। इस प्रकार प्राप्त भूमि का प्रयोग उन काश्तकारों को पुन: स्थापित करने में किया जाता है जो भूमिपतियों द्वारा निजी खेती के लिए बेदखल किये जाते हैं। इस नियम का प्रयोग उन क्षेत्रों पर नहीं किया जाता जो कुशलतापूर्वक प्रबन्धित होते हैं और जिनके क्षेत्र में किसी प्रकार का ह्रास उत्पादन घटाने का कारण हो सकता है।

पेप्सु में राज्य-पुनस्संगठन के ठीक पूर्व जोत की सीमा के सम्बन्ध में विशेष विधान बनाया गया। उच्चतम सीमा साधारण लोगों के लिए तीस एकड़ और विस्थापितों के लिए चालीस एकड़ रक्खी गयी। इसके अतिरिक्त भूमिपतियों को फल के बगीचे के रूप में पांच एकड़ और भूमि रखने का अधिकार दिया गया। अतिरिक्त भूमि प्राप्त करने की व्यवस्था क्षतिपूर्ति के आधार पर की गयी है। आसाम और पश्चिमी बंगाल में भी जोत की उच्चतम सीमा के लिए अधिनियम बनाये गये। आसाम में यह सीमा पचास एकड़ और पश्चिमी बंगाल में पच्चीस एकड़ तक है। इन दोनों राज्यों में ये अधिनियम अभी तक लागू नहीं हो सके हैं।

बिहार में जोत की उच्चतम सीमा के सम्बन्ध में एक विधेयक तैयार कराया गया था। उसके अन्तर्गत पच्चीस से पचहत्तर एकड़ तक की जोत-सीमा निर्धारित की गयी है। लेकिन इस विधेयक को अभी अधिनियम का रूप नहीं दिया जा सका है।

जोत की सीमा का निर्धारण लगभग सभी राज्यों में व्यक्ति के आधार पर नहीं बल्कि परिवार के आधार पर हो रहा है। भूमि के उन हस्तांतरणों को रोकने की भी कोशिश की जा रही है जो जोत की सीमा से सम्बन्धित नियंत्रणों से बचने के लिए किये जाते हैं। औद्योगिक आवश्यकता तथा उत्पादकता की दृष्टि से कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को जोत-सीमा के क्षेत्र से अलग रक्खा गया है। उनमें निम्नांकित उल्लेख हैं:—चाय, कहवा, रबर, और फल के बगीचे, दूध अथवा ऊन उत्पादन के लिए प्रयुक्त क्षेत्र, आधुनिक पद्धतियों के प्रयोग से खेती की जाने वाली भूमि।

जोत-सीमा लगाने पर जिन भू-स्वामियों से अतिरिक्त भूमि प्राप्त की जायगी उन्हें क्षतिपूर्ति करने का निश्चय किया गया है। क्षतिपूर्ति के लिए बीस वर्षीय बांड देने का विचार है। इससे प्राप्त होने वाले भूमि को छोटे काश्तकारों में वितरित किया जाता है। उनसे प्रतिफल के रूप में कुल वार्षिक उत्पादन में से १/५ से १/४

भाग लिया जाता है। भूमि हीनों में नयी भूमि का बन्दोबस्त करने के लिए उचित सलाह प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रत्येक राज्य में गैर-सरकारी सदस्यों की सलाहकारिणी परिषदें बनाने का भी विचार है। इन व्यवस्थाओं से कृषि की जाने वाली भूमि का अनुचित केन्द्रीकरण बहुत कुछ मिटाया जा सकेगा। छोटे काश्तकारों और भूमिहीन श्रमिकों की भूमि संबंधी समस्या भी सुलझायी जा सकेगी।

चकबन्दी और सहकारी खेती

मध्यस्थों के मिटाने और जोत की सीमा लागू होने से छोटे काश्तकारों की संख्या भारतीय कृषकों में प्रमुख होती जा रही है। उनके साथ ही परम्परागत प्रथाओं के कारण छोटे खेतों की संख्या भी बढ़ रही है। उत्पादन की वृद्धि और कृषि की आधुनिक पद्धतियों के उपयोग के लिए खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होना रोकना ही नहीं है, अपितु पहले से स्थित छोटे भूमि-खण्डों को मिला कर बड़े भूमि-क्षेत्र बनाने हैं। इसके लिए चकबन्दी और सहकारी खेती, इन दोनों विधियों को अपनाया जा रहा है।

प्रथम पंचवर्षीय आयोजन के पूर्व ही पंजाब, मध्यप्रदेश और बम्बई में चकबन्दी की पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। प्रथम आयोजन काल में इसे और व्यापक बनाने का प्रयास प्रारम्भ किया गया। पहले इसे सहकारी समितियों द्वारा स्वेच्छा से लाने की व्यवस्था की गयी। लेकिन धीरे-धीरे इसके लिए कुछ वैधानिक बाध्यता ला दी गयी है। यदि गांव के ग्रामीणों का एक निश्चित अनुपात चकबन्दी के लिए राजी हो तो शेष ग्रामीणों को भी उसमें सम्मिलित होने के लिए सरकार बाध्य कर सकती है।

मध्यप्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, काश्मीर और बड़ौदा में चकबन्दी इसी क्रम से प्रारम्भ हुई। इसके लिए विशेष विधान कुछ राज्यों में निम्नांकित क्रम से बने। बम्बई में १९४७ ई० में, पंजाब और पेप्सु में सन् १९४८ में, उड़ीसा में सन् १९५१ में, उत्तर प्रदेश और हिमांचल प्रदेश में सन् १९५३ में, राजस्थान में १९५४ में, पश्चिमी बंगाल में १९५५ में और बिहार तथा हैदराबाद में १९५६ में चकबन्दी सम्बन्धी विशेष विधान बनाये गये।

सन् १९५५-५६ तक विभिन्न राज्यों में चकबन्दी की प्रगति आगे दी गयी तालिका में स्पष्ट की गयी है:—

राज्य	१९५५–५६ में प्रगति	१९५५–५६ तक प्रगति
१. बम्बई	६ ' ८ लाख एकड़	२१ ' २ लाख एकड़
२. मध्यप्रदेश	१ ' १ लाख एकड़	२८ ' ९ लाख एकड़
३. पंजाब	६ ' ५ ,, ,,	४८ ' ६ ,, ,,
४. पेप्सु	५ ' ३ ,, ,,	१३ ' ३ ,, ,,
५. दिल्ली	... ...	२ ' ० ,, ,,
६. उत्तर प्रदेश	५ जिलों की एक एक तहसील में।	२१ जिलों में चल रही है।

अन्य राज्यों में अपेक्षाकृत कम प्रगति हो सकी है। द्वितीय आयोजन काल के अन्तर्गत इसे और भी व्यापक बनाया जा रहा है। यद्यपि चकबन्दी से छोटे-छोटे खेतों की समस्या हल करने में पर्याप्त सहायता मिली है, फिर भी भूमि के टुकड़े होने के क्रम में बिना कमी लाये स्थायी सुलझाव सम्भव नहीं है। इसके लिए चकबन्दी के साथ ही और छोटे टुकड़ों का बढ़ना रोकना है। इसके लिए एक निश्चित सीमा से कम टुकड़ों में खेतों का विभाजन विशेष विधानों द्वारा अविहित बनाने का प्रयास हुआ है। प्रथम आयोजन के पूर्व ही बम्बई, पंजाब, पेप्सु और दिल्ली में इस सम्बन्ध के विधान बनाये जा चुके थे। प्रथम आयोजन काल में बिहार, हैदराबाद, उड़ीसा, राजस्थान और सौराष्ट्र में इस विषय के अधिनियम बनाये गये। आयोजना-आयोग ने भी १९५५-५६ से चकबन्दी की समस्याओं का विशेष अध्ययन प्रारम्भ किया है। सामुदायिक विकास योजनाओं के साथ सहकारी खेती के माध्यम से भी चकबन्दी के प्रसार की व्यवस्था हो रही है।

सहकारी खेती

भूमि की अनेक समस्याओं का अन्त सहकारी खेती द्वारा सम्भव है। इससे छोटे और मध्यम वर्ग के किसानों की भूमि को बड़े खण्डों में परिवर्तित किया जा सकता है। बड़े क्षेत्रों में उत्पादन की वृद्धि सम्भव बनाने वाली वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग और अधिक पूँजी का विनियोग सरल है। इसके लिए स्वतन्त्रता मिलने के पूर्व से ही सरकार के सहकारी विभाग द्वारा प्रयत्न हो रहे हैं। लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात से इसके लिए विशेष प्रोत्साहन और सहायता दी जा रही है। कृषि-मन्त्रालय ने प्रथम आयोजन काल में राज्य सरकारों को यह सुझाव दिया कि वे सहकारी खेती के विकास के लिए संगठित कार्यक्रमों

को निश्चित करें। उनकी वित्तीय व्यवस्था के लिए केन्द्र से आर्थिक सहायता देने का क्रम अपनाया गया है। सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-खण्डों में कृषि विकास के लिए सहकारी खेती को विशेष प्रश्रय दिया जा रहा है।

इन प्रयत्नों के फलस्वरूप देश भर में प्रथम आयोजन के अन्त तक १३९७ सहकारी खेती समितियां कार्य करने लगीं। इस दिशा में सबसे अधिक प्रगति बम्बई राज्य में हुई जहां आयोजन के अंत तक ३४२ सहकारी खेती समितियां कार्य करने लगी थीं। इसके बाद क्रमशः पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल और पेप्सु का स्थान था। इनमें २८९, १६८, ७६,७५ और ५८ सहकारी खेती समितियां कार्य करने लगी थीं। इनमें से अधिकांश सहकारिता की सुविधाओं के लिए ही बनायी गयी थीं, लेकिन कुछ ऐसी भी थीं जिन्हें बड़े भू-स्वामियों द्वारा अपनी भूमि को विविध भूमि सुधार अधिनियमों के अन्तर्गत सुरक्षित रखने के लिए स्थापित किया गया था।

प्रथम आयोजन काल में ही सहकारी खेती की प्रगति और उसकी समस्याओं पर विचार करने के लिए स्थापित विकास कार्यक्रमों का मूल्यांकन करने वाले संगठन ने विभिन्न राज्यों की बाईस (२२) समितियों की कार्य-विधियों का विश्लेषण किया। उसके सुझावों से सहकारी खेती के अन्तर्गत कृषि-विकास के नये प्रयोगों को व्यवहार में लाना सम्भव हो सकेगा।

द्वितीय आयोजन की रचना के समय ही यह निश्चित किया गया कि अगले दस वर्षों में अधिकांश कृषि को सहकारिता सिद्धान्त पर ला दिया जायगा। अलग-अलग राज्यों में पिछले अनुभवों और प्रगतियों के आधार पर सहकारी खेती के प्रसार का अधिक से अधिक लक्ष्य निश्चित किया गया है। सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा खण्डों के साथ चलाये जाने के कारण इनके प्रसार में अधिक सफलता मिली है। इन क्षेत्रों में कृषि-विकास की विभिन्न सुविधाएँ प्रायः सहकारी कृषि समितियों को ही दी जाती हैं। उनके सदस्यों को कृषि के अतिरिक्त आय-अर्जन के अन्य साधन भी बतलाये जाते हैं। समितियों की प्रारम्भिक व्यवस्था के लिए सरकार से विशेष अनुदान भी दिये जाते हैं। सहकारी खेती के प्रबन्ध और संगठन को वैज्ञानिक आधार देने और ग्रामीणों में उनका प्रयोग प्रसारित करने के लिए स्थान-स्थान पर अग्र योजनाएं चलायी जा रही हैं। इनसे निकटवर्ती क्षेत्रों के कृषकों को सहकारी खेती प्रारम्भ करने की विधियां सरलतापूर्वक सिखलायी जाती हैं।

चकबन्दी के क्रम में भी सहकारी खेती बढ़ाने के प्रयत्न हो रहे हैं। भूदान से प्राप्त अथवा जोत की उच्चतम सीमा लगाने से सुलभ भूमि का वितरण भूमि-हीन कृषकों में सहकारिता सिद्धान्त के आधार पर ही करने का प्रयास होता है। यद्यपि इससे कृषक-श्रमिकों की बड़ी संख्या प्रभावित नहीं होती, फिर भी, उनमें सहकारिता सिद्धान्त का प्रचार होता है।

सहकारी-ग्राम-प्रबन्ध

द्वितीय आयोजन काल में सहकारी खेती के प्रसार के साथ ही सहकारी-ग्राम प्रबन्ध का प्रचार किया जा रहा है। इसके अन्तर्गत गांव की पूर्ण सम्पत्ति सभी ग्रामीणों के सामूहिक स्वामित्व में आ जाती है। भूमि के छोटे टुकड़े सामान्य क्रम में ही मिला लिये जाते हैं। इस प्रकार उनका सुसंगठित प्रयोग सम्भव होता है। कृषि में कार्य करने वालों की संख्या भी पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। कृषि से छूटे हुए लोगों को उत्पादन के अन्य कार्यों में लगाया जाता है। इस प्रकार गांव की आर्थिक स्थिति सुधारने में पर्याप्त सहायता मिलती है। सामुदायिक विकास योजनाओं की सफलता से ग्रामीणों में जितना ही अधिक प्रयत्न करने की प्रवृत्ति आयेगी, उतनी ही अधिक प्रगति सहकारी ग्राम-प्रबन्ध कर सकेगा। इससे भूमिहीनों और भू-स्वामियों के उत्तेजक विभेद भी समाप्त हो सकेंगे।

भूदान आन्दोलन

भूमिहीन श्रमिकों की सुव्यवस्था के लिए भू-स्वामियों से दान रूप में भूमि प्राप्त करने के लिए अप्रैल सन् १९५१ से आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में भूदान आन्दोलन चल रहा है। इसमें छोटे-बड़े सभी भूमिपतियों से दान-रूप में भूमि प्राप्त की जाती है और उसे भूमिहीनों तथा छोटे कृषकों में वितरित किया जाता है। देश के विभिन्न राज्यों में पद-यात्रा करके आचार्य विनोबा इस आन्दोलन को सफल बना रहे हैं। १९५६ तक लगभग बयालीस लाख एकड़ भूमि दान-रूप में प्राप्त हुई। इसमें से लगभग पांच लाख एकड़ भूमि वितरित भी की जा चुकी, जिससे एक लाख साठ हजार परिवार लाभान्वित हुए। देश के भूमिहीन श्रमिकों की विकट समस्या को सुलझाने में इस आन्दोलन से बड़ा योग मिला है। भूमिहीनों में क्रान्ति की बढ़ती हुई भावना को रोकने में यह विशेष सहायक हुआ है। इसका विस्तृत विवरण नवें अध्याय में दिया गया है।

भूमि-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए जोत की सीमा लगाने, चकबन्दी करने, सहकारी खेती का प्रचार करने के साथ ही उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रबन्ध-कुशलता में वृद्धि लाने का भी प्रयास हो रहा है। इसके लिए भूमि-सुधार पर सुझाव देने के निमित्त बनायी गयी समिति के सुझावों को कार्यान्वित किया जा रहा है। फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि सम्भव है और भूमि रूप में प्राप्त प्राकृतिक सम्पत्ति का संरक्षण भी हो रहा है।

उपसंहार

भूमि-व्यवस्था में सुधार लाने के पूर्वोक्त प्रयत्नों से कृषक कृषि-भूमि और भू-राजस्व तीनों प्रभावित हुए हैं। मध्यस्थों का लोप होने से काश्तकारों को भू-धृति की सुरक्षा मिली है। जोत की सीमा लगाने और भूदान आन्दोलन से भूमि-हीन कृषकों के लिए भूमि की व्यवस्था की जा रही है। इससे उनमें बढ़ता हुआ असन्तोष बहुत कुछ सीमित रक्खा जा सका है। सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रसार होने से कृषकों में पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ी है। वे आपस में मिलकर कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए ही नहीं, बल्कि अपने सर्वतोमुखी विकास के लिए प्रयत्नशील हो रहे हैं।

कृषि-भूमि को भी चकबन्दी और सहकारी-खेती-समितियों द्वारा बड़े खण्डों में बदला जा रहा है। इससे भारतीय कृषि-व्यवस्था के प्रमुख दोष—खेतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होने—को मिटाया जा रहा है। बड़े कृषि क्षेत्रों के बनने से कृषि के आधुनिक साधनों का प्रयोग सफलतापूर्वक हो सकता है। इससे उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि सम्भव है। जोत की सीमा लगाने और मध्यस्थों को मिटाने के क्रम में काश्तकारों की भू-धृति सुरक्षित बनाने से भूमि-स्वामित्व का केन्द्रीकरण बहुत कम किया जा सका है। भूमि-वितरण की समानता कृषकों को प्रगति के समान अवसर दे सकेगी।

मध्यस्थों का लोप होने से कृषकों और सरकार के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो सका है। इससे यद्यपि प्रशासन-भार पहले की अपेक्षा बढ़ गया है लेकिन फिर भी भू-राजस्व में कुछ वृद्धि हुई है। राज्य सरकारें भूमि सुधार के सभी प्रयत्नों का प्रशासन स्तर उठाने की ओर प्रयत्नशील हैं। कुशल और ईमानदार कार्यकर्ताओं को ही रखने पर विशेष जोर दिया जा रहा है। प्रशासन की सुव्यवस्था के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों को देखते हुए भूमि-सुधार की सफल प्रगति अवश्यम्भावी प्रतीत होती है। इससे समृद्ध और सन्तुष्ट ग्राम-राज्य स्थापित करना

सरल हो सकेगा। हिंसात्मक साम्यवादी क्रान्तियों को रोक कर शांतिपूर्ण प्रजातंत्रा-त्मक व्यवस्था सुदृढ़ रख सकना भी सम्भव होगा। स्वतन्त्र भारत की केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों की भूमि-व्यवस्था में सुधार लाने की सतर्कता उनकी दूरदर्शिता का द्योतक है। कृषि-प्रधान-देश, भारत की सतत प्रगति इन्हीं प्रयासों पर ही अवलम्बित है। अगले अध्याय में ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वतोमुखी संगठित विकास लाने वाली सामुदायिक विकास योजनाओं का विवरण दिया गया है।

आठवां अध्याय

भारत में सामुदायिक विकास योजनाएँ

आर्थिक क्रान्ति में सामुदायिक विकास योजनाओं का स्थान

भारत की आर्थिक क्रान्ति देश की ग्रामीण जनता के सहयोग और प्रयत्न के अभाव में सफल नहीं हो सकती थी। कुछ बड़े और नये उद्योगों तथा जल-विद्युत और सिंचाई की योजनाओं को चलाने अथवा देश भर में परिवहन के आधुनिक साधनों का जाल फैला देने मात्र से ही लाखों गांवों में रहने वाली ८२'७ प्रतिशत जनता की आर्थिक स्थिति नहीं सुधर सकती थी। इसके लिए ऐसा क्रम प्रारम्भ करना आवश्यक था जिसमें ग्रामीण अपनी विपन्नता, अज्ञान और शिथिलता दूर करने का प्रयास स्वयं कर सकें और उन्हें उत्पादन के नये साधन तथा जीवन के नये दृष्टिकोण सुलभ हो सकें। इस व्यवस्था के लिए प्रजातन्त्रात्मक आयोजन के सिद्धान्तों को तिलांजलि भी नहीं देनी थी और न सरकारी विभागों द्वारा जनता पर नये कार्यक्रमों को लादना ही था। गांवों में विकास की ऐसी पद्धति चलानी थी जिससे जनता अपनी समस्याओं को स्वयं समझे, उन्हें सुलझाने की अपनी योजना बनाये और उन दोनों योजनाओं को चलाने के लिए स्वयं सामूहिक प्रयत्न करे। सरकार केवल जनता के प्रयत्नों को सफल बनाने के लिए नयी विधियों और आवश्यक साधनों की सहायता पहुँचाये। इन्हीं सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए प्रथम आयोजन काल में भारत की ग्रामीण जनता का सर्वतोमुखी विकास लाने के लिए सामुदायिक विकास योजना और राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं का प्रारम्भ किया गया।

यह नया प्रयोग देश के ५,५८,०००गांवों में रहने वाली २९'५ करोड़ जनता में नयी चेतना लाने के लिए किया गया है। इससे जनता को अपनी स्थिति सुधारने के लिए सामूहिक ढंग से अपने आप प्रयत्न करने की प्रेरणा दी जाने लगी है। सैकड़ों वर्षों की दासता के कारण ग्रामीणों में जो मानसिक शिथिलता आ गयी थी, अज्ञानावस्था में रहते हुए अपनी सभी कमियों को भाग्य का फेर समझने की जो मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी उसे धीरे-धीरे मिटाने और अपनी अवस्था अपने प्रयत्नों से

बदलने का नया मार्ग उन्हें दिखाया जा रहा है। ग्रामीणों में अपनी पैदावार बढ़ाने, नये कारोबार सीखने, अपने घरों को ठीक ढंग से बनाने, सफाई रखने और मनोरंजन के साधनों को ढूंढ़ने तथा उनका व्यवहार करने का उत्साह भरा जा रहा है। शिक्षा और चिकित्सा के साधनों को सरकारी विभागों और कर्मचारियों द्वारा प्रसारित कराया जा रहा है। इससे ग्रामीणों को देश में होने वाले विकासों का प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर प्राप्त हो सका है और विकास कार्यों के संचालन में अपने सक्रिय योग का महत्त्व समझने लगे हैं। सामुदायिक योजना के इस प्रयोग को प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने देश के विकास क्रम में बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है। उनके अनुसार इसका महत्त्व इसकी प्राप्तियों पर नहीं अवलम्बित है बल्कि इस तथ्य पर आधारित है कि इससे ऐसे समाज का निर्माण हो रहा है जिसके सदस्य अपने घरों, गांवों और देश की रचना स्वयं कर रहे ह।[१]

ग्रामीण क्षेत्रों का सुधार करने का यह प्रयास अपने संगठन और आकार में सर्व प्रथम होते हुए भी अपने प्रकार में प्रथम नहीं है। स्वतन्त्रता मिलने के बहुत पहले से ही भारतीय गांवों की शोचनीय दशा को सुधारने की विधियों पर विचार होता रहा और स्थानीय सरकारी तथा देश के नेताओं द्वारा उनके प्रयोग का भी प्रयास किया गया। महात्मा गांधी और कवीन्द्र रवीन्द्र ने देश के गांवों को सुधारना ही देश की उन्नति का मार्ग बतलाया था। मध्य प्रदेश का सेवाग्राम, मद्रास की फिरका डेवलपमेन्ट स्कीम, बम्बई के सर्वोदय केन्द्र, उत्तर प्रदेश के इटावा और गोरखपुर जिलों में चलायी जाने वाली ग्राम विकास की योजनाएँ ग्रामों की स्थिति सुधारने के लिए किये गये पूर्व प्रयत्नों के सजीव उदाहरण हैं। इन प्रारम्भिक प्रयत्नों से ही ये अनुभव हुए कि गांवों का वास्तविक विकास करने के लिए सर्वतोमुखी प्रयास संगठित रूप में होना चाहिए। विभिन्न सरकारी विभागों द्वारा अलग-अलग क्षेत्रों में प्रयास करने से ग्रामीण जनता भ्रमित हो जाती है और किसी भी निश्चित मार्ग को अपने विकास के लिए नहीं अपना सकती।[२] विकास की योजनाएँ जनता के सहयोग से बनायी और चलायी जाने पर ही स्थायी परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं क्योंकि जनता जिस प्रयास को अपने हितों के लिए अपने ही निश्चित

१. राजविकास आयुक्तों के अधिवेशन में प्रधान मन्त्री पं० नेहरू का भाषण (मई १९५२)

२. प्रथम पंचवर्षीय योजना, अध्याय १५, पृष्ठ २२३

मार्गों पर करती है और सरकार उसमें केवल सहायक मात्र होती है वे अधिक सफल होते हैं। सरकार द्वारा बाध्य होने पर किये जाने वाले प्रयत्न थोड़ी ढिलाई आते ही स्थगित हो जाते हैं। इसी प्रकार केवल सरकारी खर्चों के बल पर चलने वाले विकास कार्य स्थायी नहीं होते लेकिन जिन्हें जनता अपने पारस्परिक सहयोग और श्रम से करती है वे अधिक प्रभावपूर्ण होते हैं। जनता को केवल सलाह और उपदेश मात्र से विकासोन्मुख नहीं किया जा सकता; बल्कि बीज, खाद, द्रव्य, प्रावधिक जानकारी आदि के सक्रिय योग से उन्हें विकास की प्रेरणा दी जा सकती है। प्रत्येक विकास कार्य को सघन रूप देने से ही उसमें प्रगति होती है क्योंकि तभी प्रत्येक व्यक्ति और परिवार उसमें अपना सक्रिय योग दे पाते हैं। कार्यों का सम्पादन बिलकुल नयी विधियों से कराने के बदले ग्रामीणों के अनुभव और कुशलता से कराने पर सफलता की अधिक सम्भावना रहती है। इनके अतिरिक्त विकास कार्यों का उपयुक्त संचालन जनता के उत्साह पर निर्भर होता है और प्रगति विशेष तभी सम्भव है जब जनता अपनी उन्नति के लिए स्वयं उत्साहित हो। प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन की रिपोर्ट में इन्हीं पुराने अनुभवों को ही सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं को प्रारम्भ करने का आधार बतलाया गया है।[1]

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन की समीक्षा करनेवाली अधिक अन्न उपजाओ जांच समिति ने भी कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए ग्रामीण जीवन का सर्वतोमुखी विकास आवश्यक बतलाया था। उनके अनुसार ग्रामीणों का जीवनस्तर बिना ऊंचा किये और उन्हें सभी दृष्टि से सम्पूर्ण और सम्पन्न बनाये बिना राष्ट्र की प्रगति सम्भव नहीं है और न तो खाद्यान्नों की समस्या हल हो सकती है। इसी आदर्श को सामने रख कर जब राष्ट्रीय विकास की योजनाओं को सरकार और जन-नेताओं के योग से चलाया जाता है, तभी जनता का उत्साह प्राप्त हो सकता है और गांवों में रहने वाले लाखों परिवारों का सक्रिय सहयोग भी उनके जीवन-स्तर को उठाने के महान कार्य में मिल सकता है। इस समिति ने भी ग्रामीण क्षेत्रों में संगठित विकास लाने के लिए सामुदायिक विकास योजना चलाने का संकेत किया था।

१. प्रथम पंचवर्षीय योजना, अध्याय १५, पृष्ठ २२४।

विदेशों में ग्रामीण क्षेत्रों का संगठित विकास करने के लिए चलायी गयी योजनाओं ने भी भारतीय सामुदायिक योजना का रूप और कार्य विधि निश्चित करने में काफी योग दिया। इसके लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार और फोर्ड फाउण्डेशन से प्राप्त प्राविधिक और आर्थिक सहायता विशेष सहायक सिद्ध हुई है। अमेरिका से कुछ ऐसे विशेषज्ञ भी बुलाये गये है जो इसकी रूपरेखा निश्चित करने और संचालन की समस्या हल करने में योग देते है।

द्वितीय खण्ड

सामुदायिक विकास योजनाओं के मूलतत्त्व

भारतीय सामुदायिक विकास योजनाओं के दो प्रमुख पहलू हैं:— (१) ग्रामीणों के विकास का कार्यक्रम और (२) नये साधनों और जानकारियों के प्रसार का माध्यम। प्रथम रूप में इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीणों के वे प्रयत्न आते हैं जिन्हें वे सामूहिक रूप में अपना उत्पादन बढ़ाने, सड़कें बनाने, घर बनाने, अपनी सफाई करने तथा अपने आमोद-प्रमोद के नये साधन निकालने के लिए करते हैं। ग्रामीणों को इन प्रयत्नों के लिए उत्साहित करने और उन्हें उचित सहायता देने की विधियों का समावेश योजना के इस रूप में हुआ है।

योजना के दूसरे तत्त्व में वे मार्ग आते हैं जिनसे कृषि उत्पादन और दूसरे औद्योगिक कारोबार की नयी जानकारियां ज्ञान के उच्च क्षेत्रों से ग्रामीणों तक पहुँचायी जा सकें तथा ग्रामीणों की समस्याएँ विशिष्ट ज्ञाताओं तक लायी जा सकें जिससे उनका समुचित हल पुनः ग्रामीणों को सुलभ हो सके। कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा दूसरे प्रकार के वैज्ञानिक और प्रावधिक ज्ञानों को ग्रामीणों में सुशिक्षित कर्मचारियों द्वारा प्रसारित कराना ही योजना के इस पहलू की प्रमुख विशेषता है। इन दोनों रूपों से ही बिना विशेष व्यय और बड़ी संख्या में विशेषज्ञों की नियुक्ति किये ही गांवों की स्थिति धीरे-धीरे बदली जा रही है। इससे गांव वालों की पुरानी आदतें और दृष्टिकोण भी बदलते जा रहे हैं। इस प्रकार विकास की शान्तिमय पद्धतियों से ग्रामीण क्षेत्रों में क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन लाना सम्भव होता है। इन्हीं तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए ही सामुदायिक विकास योजना और राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं को द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी ग्रामीण जीवन के सभी पहलुओं में उन्नति लाने का साधन बतलाया गया है। ये ऐसे सघन प्रयत्नों के क्षेत्र हैं जिसमें सरकार के विभिन्न विकास विभाग पूर्व आयोजित और समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को पारस्परिक सहयोग से चलाते हैं। इनका मूलतत्त्व ग्रामीणों में अपनी उन्नति आप करने की चेतना उत्पन्न करना है। आत्म-निर्भरता और पारस्परिक सहयोग इसके आधार स्तम्भ हैं। इसमें सभी ग्रामीण परिवारों विशेषतः सुविधा-हीन लोगों को आगे बढ़ने का सुअवसर दिया जाता है।

तृतीय खण्ड

सामुदायिक योजनाओं और प्रसार सेवाओं का संगठन एवं प्रशासन

ग्रामीण क्षेत्रों में सघन विकास लाने के लिए सर्वप्रथम सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रारम्भ सन् १९५२ में किया गया। लेकिन आगामी दस वर्षो के भीतर ही देश के सभी गांवों में विकास का रुख लाने के लिए सघन विकास केन्द्र के रूप में कार्य करने वाले सामुदायिक विकास-योजना क्षेत्र के साथ राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा खण्डों का भी प्रारम्भ किया गया। सघन विकास केन्द्रों में निश्चित व्यय करके कुछ सीमित अवधि में ही कृषि, सिंचाई, परिवहन, शिक्षा, स्वास्थ्य, सहायक उद्योग, गृह-निर्माण और अन्य जन-कल्याण कार्यों में विकास लाने का प्रयत्न विशेषज्ञों की देख-रेख और ग्रामीणों के सहयोग से किया जाता है। राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों में पहले ग्रामीणों को उत्पादन की नयी विधियाँ और जीवन के नये दृष्टिकोण बतला कर विकासोन्मुख बनाया जाता है, जिससे वे अपनी समस्याएँ समझने और उन्हें हल करने का उपाय निकालने लगते हैं। उसके बाद ही उन्हें सघन विकास केन्द्रों में बदल कर उनसे सभी पहलुओं—आर्थिक, शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कृति आदि में विकास लाने का प्रयत्न किया जाता है। सघन विकास के तीन वर्ष के बाद ग्रामीणों को अपनी उन्नति के क्रम स्वयं सँभालने का भार दे दिया जाता है। केवल कुछ आर्थिक और प्राविधिक सहायता देने का क्रम जारी रहता है। इस प्रकार ग्रामीणों में जीवन की नयी ज्योति लाकर, उनमें आत्मोन्नति की प्रेरणा जगाकर तथा विकास के नये साधनों से परिचित कराकर उन्हें अपने परिवार और गांव की समृद्धि बढ़ाने के मार्ग पर अग्रसर करा दिया जाता है।

एक सामुदायिक विकास योजना का क्षेत्र ४५० से ५०० वर्ग मील तक रखा जाता है, जिसमें लगभग १५०००० एकड़ भूमि तथा २ लाख के लगभग जन-संख्या आती है। योजना क्षेत्र को ३ विकास खण्डों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक खण्ड में ५० से ७० हजार तक जन-संख्या और लगभग १०० गांव आते हैं। विकास खण्डों को भी पांच-पांच गांवों के टुकड़ों में विभक्त कर दिया जाता है। इस प्रत्येक-

टुकड़े को सभी दृष्टि से विकसित बनाया जाता है। सभी विकास योजना क्षेत्र का यही आकार होना अनिवार्य नहीं है। कभी-कभी एक विकास खण्ड का एक ही योजना क्षेत्र होता है। जन-संख्या की शर्त भी सभी स्थिति में पूर्ण नहीं होती। आदिवासी क्षेत्रों में विकास योजना के अन्तर्गत निश्चित जन-संख्या से कम लोग भी हो सकते ह।

सामुदायिक विकास योजना के आधार प्रायः गांव ही होते हैं लेकिन कुछ में छोटे नगरों और कस्बों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। पंजाब और बंगाल के विस्थापितों के पुनर्वास की व्यवस्था के लिए ग्रामीण विकास योजना के अन्तर्गत नये नगरों को बनाने का भी प्रयास हुआ है।

वित्तीय व्यवस्था

प्रारम्भ में प्रत्येक गांवों वाले सामुदायिक विकास योजना क्षेत्र में ३ वर्षों की सघन विकास वाली अवधि में ६५ लाख रुपये और नगरों को सम्मिलित करने वाली विकास योजना में १११ लाख रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया था। लेकिन इनके प्रसार में तेजी लाने के लिए केन्द्रीय समिति ने पूर्व निश्चित व्ययों में कमी करने का सुझाव दिया। उसके पश्चात से सभी सामुदायिक विकास योजना क्षेत्र में अधिक से अधिक ४५ लाख रुपये व्यय करने का ही क्रम अपनाया गया है। इन व्ययों के अनावर्तक अंश का ७५ प्रतिशत केन्द्रीय सरकार और २५ प्रतिशत राज्य सरकार द्वारा वहन करने का निश्चय हुआ था। आवर्तक व्यय का आधा केन्द्रीय सरकार और आधा राज्य सरकारें वहन करती हैं। जनता भी द्रव्य, सेवा और वस्तुओं से योजना-संचालन में योग देती है। जनता का सक्रिय योग प्राप्त करने के लिए योजना-क्षेत्र-सलाह-कारिणी-समिति बनायी जाती है। इसमें क्षेत्र के सभी गैर-सरकारी वर्गों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये जाते हैं। इस समिति के विचार के आधार पर स्थानीय समस्याओं और विकास योजनाओं का निश्चय तथा उन्हें चलाने का क्रम अपनाया जाता है। ग्राम पंचायतों और अन्य स्थानीय स्वैच्छिक संस्थाओं से भी विकास कार्यों में योग पाने की चेष्टा की जाती है। अनेक नये विकास कार्यों में सरकार द्वारा आर्थिक योग तभी दिया जाता है जब जनता अपने प्रयत्नों और सहयोग से कुछ अंश तक उसे समाप्त कर लेती है।

इन योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था में अमेरिकी योग भी इंडो-अमेरिकन-टेकनिकल-को-आपरेशन फण्ड से सुलभ किया गया है। विकास कार्यों को चलाने

में योग देने वाले नये यन्त्रों का आयात इसी के बल पर अमेरिका से सफलतापूर्वक हो सका है।

केन्द्र में प्रशासन

सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों का संचालन करने के लिए आयोजना आयोग के सहयोग से केन्द्रीय-समिति बनायी गयी थी। इस समिति की देख-रेख में कार्य करने के लिए एक प्रशासक नियुक्त किया गया था। देश भर में इन योजनाओं को बनाने, चलाने तथा समन्वित करने का भार इसी अधिकारी को सौंपा गया था। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन के प्रारम्भ से इन योजनाओं के बढ़ते क्षेत्र पर नियन्त्रण रखने तथा उनकी समुचित व्यवस्था करने के लिए अलग मंत्रणालय बना दिया गया है। यही अब इन योजनाओं को देश भर में संचालित कराता है। मौलिक सिद्धान्तों को स्थिर करने के लिए केन्द्रीय समिति का आश्रय लिया जाता है। इस समिति में अब आयोजना-आयोग के सभी सदस्य सामुदायिक विकास-योजना के मन्त्री तथा खाद्य और कृषि मन्त्री सम्मिलित हैं। प्रधान मन्त्री इस समिति के अध्यक्ष होते हैं। अन्य संबंधित मन्त्रणालयों से भी विशेष समितियों द्वारा सहयोग मिलता है।

राज्यों में प्रशासन

सामुदायिक विकास योजनाओं का वास्तविक संचालन राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है। प्रत्येक राज्य में सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों को चलाने के लिए एक राज्य विकास समिति (स्टेट डेवलपमेण्ट कमिटी) होती है। मुख्य मंत्री इसके अध्यक्ष तथा विकास विभागों के मंत्रीगण इसके सदस्य होते हैं। राज्य का विकास आयुक्त इसका सचिव होता है। यही सभी क्षेत्रों के विकास कार्यों को समन्वित करता है।

जिलों में प्रशासन

प्रत्येक जिलों में विकास की देखरेख के लिए जिला विकास अधिकारी होता है। यह अधिकारी सहायक आयुक्त के आदेशों के अनुसार कार्य करता है। जिले में इसको सलाह देने के लिए जिला आयोजन या विकास समिति होती है। जिलाधीश इसका अध्यक्ष होता है और विभिन्न विकास विभागों के प्रमुख अधिकारी तथा जिला परिषद के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तथा विकास में उत्साह रखने वाले

अन्य व्यक्ति इसके सदस्य होते हैं। इस समिति का सचिव भी विकास अधिकारी ही होता है।

प्रत्येक योजना क्षेत्र में एक योजना क्षेत्र अधिकारी होता है और उसकी देखरेख में निरीक्षकों, विशेषज्ञों और ग्रामसेवकों का एक समूह कार्य करता है। इनकी संख्या कुल मिलाकर १२५ के लगभग होती है। क्षेत्र की योजनाओं का निश्चय करने और उन्हें चलाने में योग देने के लिए एक सलाहकारिणी समिति भी होती है। इसमें क्षेत्र के विभिन्न वर्गों के लोग प्रतिनिधिरूप में सम्मिलित रहते हैं। गाँवों में पंचायतों के अतिरिक्त ग्राम विकास परिषदें भी स्थापित की जाती हैं। इन संस्थाओं की देखरेख में ग्रामीणों से निर्माण कार्य कराया जाता है।

महिला-मण्डल और *भारत-सेवक-समाज* भी गाँवों के पुनरुत्थान के लिए चलायी जाने वाली इन विकास योजनाओं में पर्याप्त योग देते हैं। उपर्युक्त प्रशासन यन्त्र को इस ढंग से बनाने और चलाने का यत्न किया गया है कि जनता ही विकास कार्य में अपनी प्रमुखता रख सकें। सरकारी विभाग और कर्मचारी केवल उसके सहायक रहें। कुछ विशेष परिस्थितियों में ही वे पथ-प्रदर्शक का कार्य करें।

चतुर्थ खण्ड

प्रथम पंचवर्षीय आयोजन-काल में प्रगति

सन् १९५२ की दूसरी अक्टूबर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जन्म-दिन को उनके भारतीय गांवों के विकास के आदर्श को साकार रूप देने के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों में ५५ सामुदायिक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की गयीं। कुछ समय पश्चात ही और क्षेत्रों में राष्ट्रीय सेवा प्रसार खण्डों का भी प्रारम्भ हुआ। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक सम्पूर्ण देश के लगभग एक-चौथाई गांवों में विकास लाने के लिए १२०० विकास क्षेत्रों—७०० सघन सामुदायिक क्षेत्र और ५०० राष्ट्रीय प्रसार-सेवा-खण्डों—को पूर्णतः संचालित करने का निश्चय किया गया था। इनसे लगभग १२०००० गांव प्रभावित होते हैं। इसमें ९१·३ करोड़ रुपये व्यय करने की भी व्यवस्था हुई थी।

योजना के अन्त तक सामुदायिक विकास-योजनाओं और राष्ट्रीय प्रसार-सेवा-खण्डों की प्रगति का उल्लेख निम्नांकित तालिका में किया गया है :—

	योजना क्षेत्रों की संख्या	प्रभावित गांवों की संख्या	प्रभावित जन-संख्या (लाख में)	व्यय (लाख में)
(अ) सामुदायिक विकास योजना				
१९५२ — ५३	१६७	२७,३८८	१६७	२,३४५
१९५३ — ५४	५३	८,६८२	४४	४१८
१९५५ — ५६	१५२	२०,८१७	१२१	४६६
योग :—	३७२	५६,८८७	३३२	३,२२९
(ब) राष्ट्रीय सेवा प्रसार खण्ड				
१९५३ — ५४	११२	१५,३३६	८४	३८६
१९५४ — ५५	२४५	३४,७०४	१७४	४४२
१९५५ — ५६	२५९	३३,२२०	१८५	११५
योग :—	६१६	८३,२६०	४४३	९४३
कुल योग :—	९८८	१,४०,१४७	७७५	४,६०२

उपर्युक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि जन-संख्या और गांवों की संख्या की दृष्टि से विकास योजनाओं का प्रसार निश्चित सीमा से अधिक ही हुआ। सन् १९५४-५५ में नयी सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रारम्भ नहीं हुआ। केवल राष्ट्रीय प्रसार-सेवा-खण्ड ही बढ़ाये गये। सन् १९५५ में ४० प्रतिशत राष्ट्रीय विकास खण्डों को सामुदायिक विकास योजना के सघन क्षेत्रों में परिवर्तित कर लिया गया। इस प्रकार प्रथम योजना-काल के भीतर लगभग १,४०,००० गांव और ७७५ लाख ग्रामीण जनता में विकास कार्य हुआ। इस समय में बनायी गयी व्यवस्था के अनुसार अप्रैल, १९५६ में १७,२०० नये गांवों को सम्मिलित करने वाले १७२ नये योजना क्षेत्र प्रारम्भ किये गये। इससे ११३ लाख जनता प्रभावित होती है।

सन् १९५५-५६ तक इन विकास योजनाओं पर कुल व्यय ४६·०२ करोड़ रुपये ही हो सका। इसका आधे से अधिक सघन केन्द्रों पर हुआ और लगभग ३१ प्रतिशत ही राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों पर किया गया। ये व्यय निम्नलिखित मदों पर थे:—

व्ययों के मद	मात्रा (लाख रुपये में)
पशुपालन और कृषि तथा भूमि-कर्षण	४२६
सिंचाई	७३४
स्वास्थ्य और सफाई	४५२
सामान्य शिक्षा और समाज-शिक्षा	४६०
परिवहन	६६४
ग्रामीण उद्योग तथा हस्तकला	१७८
योजना-क्षेत्र के प्रमुख केन्द्रों का निर्माण	९६२
गृह-निर्माण	३६
आयात किये गये साधन	४३०
अन्यान्य मद	२६०
कुल:—	४६०२

इसके अतिरिक्त राज्य के अन्य विकास विभागों की तरफ से सभी क्षेत्रों की भांति सामुदायिक विकास योजना और राष्ट्रीय प्रसार सेवा के क्षेत्रों में भी कृषि,

सिंचाई, सहकारी समितियों की स्थापना आदि पर व्यय किये गये हैं। इससे सघन विस्तार खण्डों की कितनी प्रगति उनके विशिष्ट व्ययों से हुई और कितनी प्रगति राज्य के विभिन्न विभागों से मिलने वाले योग से हुई इसका निश्चय करना अपेक्षाकृत कठिन होता है। प्रथम आयोजन-काल में विशिष्ट और सामान्य, दोनों प्रकार के व्ययों को मिला कर जनता के आर्थिक और शारीरिक सहयोग से निम्न प्रकार की प्रगति हुई :—

कृषि-क्षेत्र में विकास के लिए १,७६,६६६ टन अच्छी कोटि के बीज और ३,३५,२८५ टन रासायनिक खाद वितरित की गयी। १,५७,००० एकड़ भूमि में फलों और ३,८८,००० एकड़ भूमि में सब्जियों की पैदावार प्रारम्भ की गयी। ११,००,००० एकड़ भूमि का विकास करके उसे कृषि योग्य बनाया गया। सिंचाई के छोटे साधनों का प्रयोग करके २० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि सिंचाई के क्षेत्र में लायी गयी। पशु-पालन की नयी विधियों का विस्तार करने के लिए २५६३ केन्द्र खोले गये और १२,८२४ अच्छी नस्ल के पशु वितरित किये गये।

सन् १९५३-५४ से १९५५-५६ की अवधि में ग्रामीण सहकारी साख समितियों की संख्या १,०१,६२६ से बढ़कर १,५९,९३९ हो गयी। इनके सदस्यों की संख्या ५१ लाख से बढ़कर ७८ लाख हो गयी। यह वृद्धि अधिकांशतः सामुदायिक विकास-योजना और राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-खण्डों में ही हुई।

ग्रामीणों के सहयोग से गांवों की सड़कों और सफाई में भी बहुत अधिक सुधार आ गया है। ऐसा अनुमान है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में सघन विकास क्षेत्रों और राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-खण्डों में कुल मिलाकर ६०२९ मील तक पक्की सड़कें और ३८,००० मील कच्ची गांववाली सड़कें बनायी गयीं। २२,००० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत हुई। स्वास्थ्य और सफाई के प्रयास में ४२,००० पानी पीने के नये कुएँ आधुनिक ढंग से बनाये गये और ६५,००० पुराने ढंग वाले कुओं को नया रूप दिया गया। १,१०,००० शौचालयों का भी निर्माण हुआ। ग्रामीणों की चिकित्सा के लिए ६७४ प्रारम्भिक चिकित्सा-केन्द्रों, ५७८ महिलाओं और बच्चों के कल्याण-केन्द्रों को खोला गया। इसके अतिरिक्त क्षेत्र के अधिकांश गांवों में पानी के निकास का भी प्रबन्ध किया गया।

ग्रामीणों में शिक्षा-प्रसार के लिए इन खण्डों में १५,००० नये स्कूल खोले गये और ६,९६८ प्रारम्भिक स्कूलों को बुनियादी पद्धति पर लाया गया। प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए भी ४१,००० शिक्षा-केन्द्र खोले गये। इसके अतिरिक्त मनोरंजन

और विकास के लिए ग्राम पुस्तकालय, आमोद-प्रमोद केन्द्र और अन्य सामुदायिक केन्द्र भी काफी संख्या में खोले गये।

नये प्रकार के छोटे और ग्रामीण उद्योगों का प्रारम्भ करने के लिए २६ अग्र-योजनाएँ अखिल भारतीय कुटीर और लघु उद्योग बोर्ड के सहयोग से खोली गयीं। इस कार्य को गति देने के लिए केन्द्र और विभिन्न राज्यों में कार्य-प्रदायिनी समितियाँ (ऐक्शन कमिटीज) कायम की गयी हैं।

गांवों की जनता में संगठन लाने तथा अपने विकास कार्यों को सामूहिक ढंग से चलाने की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए ग्राम पंचायतों तथा विकास मण्डलों और परिषदों की स्थापना पर भी जोर दिया जा रहा है। सन् १९५५-५६ तक लगभग ११,४५१ ग्राम पंचायतें और २४,८२९ विकास मण्डल सघन विकास क्षेत्रों और राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों में स्थापित किये गये।

सामुदायिक विकास योजना और राष्ट्रीय प्रसार-सेवा-खण्डों में विकास कार्यों को संचालित करने में जनता से आर्थिक और शारीरिक श्रम के रूप में कितना योग मिला है, इसका निश्चित अनुमान लगाना अपेक्षाकृत कठिन है। लेकिन कुल सरकारी व्यय से जितनी प्रगति हुई और उसकी तुलना में जनता के सहयोग से जितना कार्य सम्पन्न हुआ उससे जनता के कुल योग का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी आधार पर प्रथम पंचवर्षीय आयोजन की प्रगति पर प्रकाश डालने के लिए आयोजना-आयोग द्वारा प्रकाशित विवरण-पत्र में जनता का कुल योग निम्नांकित रूप में आंका गया है।

	प्रभावित जनसंख्या (दस लाख में)	कुल सरकारी व्यय (लाख रुपये)	जनता के योग का अनुमानित मूल्य (लाख रुपये)	प्रतिहजार व्यक्ति सरकारी व्यय (रुपये)	प्रति हजार व्यक्ति पर जनता के सहयोग का अनुमानित मूल्य (रुपये)
(अ) सामुदायिक योजना					
(१) १९५२–५३	१६·७	२,३४५	९४५	१४,०४२	५,६१२
(२) १९५३–५४	४·४	४१८	१९१	९,५००	४,३४४
(३) १९५५–५६	१२·१	४६६	३५१	३,८५१	३,३५७

	प्रभावित जनसंख्या (दस लाख में)	कुल सरकारी व्यय (लाख रुपये)	जनता के योग का अनुमानित मूल्य (लाख रुपये)	प्रतिहजार व्यक्ति सरकारी व्यय (रुपये)	प्रति हजार व्यक्ति पर जनता के सहयोग का अनुमानित मूल्य (रुपये)
(आ) राष्ट्रीय-प्रसार सेवा-खंड					
(१) १९५३–५४	८·४	३८६	५०७	४,५९५	४,६११
(२) १९५४–५५	१७·४	४४२	५१४	२,५४०	२,६७७
(३) १९५५–५६	१८·५	११५	१०५	६२२	८०३
योग :—	७७·५	४,६०२	२,६१३	५,९३८	३,४८४

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल व्यय का लगभग ३६·२ प्रतिशत जनता के सहयोग के रूप में प्राप्त हुआ। राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-खण्डों में जनता का योग सामुदायिक विकास योजना की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण रहा। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि राष्ट्रीय-प्रसार-सेवा-खण्डों में सरकार की प्रेरणा और सलाह अधिक होती है पर आर्थिक योग सघन विकास क्षेत्रों की तुलना में कम होता है। कुल विकास कार्यों से प्रभावित जन-संख्या के प्रति सरकारी व्यय जितना हजार पर आंका जाता है उसके आधे से अधिक जनता के सहयोग का मूल्य रहा है।

सामुदायिक विकास योजना और राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं का संचालन कुशल प्रसार कर्मचारियों और विशेषज्ञों की सुलभता पर आधारित है। ग्राम-विकास योजनाओं को संचालित करने वाले कुछ देशों में कुशल कार्यकर्त्ताओं को तैयार कर लेने पर ही वास्तविक संचालन प्रारम्भ होता है। हमारे यहाँ कार्यकर्त्ताओं का **प्रशिक्षण** और योजनाओं का संचालन दोनों कार्य साथ ही साथ हो रहे हैं। बहुत से कार्यकर्त्ताओं को संचालन क्रम में ही वास्तविक अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के अवसर दिये जाते हैं, लेकिन प्रारम्भिक सिद्धान्तों को सिखलाने के लिए प्रसार-प्रशिक्षण-केन्द्र भी खोले गये हैं। सन् १९५२ में इन केन्द्रों की संख्या ३४ थी। सन् १९५५-५६ के अन्त तक इन्हें ४३ कर दिया गया। इनसे प्रतिवर्ष ५००० प्रसार कार्यकर्त्ताओं को तैयार किया जाता है। विकास कार्यकर्त्ताओं को

कृषि-कार्य की आधुनिक विधियों का प्रशिक्षण देने के लिए ३० नये बुनियादी कृषि स्कूल और वर्तमान प्रशिक्षण केन्द्रों में १३ कृषि-शिक्षा की शाखाएँ खोली गयीं। सन् १९५५-५६ में ही ३ प्रसार-प्रशिक्षण केन्द्र और ३ बुनियादी कृषि स्कूल खोले गये। प्रथम आयोजन-काल के अन्त तक, ४३ प्रसार-प्रशिक्षण केन्द्रों में से ७० को द्वितीय योजना काल की सामुदायिक योजनाओं को चलाने में योग देने वाले पुराने कायकर्त्ताओं को नयी दिशाएँ और पद्धतियाँ सिखलाने के लिए पुनर्शिक्षण-केन्द्र के रूप में चुना गया। सन् १९५६ की मार्च तक लगभग १४०८७ प्रसार कार्यकर्त्ताओं का प्रशिक्षण पूरा हुआ था। विकास-खण्ड अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए तीन केन्द्र खोले गये थे। उसमें १९५६ के मार्च तक ६८५ अधिकारी प्रशिक्षित हो चुके थे और ६४ प्रशिक्षित हो रहे थे। उस समय तक सामाजिक शिक्षा के १३२० संगठनकर्त्ताओं की शिक्षा हो चुकी थी और ३८४ व्यक्ति प्रशिक्षण पा रहे थे।

आदिवासी क्षेत्रों में समाज-शिक्षा के संगठन के लिए २८ व्यक्तियों को विशेष प्रशिक्षण दिया गया था। सहायक दाइयों, दाइयों, और महिला स्वास्थ्य निरीक्षकों के विशेष प्रशिक्षण के लिए ५३ केन्द्रों में व्यवस्था की गयी थी। ग्राम सेविकाओं को तैयार करने के लिए २७ गृह-विज्ञान शाखाएँ खोली जाने वाली थीं। उनमें २२ शाखाएँ खुलीं। १८ महीने की बहु-उपयोगी ओवरसीयरी के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी २५ विभिन्न संस्थाओं में की गयी जिससे विकास क्षेत्रों के निर्माण-कार्य में योग मिल सके।

प्रशिक्षण की इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त प्रथम आयोजन-काल में विभिन्न प्रदेशों में समय-समय पर "विचार गोष्ठियाँ" करायी गयीं जिनमें सभी स्तर के कार्यकर्त्ता भाग लेते रहे। राज्यों के विकास आयुक्तों तथा प्रशिक्षण संस्थाओं के अध्यक्षों के अधिवेशन समय-समय पर बुलाये गये। इनमें प्रसारकार्य की कठिनाइयों और कमियों को दूर करने की विधियों पर विचार-विनिमय होता रहा है। इस प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय-प्रसार-सेवाओं को अधिक सफल बनाने का प्रयास हुआ है।

पंचम खण्ड

द्वितीय योजना में सामुदायिक योजनाओं और प्रसार-सेवा-खण्डों की प्रगति

जैसा कि पहले ही सामुदायिक योजनाओं का प्रारम्भ करते समय निश्चय किया गया था कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय प्रसार सेवा को फैला देना है और उनका ४० प्रतिशत सघन विकास क्षेत्रों में बदल देना है। इस प्रकार कुल ३८०० नये राष्ट्रीय सेवा खण्ड प्रारम्भ करने हैं और इनमें से ११२० को सघन सामुदायिक विकास क्षेत्रों में बदलना है। इसके लिए कुल २०० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी है।

इन खण्डों और क्षेत्रों का प्रारम्भ आयोजन-काल के विभिन्न वर्षों में निम्नांकित तालिका में दिये क्रम के अनुसार हो रहा है :—

वर्ष	नये स्थापित होने वाले राष्ट्रीय प्रसार खंड	प्रारम्भिक विकास खण्ड	नये स्थापित योजना क्षेत्र	प्रारम्भ हुए क्षेत्र	प्रसार खण्डों का योजना क्षेत्र में परिवर्तन
१९५६-५७	५००	४९६	२५०	२५०	—
१९५७-५८	६५०	—	—	—	२००
१९५८-५९	७५०	—	—	—	२६०
१९५९-६०	९००	—	—	—	३००
१९६०-६१	१०००	—	—	—	३६०
योग :	३८००	४९६	२५०	२५०	११२०

इन आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि [illegible] सामुदायिक विकास योजना क्षेत्र केवल २५० ही बनेंगे। शेष राष्ट्रीय प्रसार खण्डों में से ही परिवर्तित होंगे। नये क्षेत्रों में सामुदायिक विकास योजनाओं को खोलने और चलाने की अपेक्षा

प्रसार खण्डों को सघन क्षेत्र में बदलने से अधिक सफलता होती है। इस क्रम से गांवों के निवासियों में आर्थिक क्रान्ति लाने तथा उन्हें अपनी प्रगति आप करने का वातावरण प्रस्तुत करने में भी विशेष सहायता मिल सकती है।

इस योजना-काल में साधनों के सीमित होने से प्रति राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्ड में तीन वर्षों की अवधि में ४ लाख रुपये और प्रति सघन सामुदायिक योजना क्षेत्र में उतनी ही लम्बी अवधि में १२ लाख रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया है। सघन विकास की अवधि बीतने पर अगले तीन वर्षों तक स्थानीय निर्माण कार्यों और "सामाजिक शिक्षा" की गति कायम रखने के लिए ३०,००० रुपये प्रति ब्लाक प्रतिवर्ष दिये जाने की व्यवस्था की गयी है। इस व्यय को केन्द्र और राज्य सरकारें पूर्वनिश्चित अनुपात में वहन करेंगी। सन् १९५६-५७ से १९६०-६१ तक कुल व्यय २०० करोड़ रुपये होगा। इसमें से १२ करोड़ रुपये केन्द्र द्वारा संचालित सामुदायिक विकास योजनाओं पर व्यय होंगे, शेष १८८ करोड़ रुपये विभिन्न राज्यों के राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों और सघन विकास क्षेत्रों में खर्च किये जायेंगे।

व्ययों का निम्नांकित क्रम निश्चित किया गया है :—

व्ययों के मद	(मात्रा करोड़ रुपयों में)
१. विकास क्षेत्रों के कर्मचारियों और मुख्यालयों के साज-सामान	५२
२. कृषि (पशु-पालन, सिंचाई आदि)	५५
३. परिवहन	१८
४. ग्रामीण उद्योग और हस्तकला	५
५. शिक्षा	१२
६. समाज शिक्षा	१०
७. स्वास्थ्य और सफाई	२०
८. गृह-निर्माण	१६
९. सामुदायिक विकास केन्द्र द्वारा संचालित योजना	१२
योग :—	२००

इस बार इन विकास योजनाओं को चलाने में तीन उद्देश्यों को प्रमुखता दी जा रही है—१. कृषि उत्पादन में वृद्धि, २. कृषि के साथ सहायक उद्योगों में

वृद्धि जिससे ग्रामीणों को रोजगारी और आय बढ़ाने के दूसरे जरिये सुलभ हो सकें और ३. राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों तथा सामुदायिक विकास योजना क्षेत्रों में समान रूप से सहकारिता के सिद्धान्त का प्रचार जिससे कृषि, उद्योग, व्यापार, सहकारी संस्थाओं द्वारा चल सकें और गांव समाज के अशक्त वर्गों जैसे छोटे कृषकों, भूमिहीन कृषकों और श्रमिकों तथा दस्तकारी वालों को प्रगति के मार्ग सुलभ हो सकें। इन प्रमुख उद्देश्यों के अतिरिक्त महिलाओं और बच्चों में जागृति लाने के भी विशेष प्रयास होंगे। प्रत्येक ब्लाक में दो ग्राम-सेविकाओं को रखने की व्यवस्था की गयी है जो ग्रामीण महिलाओं और बच्चों को संगठित करने तथा उन्हें विकसित बनाने का प्रयास करेंगी। आदिवासियों के क्षेत्र में विकास और कल्याण कार्यों पर विशेष जोर दिया जा रहा है। इन क्षेत्रों के प्रसार खंडों के अधिकारियों और कर्मचारियों में कुछ ऐसे लोग भी सम्मिलित किये जाते हैं जो आदिवासियों की मनोवृत्तियों और रीतियों से परिचित हों। आदिवासियों के सुधार के लिए सरकार द्वारा और जो भी प्रयत्न सम्भव हैं उन्हें प्रसार खण्डों के आधार पर ही ले चलने की व्यवस्था की गयी है। इससे इन क्षेत्रों की प्रगति प्रसार-खण्डों की अवधि के अन्तर्गत ही पर्याप्त रूप में हो सकेगी।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन-काल में पहले से कार्य करने वाले ग्राम सेवकों के अतिरिक्त २ लाख और ग्राम सेवकों की आवश्यकता है। इसकी पूर्ति के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों और बेसिक कृषि स्कूलों की संख्या बढ़ाने का निश्चय किया गया है। १८ प्रसार प्रशिक्षण केन्द्र, २५ बुनियादी कृषि स्कूल और बुनियादी कृषि प्रशिक्षण की १६ नयी शाखाएँ खुलेंगी।

इस आयोजन-काल में पिछले अनुभव के आधार पर सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों को अधिक संगठित रूप में चलाने का प्रयास किया जा रहा है। सन् १९५२-५३ में प्रारम्भ हुई विकास योजनाएँ अपने सघन प्रयास की तीन से चार वर्षों की अवधि समाप्त कर चुकी हैं। उनमें कहाँ तक प्रगति हो सकी है और उनके संचालन में क्या दोष रहे हैं इनका अनुमान आयोजना-आयोग द्वारा स्थापित प्रोग्राम "इवैल्यूएशन आर्गनाइजेशन" (सम्पादित कार्यों को आंकने वाला संगठन) लगा रहा है। प्रथम आयोजन काल के अन्त तक इसकी तीन रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी थीं। तीसरी रिपोर्ट में इसके संचालन के सम्बन्ध में निम्नांकित दोष और उन्हें दूर करने के सुझाव बतलाये गये थे :—

(१) प्राविधिक सहायता आवश्यकतानुरूप सुलभ नहीं होती रही। इसके अभाव में सामुदायिक योजना और राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं से प्रत्याशित लाभ

नहीं हो सका। इसे दूर करने के लिए विभिन्न प्राविधिक विभागों में पुनर्गठन आवश्यक है। उनके कर्मचारियों की संख्या और योग्यता दोनों में सुधार होना चाहिए।

(२) अनुसंधान केन्द्रों और विकास क्षेत्रों में बहुत बिलगाव रहा है। इससे नयी विधियों का प्रसार उचित रूप में संभव नहीं हो सका। इसके लिए अनुसंधान केन्द्रों को विकास क्षेत्रों से अधिक से अधिक सम्बद्ध रखा जाय और खेतों से अनुसंधानशाला और अनुसन्धानशालाओं से खेतों को सूचनाएँ शीघ्र भेजी जायं।

(३) विविध विकास विभागों के कर्मचारियों और विकास क्षेत्रों के अधिकारियों में संगठन का अभाव रहा है। इससे इनके कार्य विशिष्ट क्षेत्रों में संगठित रूप से नहीं होते थे। इसे दूर करके विभिन्न विशेषज्ञों और विकास क्षेत्रों के प्रशासन में अधिक से अधिक सहयोग उत्पन्न किया जाय।

(४) ग्राम सेवकों का अधिक समय केवल निर्माण कार्यों में लगता है। लेकिन उन्हें कृषि उत्पादन बढ़ाने वाली नयी विधियों का प्रसार करने में योग देना चाहिए क्योंकि उनके प्रशिक्षण का मुख्य क्षेत्र वही है।

(५) ग्राम पंचायतों को उचित ढंग से विकसित नहीं किया जा रहा है जब कि विकास कार्यों के संचालन का दायित्व मुख्यतः उन्हीं पर है। इसलिए उन्हें अपने दायित्व को वहन करने योग्य बनाया जाय। इसके लिए उचित सुझाव और सक्रिय सहयोग दिया जाना चाहिए।

(६) विकास योजनाओं के संचालन में भौतिक और वित्तीय प्रगतियों पर ही विशेष जोर दिया गया है। जनता में जागृति लाने और उन्हें नयी विधियों से परिचित कराने पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय प्रसार सेवाएँ राष्ट्र और राज्य की आर्थिक योजनाओं के अन्तर्गत निश्चित विकास और सुधार के कार्यक्रमों को चलाने के साधनरूप में व्यवहृत नहीं हो सकी हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के और नये सुझावों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया जा रहा है। जनता को संगठित बनाने की क्षमता ग्राम सेवकों में उत्पन्न करने के लिए उनके प्रशिक्षण की लिपि में सुधार किया गया है। इसके लिए अमेरिका से आये फोर्ड फाउन्डेशन के सलाहकार कार्ल सी० टेलर के सुझावों

को विशेषत: दृष्टि में रखा गया है।[१] ग्राम सेवकों के ग्राम नेता स्वयं न बनने तथा स्थानीय नेताओं को पहचानने और आगे बढ़ाने की शिक्षा दी जा रही है। सभी क्षेत्रों के जन-नेताओं के सहयोग से ग्रामीणों में अपनी उन्नति आप करने की भावना बढ़ाने के संगठित प्रयास सहकारिता के आधार पर हो रहे हैं।

हर्ष की बात है कि सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों के संचालन से भारतीय जनता में नयी स्फूर्ति आने लगी है। सितम्बर, १९५६ तक लगाये गये अनुमान के अनुसार अपने परिवार और गांव के विकास में ३३ करोड़ रुपये के मूल्य के लगभग उनके आर्थिक और श्रमसम्बन्धी योग रहे हैं। ये अपनी परम्परागत शिथिलता को छोड़ कर अपना विकास स्वयं करने के लिए उद्यत हो चुके हैं। उनका दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा बहुत बदल गया है। अब हमारे सामने उनकी मनोवृत्तियों को बदलने की उतनी समस्या नहीं है जितनी उनके इच्छानुसार विकास का क्षेत्र सुलभ करने की है। इस परिवर्तन के सम्बन्ध में कार्ल टेलर महोदय के निम्नांकित विचार उल्लेख्य हैं :—

"जहाँ तक ग्रामीणों की मनोवृत्तियों का प्रश्न है, यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है कि ग्रामीण अब शिथिल नहीं रहे। वे किसी भी ऐसे परिवर्तन के लिए उत्सुक हैं जिससे उनके उत्पादन में, सुविधाओं में और जीवन-स्तर में वृद्धि हो। मुझे विश्वास है कि ग्रामीणों में परिवर्तन राष्ट्रीय नेताओं में ग्रामीणों के प्रति रखे जाने वाले भावों के परिवर्तन की अपेक्षा अधिक तेजी से हुए हैं। मैं इस तथ्य पर पूर्णत: निश्चित हूँ कि गांवों में परिवर्तन इतनी तेजी से आयेंगे कि हमारे सामने उनकी बढ़ती आशाओं की पूर्ति करना एक बड़ी समस्या होगी।"[२]

सामुदायिक योजना और राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्ड आर्थिक आयोजन की प्रजातंत्रात्मक पद्धति के अद्वितीय प्रयोग हैं। इनसे धीरे-धीरे करोड़ों अशिक्षित जनता विकास के मार्ग पर अग्रसर हो रही है। एक-एक व्यक्ति और परिवार अपनी समस्याओं को समझने और उनका सुलझाव अपने प्रयत्नों से करके अपने जीवन-स्तर को उठाने का पाठ सीख रहे हैं। यद्यपि प्रगति उतनी तेज नहीं है और ग्रामीणों का संगठन उतना व्यापक नहीं हो सका है जितना पूर्ण प्रशि-क्षित कार्य-

१. देखिए कार्ल सी-टेलर की पुस्तक "ए क्रिटिकल एनलिसिस ऑव इंडियाज कम्युनिटी डेवलपमेंट प्रोग्राम।"

२. देखिए उपर्युक्त पुस्तक, अध्याय १२, पृष्ठ ५७।

कर्त्ताओं के पर्याप्त संख्या में सुलभ रहने से सम्भव होता, लेकिन फिर भी पुरानी पद्धतियों को बदल कर नयी विधियों और नयेपन की ओर बढ़ने की जो उत्सुकता ग्रामीणों में उत्पन्न हो गयी है वही कम महत्त्वपूर्ण कृति नहीं है। इससे ऐसे समाज में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के मूल-तत्त्वों का उद्घाटन हो रहा है जो शताब्दियों से प्रजातन्त्र की विधियों से अपरिचित रहे हैं और जिनमें जाति और वर्ण के भेद हजारों वर्ष से दृढ़ हो चुके थे।

सामुदायिक विकास योजना के ये कार्यक्रम अपने आकार और प्रशासन की दृष्टि से विश्व के इतिहास में अपूर्व हैं। इसमें ऐसे प्रयत्न और आयोजन चल रहे हैं जिनका प्रयोग किसी भी देश में इस रूप में पहले नहीं हुआ था।

सामाजिक क्रान्तियाँ

नवाँ अध्याय

भूदान आन्दोलन

एक नयी सामाजिक विचारधारा

राष्ट्र-निर्माण में भूदान का स्थान

किसी भी राष्ट्र की सतत प्रगति उसके नागरिकों के त्याग और श्रम पर आधारित होती है। यह तभी सम्भव है जब अधिकांश लोग अपने वैयक्तिक हितों को राष्ट्रीय हितों से आत्मसात कर लें। यह परिवर्तन साधारणतः कठिन है क्योंकि व्यक्ति स्वभावतः निजी हितों को राष्ट्र अथवा मानव-समाज के हितों से अधिक महत्व देता है। दूसरे के लिए पहले को त्यागना तभी सम्भव है जब व्यक्ति का अन्तःकरण ज्ञान से आलोकित हो जाय, वह अपना हित अपनी प्रगति और सुरक्षा में नहीं बल्कि समाज और राष्ट्र की प्रगति और सुरक्षा में देखने लग जाय। ऐसी स्थिति आने पर व्यक्ति अपने स्वत्वों के साथ समाज का हो जाता है। उसकी शक्तियाँ स्वेच्छा से समाज की उन्नति में लगने लगती हैं। जिस देश के नागरिक अपने राष्ट्र और सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए जितनी अधिक विशालता रखते हैं उसका विकास भी उतनी ही दृढ़ता और नियमितता से होता जाता है। नवजात स्वतन्त्र भारत-राष्ट्र का भविष्य निश्चित और प्रगतिमय बनाने के लिए भारतीयों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर राष्ट्र के लिए निजी स्वार्थों और स्वत्वों को त्यागने की भावना बढ़ाना अनिवार्य है। इसके बिना भौतिक योजनाओं का सफल संचालन मात्र राष्ट्र की नींव सुदृढ़ नहीं बना सकता। राष्ट्रपिता बापू के पदचिह्नों पर अग्रसर होने वाले उनके प्रिय शिष्य आचार्य विनोबा भावे के भूदान, सम्पत्तिदान, जीवनदान और ग्रामदान आन्दोलन नव-राष्ट्र की इसी आधारशिला का निर्माण कर रहे हैं जिन पर उठता हुआ भारत उत्तुंग-महिमा-शिखर पर स्थायी ढंग से आरूढ़ हो सकेगा।

भूदान का सांस्कृतिक आधार

पूंजीवादी देशों में राष्ट्र की प्रगति और विकास की महत्ता निजी हितों की

वृद्धि और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझी जाती है। व्यक्ति में अपने और अपने समाज का ज्ञान जैसे ही बढ़ने लगता है वह समाज और राष्ट्र का ध्यान रखते हुए अपनी प्रगति करने का प्रयास करता है। उसकी यह चेतना ही राष्ट्र के हितों के विरुद्ध जाने से उसे रोकती है और समय-समय पर समाज के लिए त्याग करने की प्रेरणा देती है। साम्यवादी देशों में व्यक्ति को राष्ट्र का एक अंग बनने और उसके लिए ही जीने-मरने की कड़ी सीख दी जाती है। सामाजिक हितों के लिए वैयक्तिक स्वार्थों का त्याग कानूनी ढंग से अनिवार्य हो जाता है। प्रशासन की ओर से जीवन का ऐसा क्रम ही चलाया जाता है जिसमें व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए जीता है। भारत की प्राचीन संस्कृति के अनुसार सामाजिक हितों के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण का आधार उपर्युक्त दोनों से विलग है। इसमें समाज के हितों की वृद्धि में योग देना आत्म-संवर्द्धन की लिप्सा से उचित नहीं समझा जाता और न तो व्यक्ति को समाज के लिए रहने की विवशता ही है। यहां व्यक्ति अपने को, सम्पूर्ण मानव-समाज को तथा प्रकृति के सभी अवयवों को जो विभिन्न रूप में उसके अथवा समाज के बनकर स्थित हैं अनन्तमय समझने का पाठ पढ़ाता है। अपनी शक्तियों और सम्पत्तियों को समाज के हितों की वृद्धि के लिए छोड़ना उसका पुनीत कर्त्तव्य है जिसके सम्पादन में उसे आनन्द आता है। प्राचीन काल में ऐसी अनेक घटनाएं थीं जिनमें वीर भारतीयों ने समाज-कल्याण के लिए अपनी सम्पत्ति ही नहीं वरन् अपनी हड्डियां तक देने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं की। समय बीतने और पराधीनता की बेड़ी में जकड़े रहने से भारतीय संस्कृति का पूर्व आदर्श क्षीण हो गया। फिर भी भारतीयता के सुषुप्त मानस से इसका पूर्ण लोप नहीं हो सका था। इसी को आधार बनाते हुए देश के एक-एक नागरिक में राष्ट्र के लिए यथाशक्ति त्याग करने की भावना आचार्य विनोबा भावे अपने अपूर्व प्रयासों से पुनर्जीवित कर रहे हैं। उनका भूदानआन्दोलन स्वतन्त्र भारत में नव-जागरण का सिंहनाद है जिससे भारतीयों की खोयी हुई चेतनता पुनः लायी जा रही है।

द्वितीय खण्ड

भूदान का जन्म

स्वतन्त्रता के पश्चात जनता में अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति विशेष सतर्कता आने लगी। स्वतन्त्रता संग्राम में सुझाये गये सुख और ऐश्वर्य की प्राप्ति की उत्कण्ठा भी बहुत बढ़ने लगी है। ऐसे वातावरण में सम्पन्न जमींदारों और महाजनों में ही समाज के अधिकांश विपन्न कृषकों और कृषि-श्रमिकों के शोषण और दयनीय दशा का कारण समझने की प्रवृत्ति सरलतापूर्वक उभाड़ी जा सकती है। देश के साम्यवादी दल के नेता दरिद्रता और असमानता का सहारा लेकर जनता को अपना उचित हिस्सा पाने के लिए हिंसात्मक पद्धतियों को अपनाने और इस प्रकार नया साम्यवादी समाज लाने के लिए खूनी क्रान्ति करने की प्रेरणा देने लगे थे। दक्षिण के तेलंगाना प्रदेश में इस प्रकार की भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी। जमींदारों और किसानों के पारस्परिक संघर्ष उग्र रूप धारण कर चुके थे। बड़ी आशंका यह थी कि कहीं देश भर में ऐसे ही संघर्ष न फैल जायं क्योंकि सम्पूर्ण जन-संख्या का ८२·७ प्रतिशत गांवों में रहता है और गांवों की रहने वाली कुल जनता में लगभग १२ करोड़ ८ लाख कार्य करने वाले लोग हैं, शेष आश्रित नर-नारी और बच्चे हैं। कार्य करने वालों में से भी आत्मनिर्भर कृषक नर-नारी ८ करोड़ ५७ लाख हैं, शेष कमाऊ आश्रित हैं। ये आत्मनिर्भर कृषक देश की कार्य करने वाली कुल जन-संख्या का लगभग ८२ प्रतिशत हैं। कृषक कार्यकर्त्ताओं में लगभग १ करोड़ ४९ लाख भूमिहीन कृषि श्रमिक हैं जबकि अकृषक भू-स्वामी जो कृषि-भूमि का बड़ा भाग अपने अधिकार में रखते हैं केवल १६ लाख के लगभग हैं। भूस्वामी कृषकों की संख्या लगभग ५ करोड़ आती है। स्वामित्वहीन कृषक लगभग एक करोड़ हैं। इस प्रकार डेढ़ करोड़ श्रमिकों की समस्या बड़ी जटिल थी। इनके भड़कने पर किसी प्रकार का उपद्रव सम्भव था। इन्हीं परिस्थितियों को देखते हुए ऐसा अनुमान लगाया जाता था कि कहीं सम्पूर्ण भारत में कम्युनिजम का प्रसार न हो जाय। दक्षिणी भारत के विपन्न क्षेत्रों में इनका प्राबल्य बढ़ ही रहा था।

हिंसात्मक विधियों से भूमिपतियों और सम्पत्तिवानों से उनकी सम्पत्ति और भूमि गरीबों द्वारा छीना जाना हमारी संस्कृति के अनुकूल नहीं है। इससे हमारे समाज में स्थायी शान्ति हो सकना भी सम्भव नहीं है। इन्हीं तथ्यों को समझते हुए तथा भारत के उच्चादर्शों--अहिंसा, शान्ति और सत्य को सामने रखकर विनोबा जी ने तेलंगाना की विगड़ती स्थिति का विश्लेषण किया और भूमि के असमान वितरण को ही सभी संघर्षों और समस्याओं की जड़ बतलाया। उसका उचित समाधान ढूँढ़ते हुए उन्हें यह अपूर्व सुलझाव ज्ञात हुआ कि यदि अधिक भूमि वाले अपनी भूमि का कुछ अंश भूमिहीनों के लिए दे दें तो कृषक-श्रमिकों और स्वामित्वहीन कृषकों की समस्याएँ बहुत कुछ हल हो सकती हैं। मिरिय लगुड़ा के बालपल्ले में गांव के जमींदार श्री वी० आर० रेड्डी से १०० एकड़ भूमि का पहला दान १८ अप्रैल, १९५१ को मिला।

इस दान से विनोबा जी को बड़ी स्फूर्ति मिली। वे देश भर की भूमि-समस्या का समाधान भूमिदान के क्रम से करने की कामना करने लगे। इसको चलाने का भार उन्होंने स्वयं उठाया और गांव-गांव में घूम कर भूदान की प्रेरणा देने का निश्चय किया। इस प्रकार अन्तःकरण के परिवर्तन से भूमि वालों द्वारा भूमिहीनों के लिए भूदान देने का अपूर्व प्रयोग प्रारम्भ हुआ। देश के विभिन्न वर्गों में इसके प्रति बड़ा उत्साह हुआ। राजनैतिक दलों के नेताओं ने इसकी सफलता में पर्याप्त योग देना प्रारम्भ किया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो कम्युनिज्म की धधकती ज्वाला को शान्त करने के लिए भारत-श्री ने शीतल जलधारा बहा दी हो जो देश के कोने-कोने में प्रसारित होने लगी।

भूमिदान की प्रगति

कम्युनिस्टों के गढ़ तेलंगाना में आचार्य विनोबा जी ६ जून १९५१ तक पद-यात्रा करते रहे। लगभग २०० गांवों का भ्रमण उन्होंने किया। और १२२०१ एकड़ भूमि दान-रूप में प्राप्त किया। ५१ दिन के परिभ्रमण की यह सफलता ही पूरे भूदान-यज्ञ की आधार-शिला बन गयी। देशव्यापी भूदान-आन्दोलन तभी से चलता रहा। विनोबा जी देश के विभिन्न राज्यों में अपने कुछ सहगामियों के साथ घूमते रहे। प्रत्येक राज्य, जिले और गांव के प्रवेश के समय उनका हार्दिक स्वागत जनता, राज्य-कर्मचारियों और नेताओं द्वारा किया जाता है। उनके भाई-चारे और प्रेम-भाव के सन्देश लोगों पर जादू-सा प्रभाव करते हैं। जिससे जितना भी बन पड़ता है भूदान-यज्ञ में आहुति देता है। बहुत से लोग तो इतने प्रभावित

हुए कि अपना सब कुछ विनोवा जी को अर्पित कर दिये। इस प्रकार केवल बड़े भूमिपति ही नहीं वरन् छोटे किसानों ने भी अपनी ज़मीन के कुछ हिस्से दान-रूप में दिये हैं। अक्टूबर १९५६ तक लगभग ४१ लाख ४२ हजार एकड़ भूमि भूदान-रूप में प्राप्त हुई। भूदान देनेवालों की संख्या उस समय तक ५ लाख ६२ हज़ार थी और वितरित भूमि से १ लाख ६० हज़ार परिवार लाभान्वित हुए।

अखिल भारत सर्वसेवा संघ से अक्टूबर सन् १९५६ तक प्राप्त भू-दान संबंधी आंकड़े निम्नलिखित तालिका में दिखाये गये हैं:—

क्षेत्रों के नाम	प्राप्त आंकड़ों की तिथि (तक)	भूदान में प्राप्त भूमि	भूदाताओं की संख्या	भूदान में प्राप्त भूमि का वितरण (एकड़ में)	लाभान्वित परिवारों की संख्या
आसाम	३०-४-५६	५०००	—	—	—
आन्ध्र	१८-५-५६	६२६३४	—	—	—
उत्तरप्रदेश	३१-८-५६	५८६००९	२६१८२	७६३०५	३८३२६
उत्कल	३१-७-५६	२८६२५२	९४८२०	९४२७८	१७३३४
कर्नाटक	३१-८-५६	४११०	८८२	६९९	२४५
केरल	३१-८-५६	२९००७	४६१६	२०२३	१११६
गुजरात	३०-९-५६	४७३६१	११२६३	११५००	३५२२
तामिलनाद	३०-९-५६	६४७७९	११९४६	४५८४	१७४९
दिल्ली	३१-५-५६	३९६	१७५	१५७	९५
नाग-विदर्भ	३१-७-५६	७७८११	१४१२६	२४४८४	३४१६
पंजाब-पेप्सू	३०-९-५६	१६१३३	३९१४	१३८३	३३७
बंगाल	३०-९-५६	१२०२७	७१३०	२७६८	२३०२
बंबई	३०-६-५६	६७४	—	—	—
बिहार	३१-८-५६	२१४९२३७	२९५४६४	१४९४५९	६८९५६
महाकोशल	३०-९-५६	८९७६०	३४६४१	२१०५४	५२२७
मध्यभारत	३०-९-५६	६१९४६	९०९०	३०९४	१०१७
महाराष्ट्र	२९-२-५६	३०८४६	७२३५	३९८३	१०७२
मैसूर	३१-७-५६	९५६०	३६५१	४००	७३
राजस्थान	३१-८-५६	३८९८७२	६९२४	२४७९०	४४३१
विन्ध्यप्रदेश	३१-७-५६	९१५५	१९०९	११८२	४२७
सौराष्ट्र और कच्छ	३०-६-५६	३११५१	९३१६	८१०१	१०९७
हिमांचलप्रदेश	३१-५-५६	१५६८	१२१	२१	८
हैदराबाद	३१-८-५६	१७७४१४	१०९९६	४६०९६	९५०६
योग :—		४१४२७०२	५६२४०१	४७६४०३	१६०२०६

उपर्युक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि भूदान को सबसे अधिक सफलता बिहार में प्राप्त हुई। उसके पश्चात क्रम से उत्तर प्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा और हैदराबाद इस आन्दोलन की सफलता के लिए उल्लेखनीय हैं।

दान-प्राप्त भूमि के वितरण की व्यवस्था

भूदान से प्राप्त भूमि का वितरण भूमिहीन कृषकों में करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में भूदान समितियाँ बनायी गयी हैं जिनमें स्थानीय अथवा क्षेत्रीय प्रसिद्धि के नेता तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति सम्मिलित किये गये हैं। वितरण संबंधी कार्य सुगम बनाने तथा भूदान का क्रम सरलतापूर्वक चलाने के लिए कुछ राज्यों में विशेष अधिनियम बनाये गये हैं। हैदराबाद, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार के इस संबंध के कानून उल्लेख्य हैं। उनमें ऐसे नियम सम्मिलित किये गये हैं जिनसे सचमुच आवश्यकता रखने वाले कृषकों में भूमि-वितरण हो सके। बिहार राज्य में इसके लिए बनाये कानून का संक्षिप्त विवरण उदाहरणस्वरूप नीचे दिया जा रहा है:—

(१) जिस गांव में भूमि-वितरण करना हो उसे इसके लिए निश्चित तिथि की सूचना एक सप्ताह पूर्व डुग्गी से दे दी जाय। इस बात का ध्यान रहे कि प्रत्येक ग्रामीण को इसका पता लग जाय।

(२) भूमि-वितरण की तिथि से एक दिन पूर्व फिर सूचना दी जाय। जिला मजिस्ट्रेट और अन्य अधिकारियों को भी कार्यक्रम की सूचना दी जाय ताकि उनके प्रतिनिधि भी वितरण के समय उपस्थित हो सकें।

(३) भूमि-वितरण करने वाले सज्जन गांव सभापति और पटवारी से मिलकर वितरित की जाने वाली भूमि के संबंध में ब्योरेवार जानकारी प्राप्त कर लें। भूमि की स्थिति, उसकी किस्म, उसका मूल्य जानने का यत्न करना चाहिए।

(४) सम्पूर्ण गांव की सभा बुलायी जाय और उसमें यह पता लगाया जाय कि गांव में भूमिहीन कौन है।

(५) ग्रामवासियों की साधारण सभा में ही भूमि का वितरण किया जाय।

(६) जहां तक सम्भव हो वितरण सर्वसम्मति से किया जाय। यदि वितरण के सम्बन्ध में मतभेद हो तो भूमिहीनों को ही आमन्त्रित किया जाय ताकि वे स्वयं बतायें कि भूमि किसे दी जाय। विनोबा जी के प्रतिनिधि को गुप्त मतदान के द्वारा अपना निर्णय देने का अन्तिम अधिकार है।

(७) भूमि-वितरण में स्थानीय सज्जनों और महाजनों की सहायता भी ली जाय ताकि भविष्य में और भूमि प्राप्त होने का वातावरण बने।

(८) जहां तक सम्भव हो कुल भूमि का एक-तिहाई हरिजनों को अवश्य दिया जाय।

(९) जहां तक सम्भव हो उसी गांव के भूमिहीनों को भूमि वितरित की जाय। यदि भूदान में अधिक खेत मिल गये हों और उस गांव के भूमिहीनों में भूमि वितरित करने के उपरान्त भी कुछ भूमि बच जाय तो वह पड़ोस के गांव के भूमिहीनों को दी जा सकती है। बड़े-बड़े खेतों में बाहरी लोगों को भी बसाया जा सकता है।

(१०) सामान्यतः जोतने के लिए भूमि उन भूमिहीनों को ही दी जाय जिनके पास और कोई दूसरा साधन नहीं है और जो उसमें स्वयं खेती करेंगे। नयी बस्ती बसाने के लिए भी जमीन दी जा सकती है बशर्ते इससे गांव, सुन्दर सुसंगठित और आत्मनिर्भर हों। ऐसी परिस्थिति में नियमों में आवश्यक परिवर्तन भी किये जा सकते हैं।

(११) सामान्यतः ऐसे परिवारों को जिसमें पांच सदस्य हों सिंचाई वाली एक एकड़ भूमि या २·५ से ५ एकड़ तक सूखी भूमि दी जा सकती है। विशेष परिस्थिति में ५ एकड़ से अधिक भूमि भी दी जा सकती है।

(१२) भूदान में यदि छोटे-छोटे टुकड़े मिले हों तो प्रयत्न इस बात का करना चाहिए कि उनके बदले में बड़े टुकड़े मिल जायं। यदि ऐसे छोटे टुकड़ों को लेने के लिए गांव में कोई भूमिहीन न हो तो उन्हें कम भूमि वालों को दे देना चाहिए। यदि यह भी सम्भव न हो तो ऐसे छोटे टुकड़े सार्वजनिक उपयोग के लिए छोड़ दिये जायं। उनमें कम्पोस्ट खाद के गढ़े खोद दिये जायं या शौचालय बनवा दिये जायं।

(१३) जिन्हें भूमि दी गयी है वे उसका विक्रय या रेहन नहीं कर सकते।

(१४) यदि उस भूमि पर कोई सरकारी लगान हो तो उसे जोतने वाला देगा।

(१५) यदि भूमि लेने वाला दो वर्ष तक लगातार उसमें खेती न करे तो समिति को अधिकार होगा कि उससे भूमि वापस लेकर दूसरे भूमिहीनों में वितरित दे।

(१६) उपर्युक्त विवरण के पश्चात भी यदि गांव में कोई भूमिहीन बच रहता है तो उसे भी भूमि दिलाने का यत्न करना चाहिए।

(१७) परती भूमि को खेत बनाने के लिए ३ वर्ष का समय दिया जाना चाहिए।

(१८) यदि अन्य किसी प्रकार की कठिनाई वितरण में होती है तो योजना को सफल बनाने के लिए प्रान्तीय समिति जो कार्रवाई उचित समझे, करे।

वितरण की उपर्युक्त योजना-जैसी योजनाएं अन्य राज्यों में भी सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं और अब तक लाखों एकड़ भूमि का वितरण किया जा चुका है। जिन्होंने भूदान में भूमि प्राप्त की है उनके लिए नये जीवन के संबंध में आशा की नयी किरण फूट रही है। भूदान-आन्दोलन में जो भूमि देता है वह धन्य है और जो भूमि प्राप्त करता है वह भी धन्य हो जाता है।

भूदान धीरे-धीरे भारतीय ग्रामीण जीवन का अविछिन्न अंग बनता जा रहा है। इससे सम्पन्नों और विपन्नों के बीच विद्वेष नहीं बल्कि पारस्परिक सहयोग बढ़ता है। इस परिवर्तन से हिंसापूर्ण क्रान्ति जिन्हें लाने का प्रयास कम्युनिस्ट नेता करते रहे हैं जनता की दृष्टि में निरर्थक हो गयी। जब भूमिपति स्वयं अपनी भूमि का कुछ अंश भूमिहीनों को देने के लिए तैयार हैं तो उसके लिए हिंसात्मक विधियों द्वारा अपहरण करने की क्या आवश्यकता। लेकिन यह भ्रम प्रायः उठता है कि क्या भूमिपति स्वेच्छा से अपनी सामान्य आवश्यकता से अधिक उपजाऊ और अनुपजाऊ भूमि दान में देंगे? क्या भूमि का वितरण समान करने में भूदान यज्ञ सहायक बन सकता है? यदि भूदान यज्ञ पूर्णतः सफल हुआ तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भूमि-वितरण की असमानता बहुत कुछ मिटायी जा सकती है।

तृतीय खण्ड

भूदान की सफलता के आधार-स्तम्भ आचार्य विनोबा

भूदान की प्रगति जनता के अन्तःकरण के परिवर्तन की गति पर निर्भर है। हृदय की विशालता और आत्म-त्याग के प्राचीन आदर्शों से ओत-प्रोत भारतीय जनता इस परिवर्तन का उपयुक्त क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इसके जन्मदाता और संचालक आचार्य भावे हैं जो अपना सम्पूर्ण जीवन समाज सेवा में अर्पित कर चुके हैं तथा जो राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सहवास में २० वर्ष की अवस्था से लेकर उनके देहावसान तक सत्य और अहिंसा का पाठ सीखते रहे। उन्हीं की प्रेरणा से इसको अब तक सफलता मिलती रही है। भविष्य में भी इसको लगातार सफलता मिलती रहेगी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इसकी बागडोर रखने वाला व्यक्ति वासनाओं के सामान्य स्तर से उठ कर "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" की भावना से इसका संचालन कर रहा है। उनका योग-युक्त और आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व तथा पूर्णतः निःस्वार्थ प्रयास अनायास ही लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और सभी यथाशक्ति उनके वचनों का पालन करने, उनके सुझावों को अपनाने और भारत की परम्परागत यज्ञभावना के अर्वाचीन रूप को अधिक से अधिक सफल बनाने में सहर्ष तत्पर हो जाते हैं। कितने साधारण लोग भूदान-संचालक के व्यक्तित्व से ही प्रभावित होकर अपना सब कुछ छोड़ कर इस यज्ञ को व्यापक बनाने वाले कार्यकर्त्ता हो गये। श्री जयप्रकाश नारायण जैसे सुभट राजनैतिक नेताओं ने और अन्य नेता भी इस यज्ञ की अपूर्वता और इसके जन्मदाता की कर्त्तव्य-निष्ठा से प्रभावित होकर अपने को सामान्य राजनीति से हटाकर भूदान आन्दोलन का सामान्य कार्यकर्त्ता बना लिया है।

विनोबा जी का बहुभाषाविद् होना उन्हें और भी जनप्रिय तथा अपने आन्दोलन में सफल बना रहा है। बम्बई राज्य के कोलाबा जिले में जन्म होने से मराठी तो इनकी मातृभाषा ही है।[1] अधिकांश बचपन बड़ौदा राज में बीतने और कई

१. विनोबा भावे जी ११ सितम्बर, १८९५ को एक महाराष्ट्र परिवार में

वर्षों तक लगातार महात्मा गांधी जी के साथ साबरमती आश्रम में रहने से गुजराती और हिन्दी भी इनके लिए मातृभाषा-जैसी ही है। उर्दू, बंगला, उड़िया, पंजाबी, और दक्षिण भारत की चारों भाषाओं का भी उन्होंने पर्याप्त अभ्यास किया है। इस प्रकार देश की सभी क्षेत्रीय भाषाओं से परिचित होने के कारण उन्हें अपनी पदयात्रा में बड़ी सुगमता होती है और अपने उद्देश्य-प्राप्ति में सरलता होती है। यद्यपि आधुनिक शिक्षा की उच्च उपाधियां उनके पास नहीं हैं लेकिन भारत के धर्मों और संस्कृति का विशद अध्ययन है। इसके अतिरिक्त गांधी जी के गुणों, उनकी आदतों और भारत का चित्र बदल देने के उनके स्वप्नों का जितना अधिक प्रतिबिम्ब इनमें दीख पड़ता है उतना भारत में आज सम्भवत: किसी दूसरे में नहीं दीखता। इसके अतिरिक्त जनता में नया जीवन लाने में ये सतत प्रयत्नशील रहे हैं। हस्तकला द्वारा शिक्षा प्रसार में इनका सक्रिय योग रहा। अस्पृश्यता निवारण के आन्दोलन और सत्याग्रहों में भी ये सदैव अग्रसर रहे हैं। इससे जन-आन्दोलनों की समस्याओं तथा जनता की भावनाओं और मनोवृत्तियों का इन्हें पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान है।

अपने अध्ययन, ज्ञान और अनुभव के बल पर आचार्य जी भूदान आन्दोलन को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाते जा रहे हैं। इनके अनुगामियों और कार्यकर्त्ताओं की एक बड़ी सेना बन गयी है। उनमें से प्रत्येक इनके संकेत पर कुछ भी बलिदान दे सकता है।

जनता और जननेता का सहयोग

भूदान आन्दोलन की सफलता में भारतीय जनता और विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यकर्त्ता भी पर्याप्त योग दे रहे हैं। विनोबा भावे जी कोई क्षतिपूर्ति का आश्वासन नहीं देते और न तो न्यायालय से भूदान के निमित्त आदेश ही जारी कराते हैं। वे जनता से केवल अपने सहवासियों के प्रति प्रेम मांगते हैं और दीन भूमिहीनों की सुव्यवस्था के लिए भूमिदान चाहते हैं। उनके आह्वान पर भारत के सभी हिस्सों से लाखों छोटे-बड़े भूस्वामी आगे बढ़े हैं और उन्होंने साधनहीन

पैदा हुए थे। इनकी माता श्रीमती रुक्मिणी देवी धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। इनके पिता श्री नरहरि शंभुराव भावे बड़े सच्चरित्र और विनयशील व्यक्ति थे। वे सूती वस्त्र निर्माण के विशेषज्ञ थे।

देशवासियों के लिए यथाशक्ति भूमि दान दिया है। विनोबा जी की एक-एक यात्रा में हजारों एकड़ भूमि दान में मिली है। यह सफलता भारतीय जनता के सहयोग से ही सम्भव हो सकी है। कम्युनिस्टों को छोड़कर अन्य राजनीतिक दलों के कार्य-कर्त्ताओं ने आचार्य विनोबा के प्रयत्नों को सफल बनाने में योग दिया है। जैसा कि पहले बतलाया गया है प्रजा समाजवादी दल के प्रमुख नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने भूदान आन्दोलन को सफल बनाने के लिए राजनीति से अपने को पूर्ण विलग कर लिया। बिहार राज्य में भूदान की अपूर्व प्रगति उनके वैयक्तिक प्रयत्नों और प्रभावों का परिणाम थी। सर्वोदय समाज के लिए प्रयत्नशील नेताओं और कार्यकर्त्ताओं से भी इस आन्दोलन को सफल बनाने में पूरी सहायता मिली है।

सन्त विनोबा के नेतृत्व में निस्वार्थ भाव से कार्य करने वाले लोगों के प्रयत्नों और जनता के सहयोग से भूदान आन्दोलन की सफलता ध्रुव निश्चित है। इसकी प्रगति में सहायक साधनों और शक्तियों को देखते हुए भूदान के लक्ष्यों को प्राप्त करना साधारण क्रम लगता है।

चतुर्थ खण्ड

भूदान आन्दोलन की आर्थिक समीक्षा

लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भूदान आन्दोलन सफल हो जाने मात्र से ही भारत की आर्थिक प्रगति सम्भव हो सकेगी ? मान लीजिए २ करोड़ एकड़ ही नहीं बल्कि ३ करोड़ एकड़ भूमि भूदान में मिलती है और उसे डेढ़ करोड़ श्रमिकों में वितरित कर दिया जाता है। इससे प्रति व्यक्ति को दो एकड़ भूमि सुलभ हो सकेगी। यह वितरण तो तब सम्भव होगा जबकि कार्यकर्त्ताओं के आधार पर भूमि-वितरण हो। पर कार्यकर्त्ताओं के आश्रितों की संख्या समान नहीं है। अधिक आश्रितों वाले श्रमिक कम आश्रितोंवालों की अपेक्षा कम लाभान्वित होंगे। इस दोष को दूर करने के लिए उपभोक्ताओं की संख्या के आधार पर भूमि-वितरण किया जा सकता है। लेकिन उस परिस्थिति में भूमि का उचित उत्पादनपूर्ण उपयोग सम्भव नहीं होगा। उत्पादकता की दृष्टि से भी यह वितरण हितकर नहीं होगा।

विभिन्न जनगणनाओं को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि भारत की जनसंख्या लगातार बढ़ती रही है। बढ़ने का क्रम भी समय बीतने के साथ अधिक होता जा रहा है। नीचे दी गयी तालिका से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट होता है :—

भारतीय जन-संख्या में दशाब्दि क्रम से वृद्धि

जनगणना का वर्ष	जन-संख्या	विगत दशाब्दि में वृद्धि
१८९१	२२ करोड़ ५९ लाख	....
१९२१	२४ करोड़ ८१ लाख	१ करोड़ २२ लाख
१९३१	२७ करोड़ ५५ लाख	२ करोड़ ७४ लाख
१९४१	३१ करोड़ २८ लाख	३ करोड़ ७३ लाख
१९५१	३५ करोड़ ६९ लाख	४ करोड़ ११ लाख

वृद्धि का "दशाब्दि में वृद्धि का मध्य परिमाण" १९२१-३१ में १०·४ प्रतिशत, १९३१-४१ में १२·७ प्रतिशत, १९४१-५१ में १३·७ प्रतिशत रहा। वृद्धि की इस गति को देखते हुए १९६१-७१ और ८१ में यहां की जन-संख्या लगातार अधिक होती जायगी। जन-गणना आयुक्त ने अनेक कारणों की परीक्षा के उपरान्त यह अनुमान किया है कि जन-संख्या में भावी वृद्धि निम्न प्रकार होगी :—

वर्ष	जनसंख्या करोड़ों में
१९५१	३६
१९६१	४१
१९७१	४६
१९८१	५२

बढ़ती हुई जनसंख्या के खाद्यान्नों की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। सन् १९५१ में ही यह अनुमान लगाया गया था कि प्रतिवर्ष लगभग ३४ लाख टन अनाज की कमी पड़ती है जबकि उस वर्ष कुल खेती हुई भूमि के ७८ प्रतिशत हिस्से में ५ करोड़ ५६ लाख टन अन्न पैदा हुआ था। इस प्रकार सामान्यतः प्रतिवर्ष कुल अन्न ७ करोड़ टन के लगभग पैदा हुआ माना जा सकता है।

सन् १९५१ में कुल अन्न की आवश्यकता ७ करोड़ ५० लाख टन के लगभग आंकी गयी थी। बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ अन्न की बढ़ती हुई आवश्यकता निम्न रूप में आंकी जा सकती है:—

वर्ष (सन्)	जनसंख्या (करोड़ में)	आवश्यक खाद्यान्न (लाख टनों में)	आवश्यक वृद्धि की मात्रा (लाख टनों में)
१९६१	४१	८५०	१५०
१९७१	४६	९६०	२६०
१९८१	५२	१०८०	३८०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९८१ तक खाद्यान्नों के उत्पादन की मात्रा में ३८० लाख टन अर्थात १९७१ की सामान्य उत्पत्ति के आधे से अधिक की वृद्धि आवश्यक है। जन-संख्या आयुक्त ने जोत की भूमि में वृद्धि सिंचाई के साधनों के

विकास और अच्छी खाद के उपयोग आदि के परिणाम का सतर्कतापूर्वक अध्ययन करने के पश्चात यह अनुमान किया था कि १९८१ तक २ करोड़ ४० लाख टन की वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार १४० लाख टन का अभाव आता है।

इस अभाव को दूर करने में भूदान आन्दोलन का योग कितना हो सकता है यह अभी पूर्ण रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता। इससे संबंधित उत्पादन के विकास की केवल दो सम्भावनाएँ हैं—पहली तो यह कि भूमिहीन कृषकों को भूमि दिये जाने से सघन कृषि के परिणामस्वरूप अधिक उत्पादन हो सकता है, दूसरी यह सम्भावना है कि दान में मिली परती भूमि को भी कृषियोग्य बनाया जा सकेगा और उससे भी उत्पादन बढ़ेगा। इसका सबसे बड़ा योग भूमिहीन कृषकों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाना है। जो कुछ भी जमीन उन्हें भूस्वामियों से निःस्वार्थ भाव से मिलती है उससे उनका दृष्टिकोण कृतज्ञतापूर्ण और सहयोगमय हो जाता है। फिर असन्तोष की जो ज्वाला उन्हें हिंसात्मक पद्धतियों को अपनाने और इस प्रकार कम्युनिज्म को बढ़ावा देने में योग देती अपने आप शान्त हो जाती है। देश की विपन्नता का वास्तविक रूप उन्हें कुछ भूमिपतियों के कारण नहीं बल्कि उत्पादन के अभाव के परिणामस्वरूप झलकने लगता है। उसे दूर करने के लिए सहयोग और सहकारिता के आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न होती है। साधारण कृषकों की यह परिवर्तित मनोवृत्ति ही प्रजातन्त्रात्मक विधियों से देश का आर्थिक उत्थान करने का सुदृढ़ आधार निर्मित करती है।

सम्पत्ति-दान

जैसा कि पहले बतलाया गया है विनोबा जी भूदान से ऐसी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था कायम करना चाहते हैं जिसमें धनी-निर्धन, भूमिपति-भूमिहीन आदि के भेद समाप्त हो जायं। इस वर्ग-विहीन समाज को बनाने के लिए हिंसात्मक विधियों को नहीं बल्कि हृदय-परिवर्तन और सही विचार-धारा के मार्ग को अपनाया गया है। भूदान इस ओर प्रथम प्रयास था। आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता लाने का उद्देश्य पूर्ण बनाने के लिए, दूसरे प्रयोग सम्पत्तिदान का, प्रारम्भ बिहार की पदयात्रा करते समय विनोबा जी ने किया। इस पर प्रकाश देते हुए उन्होंने कहा था कि मेरा पहला पग भूदान था अगला पग होगा सम्पत्तिदान। अब मैं एक तीसरा पग लूँगा जिसमें दरिद्र नारायण के लिए अपने सर्वस्व का दान कर बदले में गरीबी को स्वीकार करना होगा। उनकी उत्कट अभिलाषा है कि सभी भगवान के दिये हुए धन का समान रूप से उपभोग करें।

सम्पत्ति-दान का प्रारम्भ करने का निश्चय पहले से ही किया गया था। लेकिन भूमि की समस्या अन्य समस्याओं से अधिक मौलिक थी, इसलिए प्रारम्भ भूमिदान से किया गया। भूदान की सफलता ने आर्थिक असमानता के प्रमुख कारण—सम्पत्ति की विषमता—को दूर करने के लिए सम्पत्तिदान प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी। बिहार के चांडिल नामक स्थान पर भाषण देते हुए आचार्य विनोबा ने इस नयी पद्धति के संबंध में यह कहा था कि भूदान के साथ-साथ मैंने दान में एक दूसरा कार्यक्रम भी बनाया है—सम्पत्तिदान। भूदान यज्ञ की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है। भूमि की समस्या अन्य समस्याओं से अधिक मौलिक थी। हमने केवल भूदान यज्ञ का काम किया और अब तक हमारा मुख्य कार्य वही है। किन्तु जब मैं बिहार आया और बड़े पैमाने पर इस प्रान्त की भूमि-समस्या को हल करने का हमने निश्चय किया तो ऐसा अनुभव हुआ कि अब सम्पत्तिदान प्रारम्भ करने का समय आ गया है।

बिहार से ही विनोबा जी की पदयात्रा में भूदान के साथ सम्पत्तिदान का भी कार्यक्रम सम्मिलित हो गया। जिन लोगों के पास भूमि है वे भूदान देते हैं और सभी लोग शक्ति और इच्छा के अनुसार सम्पत्तिदान देते हैं।

जीवन-दान और ग्राम-दान

सम्पत्तिदान के बाद ही जीवनदान और ग्रामदान का क्रम प्रारम्भ किया गया है। बहुत से व्यक्ति समाज-सेवा के निमित्त अपना सब कुछ छोड़कर आचार्य जी के अनुगामी बन गये हैं और समाज की उन्नति के लिए ही अपने जीवन का प्रत्येक क्षण लगाते हैं।

भूदान के रूप को व्यापक बनाने और सामूहिक खेती की व्यवस्था सरल करने के लिए ग्रामदान का भी कार्यक्रम शुरू हुआ है। इसमें गांव के सभी लोग अपनी परी भूमि गांव-समाज को दान कर देते हैं। भूमि का स्वामित्व व्यक्तियों से हट कर गांव-समाज में आ जाता है। फिर सम्पूर्ण जमीन की खेती ग्रामीणों के सहयोग से बड़े पैमाने पर की जाती है।

ग्रामदान का यह क्रम अहिंसात्मक और शान्तिपूर्ण पद्धति से भारतभूमि में वही परिवर्तन ला रहा है जो रूस में भयंकर संघर्ष और क्रूर हिंसात्मक विधि से सम्भव हो सका। इस प्रयोग से भारतीय ग्रामीणों की मनोवृत्ति धीरे-धीरे बहुत बदल रही है।

उपसंहार

भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदान और जीवनदान के सफल कार्यक्रमों से आचार्य

विनोबा भावे ने महात्मा गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वामित्व की निरंकुशता से मुक्ति दिलाने का प्रशस्त मार्ग दिखाया गया है। धन और अधिकार की उनकी भूख शुद्ध की जा रही है। भूदान, सम्पत्तिदान और ग्रामदान के माध्यम से विनोबा जी ने समाज को व्यक्ति से ऊपर प्रतिष्ठित किया है। भूमि को भगवान की अन्य देनों जैसे वायु, जल, प्रकाश आदि की तरह पूर्ण मुक्त बनाया जा रहा है। इसे व्यक्ति के स्वामित्व से ही नहीं वरन् सरकारी स्वामित्व से भी स्वतंत्र करने का प्रयास हो रहा है।

आचार्य विनोबा ने भूदान के रूप में प्रजातन्त्रात्मक ढांचे के अन्तर्गत भूमि-समस्या के शीघ्र समाधान का मार्ग प्रस्तुत किया है। इससे करोड़ों भूमिहीनों, कृषकों की आकुलता समाप्त करने में पर्याप्त योग मिला है और कम्युनिस्ट नेताओं द्वारा प्रोत्साहित क्रान्तिपूर्ण विस्फोट को बचाया जा सका है। इसकी सफल प्रगति गांधीवाद के उन्हीं अमूल्य तत्त्वों पर आधारित है, जिनसे विशाल साम्राज्य की अपार सैन्य-शक्ति के विरुद्ध ३५ करोड़ जनता को स्वतन्त्रता सुलभ हो सकी। विनोबा जी लोगों से अपने सहवासियों के प्रति प्रेम मांगते हैं उसी का प्रदर्शन भूदान में चाहते हैं। अपने देशवासियों के प्रति प्रेम के सिद्धान्त का यह अद्भुत प्रयोग है। इससे भारत की कृषकीय समस्या बड़ी सुगमता से हल हो रही है।

संत विनोबा के कुशल नेतृत्व में संचालित ये आन्दोलन विश्व को नया प्रकाश दे रहे हैं कि अहिंसात्मक पद्धति द्वारा भी कितनी सुगमता से भूमि-स्वामित्व की भावना समाप्त हो सकती है। इससे विश्व के इतिहास में समाजवादी समाज स्थापित करने का एक नया मार्ग सुलभ हो सका है। इसका सैद्धान्तिक आधार गांधीवाद है और इसकी सफलता के उपकरण भारतीयों की सहृदयता, देशभक्ति और निःस्वार्थ त्याग की भावनाएँ हैं जिनके लिए भारतीय संस्कृति बहुत प्राचीन काल से प्रख्यात रही है।

पूर्व और पश्चिम के जो भी लोग मानवीय स्वातन्त्र्य का मूल्य समझते हैं वे विनोबा जी की बुद्धि, कल्पना और त्याग के लिए सदैव आभारी रहेंगे।

दसवाँ अध्याय

सामाजिक पुनर्गठन : प्रथम

सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता

जैसा कि प्रथम खण्ड के पहले अध्याय में बताया गया है भारत-सरकार का उद्देश्य देश में केवल प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था कायम रखना ही नहीं बल्कि एक कल्याणमय राज्य की स्थापना करना है। इसके निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक नागरिक को आर्थिक उन्नति का स्वतन्त्र क्षेत्र मिलना चाहिए और आर्थिक विकास की बाधाओं तथा उत्पादन के साधनों का अनुचित संग्रह रोकना चाहिए। लेकिन आर्थिक उन्नति का निर्बाध क्षेत्र देने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रत्येक नागरिक को मर्यादापूर्ण स्थान सुरक्षित करना है, जिससे सभी वर्ग जाति, रंग, धर्म से प्रभावित न होकर स्वतन्त्र प्रगति का समान अवसर पा सकें। इसके अतिरिक्त परम्परागत प्रथाओं और अनुचित सामाजिक संस्थाओं के कारण जो लोग शक्तिहीन हैं अथवा जिनकी प्रायः अवहेलना होती रही है उन्हें आगे बढ़ाने और सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए विशेष अवसर दिया जाय। समाज के इस वर्ग में महिलाएँ, बच्चे, अछूत और दलित जातियाँ, जन-जातियाँ और अपंग लोग आते हैं। परिस्थितियों अथवा स्वभाव से जो अपराधी मनोवृत्ति वाले हैं उनमें सुधार लाकर उन्हें नैतिक जीवन बिताने के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करना भी समाज को विकासोन्मुख और पुनर्गठित करने के लिए आवश्यक है। सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्र, नैतिक और मर्यादापूर्ण जीवन व्यतीत करने का क्षेत्र सुलभ करने पर ही हमारा समाज कल्याण-राज्य के आदर्शों को निरूपित कर सकता है और तभी सच्ची प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था सम्भव हो सकती है।

ज्ञान और व्यापक दृष्टिकोण का धीरे-धीरे लोप हो जाने से हमारे समाज में ऐसी जड़ता और कुप्रथाएँ आ गयीं जिनमें सुविधापूर्ण स्थितिवाले अन्य वर्गों की स्वतन्त्रता का निजी स्वार्थों के लिए अपहरण करना और उनका शोषण करना अपना अधिकार समझने लगे। जन्म ही विशिष्टता का आधार हो गया। "कर्म" की मर्यादा समाप्त प्रायः थी। कर्मों के विभाजन का आधार सुविधा, योग्यता

और रुचि नहीं रही वल्कि परम्परागत वर्ग और जातियाँ हो गयीं। परिणामस्वरूप व्यक्ति को अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार उचित कार्य करने का अवसर नहीं मिलने लगा। महिलाओं और निम्न जातियों को पुरुषों और उच्च जातियों का मुखापेक्षी रहना पड़ता था। परिस्थितियोंवश बाध्य होकर अनैतिक मार्गों को अपनाने वाले नर-नारियों को सर्व-साधारण वर्ग से त्यक्त समझा जाता था। अपनी भूल समझने और उसे सुधारने के लिए तत्पर होने पर भी पथभ्रष्टों के लिए समाज में मर्यादापूर्ण स्थान पुनः प्राप्त करना प्रायः असम्भव था। इसी प्रकार कुष्ट और अन्य भयंकर छूआछूत की बीमारियों से आक्रान्त भिखमंगे, गलियों और सड़कों में अपना दुःखमय बोझिल जीवन तो खींचते ही हैं साथ ही समाज के स्वस्थ नागरिकों में भी अपने रोग का विस्तार करते फिरते हैं।

जब तक हमारे समाज की ये कुरीतियाँ दूर नहीं होतीं, राष्ट्र का उत्थान सम्भव नहीं है और न तो इसके नागरिक को स्वतन्त्र मर्यादापूर्ण जीवन बिताने का ही क्षेत्र सुलभ हो सकेगा। फिर कल्याण-राज्य की भावना कैसे साकार हो सकती है ?

इसलिए देश की प्राकृतिक शक्तियों के उच्चतम प्रयोग, उत्पादन की वृद्धि तथा वितरण की समानता लाने वाली आर्थिक क्रांतियों के साथ समाज की कुप्रथाओं को मिटाने, दलित और अवहेलित वर्गों को मर्यादापूर्ण स्थान देने तथा वर्तमान परिस्थितियों से विषमता रखने वाले नियमों और रीतियों में परिवर्तन लाने के लिए सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता रही है।

क्रान्ति के दो मार्ग

यह क्रान्ति दो मार्गों का साथ अनुसरण करने से आ सकती है। प्रथमतः प्रत्येक नागरिक को समाज के प्रस्तुत दोषों से परिचित कराकर तथा उसको मिटाने की आवश्यकता समझाकर आदर्श समाज के नये दृष्टिकोण का ज्ञान कराया जाय। द्वितीयतः समाज की व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में जो दोषपूर्ण अथवा अनुपयुक्त कानून हैं उनमें परिवर्तन लाकर उन्हें नयी आवश्यकता के अनुरूप बनाया जाय।

इन दोनों विधियों का साथ प्रयोग किये विना सामाजिक पुनर्गठन सम्भव नहीं है और न तो सामाजिक क्रान्ति ही पूर्ण हो सकती है। केवल दृष्टिकोण परिवर्तित करके नया समाज बनाने में बहुत समय लग सकता है और बहुत से लोग फिर भी अपने पुराने ढर्रे पर चलते रह सकते हैं। जड़ मनोवृत्ति वाले कानून और दण्ड के भय से ही नयी व्यवस्था मानने को तैयार होते हैं। इस प्रकार नयी व्यवस्था समझाने और उसे अपनाने की प्रेरणा देने के साथ यदि पुरानी प्रथा के विरुद्ध विशेष

कानून भी बना दिये जायं तो परिवर्तन और पुनर्गठन की गति में काफी तीव्रता आ सकती है।

इसी प्रकार केवल नये कानून बना देने मात्र से ही सामाजिक व्यवस्थाएँ नहीं बदल सकतीं। यदि सभी अथवा अधिकांश लोग पुरानी रीतियों के प्रति श्रद्धा रखें और नये नियमों को अवहेलना की दृष्टि से देखें तो कानून बनने पर भी पुरानी प्रथाएँ ज्यों की त्यों चलती रहती हैं। विवाह संबंधी शारदा ऐक्ट की प्रभावहीनता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसलिए कानून बनाने के साथ ही नयी व्यवस्था अपनाने की तत्परता भी समाज में उत्पन्न होनी चाहिए। इसके लिए विशेष प्रचारों और प्रयोगों द्वारा जन-मत पर प्रभाव डालना आवश्यक है।

द्वितीय खण्ड

नव-भारत में इन दोनों मार्गों का अनुसरण : प्रचार मार्ग

हमारे यहां समाज की कुप्रथाओं और उसके प्रवाह की बाधाओं को दूर करने वाली सामाजिक क्रान्तियाँ दोनों विधियों से लायी जा रही हैं। प्रचार-विधि का प्रयोग स्वतन्त्रता मिलने के पूर्व से ही हो रहा है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं का अछूतोद्धार और छूआछूत की भावना मिटाने के प्रयत्न अपनी व्यापकता और प्रभाव की दृष्टि से अपूर्व रहे हैं। इसके अतिरिक्त निराधार महिलाओं, अनाथ बच्चों तथा अपाहिजों की व्यवस्था के लिए वैयक्तिक योगों पर अनेक संस्थाएँ चलायी जा रही हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में इन आश्रमों और संस्थाओं की कार्य-विधियों का अध्ययन करने और उन्हें अपने मार्ग पर और तेजी से अग्रसर कराने के लिए विशेष सहायता की व्यवस्था की गयी है। केन्द्रीय समाज-कल्याण परिषद द्वारा (सेन्ट्रल सोशल वेल्फेयर बोर्ड) बच्चों और महिलाओं के कल्याण संबंधी कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्रों में चलाने के लिए ४ करोड़ रुपये दिये जाने की व्यवस्था की गयी। इस संबंध में बोर्ड ने २१७४ ऐच्छिक संस्थाओं को लगभग ७५·४३ लाख रुपये की सहायता दी। इन संस्थाओं में से ५९२ बच्चों के कल्याण में लगी रहने वाली संस्थाएँ, ६६७ महिलाओं के कल्याण में, १५० अपाहिजों की व्यवस्था करने वाली और ७६५ सामान्य कल्याण-कार्य में लगी संस्थाएँ थीं। केन्द्रीय कल्याणमण्डल की सहायता के लिए राज्यों में भी कल्याण-मण्डलों की स्थापना की गयी है।

गांवों में महिलाओं और बच्चों के कल्याण-कार्य चलाने के लिए तथा स्थानीय संस्थाओं से इसमें सहयोग प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय और राज्य के कल्याण-मण्डलों ने कल्याण-प्रसार योजनाएँ चलाना प्रारम्भ किया है। पंचवर्षीय प्रथम योजना-काल में लगभग ३०० ऐसी योजनाएँ प्रारम्भ की गयीं। प्रत्येक योजना लगभग २५ गांवों में कल्याण-कार्य प्रसारित करती है। इस पर प्रथम आयोजना-काल में लगभग ८५ लाख रुपये व्यय किये गये। महिला कार्यकर्त्ताओं की संख्या बढ़ाने के लिए कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय-स्मारक-निधि का प्रयोग करके लगभग ५५०

ग्राम-सेविकाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था केन्द्रीय समाज-कल्याण-मण्डल ने की है।

विधान-मार्ग

कानून के क्षेत्र में समाजोत्थान के लिए किये गये प्रयत्न और भी महत्त्वपूर्ण हैं। देश की सभी व्यवस्थाओं के वैधानिक आधार संविधान में ही यह सिद्धान्त अपनाया गया है कि प्रत्येक नागरिक को धर्म, जाति आदि के बिना विभेद के न्याय, स्वतन्त्रता, समानता के मौलिक अधिकार प्राप्त हैं। राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त के रूप में यह स्पष्ट किया गया है कि सरकार प्रत्येक नागरिक--नर और नारी--को जीवनयापन के पर्याप्त साधन समान रूप से सुलभ करेगी और पुरुषों तथा स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन दिया जायगा। श्रमिकों--पुरुषों और स्त्रियों--के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बच्चों की कम आयु का दुरुपयोग नहीं होगा। आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य होकर कोई भी व्यक्ति अपनी शक्ति अथवा अवस्था के विपरीत कार्य करने को बाध्य नहीं किया जायगा। बचपन और यौवन को शोषण, विपन्नता और नैतिक पतन से बचाया जायगा।

नागरिकों को शोषण से बचाने के लिए संविधान के अनुच्छेद २३ और २४ में यह व्यवस्था की गयी है कि अनैतिक कार्यों के लिए व्यक्तियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना या उनसे बेगार लेना अवैध होगा। इसी प्रकार १४ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को फैक्टरी या खानों या दूसरे किसी जोखिम वाले कार्यों में नहीं लगाया जा सकेगा। अनुच्छेद १५ के अनुसार राज्य द्वारा नागरिकों में धर्म, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव न किया जायगा। सरकारी नौकरियों में भी धर्म, जाति, वंश, लिंग, जन्मस्थान, निवासस्थान आदि के आधार पर किसी प्रकार की अयोग्यता नहीं ठहरायी जायगी।

छूआछूत को १७वें अनुच्छेद के अनुसार एकदम वर्जित कर दिया गया है। इसको किसी प्रकार मानना निषिद्ध है।

इस प्रकार संविधान में ही सामाजिक दोषों--विभिन्न नागरिकों में धर्म, जाति, वंश, जन्मस्थान, लिंग के आधार पर किये जाने वाले भेद-भाव, छुआछूत आदि को मिटाने का प्रावधान दिया गया है। लेकिन केवल इनसे ही समाज का पूरा सुधार सम्भव नहीं है। हमारे अनेक ऐसे सामाजिक विधान थे जो भेद-भाव पर आधारित थे। विवाह, उत्तराधिकारिता आदि के कानून पुरुषों और स्त्रियों के अधिकारों की असमानता पर ही निर्भर थे। हिन्दू-विधान के अनुसार स्त्रियों को सदैव

पराश्रित ही माना जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार स्त्रियाँ बचपन में अपने पिता की देख-रेख में रहती हैं, युवावस्था में पति की देखरेख में तथा वृद्धावस्था में अपने पुत्रों द्वारा संरक्षित होती हैं।

महिलाओं के अनैतिक उपयोग पर अथवा अनैतिक कार्यों के निमित्त उनके क्रय-विक्रय या लोभ और शक्ति के बल पर उन्हें वेश्यावृत्ति अपनाने की विवशता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था। कुछ स्थानों में इसे रोकने के लिए कानून बनाये गये थे लेकिन उनका पालन नाम-मात्र ही हो पाता था। बच्चों के लालन-पालन अथवा उन्हें शोषण से बचाने के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। भिखमंगी रोकने अथवा अपराधी मनोवृत्तियों को सुधारने के लिए भी उचित विधान का अभाव था। इन दोषों को दूर करने के लिए विशेष विधान बनाये बिना हमारे राष्ट्रीय जीवन को आधार प्रस्तुत करने वाली महिलाओं तथा भविष्य बनाने वाले बच्चों का सुधार और स्वतन्त्र वातावरण में उनकी निर्बाध प्रगति सम्भव नहीं थी। राष्ट्रीय जीवन के अन्य दोषों जैसे भिखमंगी, अपराध करने की प्रवृत्ति आदि का सुधार भी समाजोत्थान के लिए अनिवार्य था।

भारत-सरकार इन सभी क्षेत्रों में कानून बनाकर और अन्य प्रयत्नों द्वारा सुधार लाने का संगठित प्रयास कर रही है। प्रत्येक क्षेत्र के प्रयत्नों और उनसे हुई प्रगतियों का विश्लेपण आगे दिया गया है।

❁

तृतीय खण्ड

महिलाओं की स्थिति का सुधार करने वाले विधान

भारतीय महिलाएँ विवाह और उत्तराधिकारिता संबंधी अधिकारों में पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम स्थान रखती थीं। जीवन के इन मुख्य क्षेत्रों में उन्हें पूर्णतः पराधीन रहना पड़ता था। हिन्दू विधान के अनुसार स्त्रियों की यह स्थिति ही उचित थी। संविधान के अनुरूप महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार और स्वतन्त्रता देने के लिए पुराने कानूनों में परिवर्तन लाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। स्वतन्त्रता के पश्चात से ही हमारी राष्ट्रीय सरकार इस ओर जागरूक है। चूँकि हिन्दू विधान का आधार ही स्त्रियों की पराश्रिता और पराधीनता रही, इसलिए सर्वप्रथम इसी को बदलने के लिए हिन्दू कोड बिल प्रस्तुत किया गया। लेकिन विशेष कारणों से यह बिल कानून का रूप नहीं ले सका। फिर भी महिलाओं के उत्थान के प्रयत्न चलते रहे और उन्हें विवाह तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकारों की समानता और स्वतन्त्रता देने के लिए दो अधिनियम बनाये गये।

हिन्दू विवाह अधिनियम (१९५५)

यह अधिनियम १८ मई, १९५५ से जम्मू और काश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू है। हिन्दुओं में विवाह से सम्बन्धित विधान इसमें दिया गया है। हिन्दुओं में विवाह के लिए इस अधिनियम के अनुसार निम्नांकित शर्तें पूर्ण होनी चाहिए :—

१—कोई भी पक्ष अपना पहली विवाहिता या विवाहित न रखता हो।

२—कोई भी पक्ष पागल या अव्यवस्थित मस्तिष्क का न हो।

३—वर १८ वर्ष का हो चुका हो और कन्या १५ वर्ष की हो चुकी हो।

४—वर-कन्या आपस में ऐसा सम्बन्ध न रखती हों जिनमें वैवाहिक सम्बन्ध होना अविहित हो।

५—वर-कन्या एक दूसरे के सपिण्ड न हों।

६—यदि कन्या १८ वर्ष से कम हो तो उसके अभिभावक से विवाह की सम्मति प्राप्त कर ली गयी हो।

लेकिन किसी भी परिस्थिति में १८ वर्ष से कम आयु वाली कन्या के विवाह को वर्जित करने के लिए न्यायालय द्वारा विशेष आदेश जारी किया जा सकता है।

विवाह की विधि का कोई उल्लेख अधिनियम में नहीं है और न तो इसके पंजीयन को ही अनिवार्य बनाया गया है। लेकिन विशेष परिस्थिति में पंजीयन न कराने पर २५ रुपये अर्थदण्ड लगाया जा सकता है।

इस अधिनियम के बनने के पहले या बाद में स्थापित वैवाहिक सम्बन्ध परित्याज्य हो सकते हैं और न्यायालय विशेष आधारों पर उन्हें रद्द कर सकता है।

पति या पत्नी सहवासाधिकार की पुनराप्ति के लिए प्रार्थी हो सकते हैं यदि दूसरा बिना किसी मान्य आधार के प्रार्थी के सहवास से विलग हो गया हो। न्यायालय सहवासाधिकार पुनराप्ति के लिए आदेश भी जारी कर सकता है।

न्यायिक बिलगाव के आधार

विवाह सम्बन्ध रखने वाला कोई भी पक्ष चाहे यह सम्बन्ध अधिनियम के पहले या बाद में स्थापित हुआ हो निम्नांकित में से किसी भी आधार पर न्यायिक विलगाव के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकता है:—

(१) प्रार्थना-पत्र देने के पहले लगातार दो वर्षों से दूसरे पक्ष द्वारा त्यक्त होने पर।

(२) दूसरे पक्ष द्वारा इतना क्रूर व्यवहार किया गया हो कि प्रार्थी के मस्तिष्क से दूसरे पक्ष के साथ रहना हानिप्रद मालूम होता हो।

(३) दूसरा पक्ष प्रार्थना-पत्र देने के एक वर्ष पहले से भयंकर कुष्ट रोग से पीड़ित हो।

(४) दूसरा पक्ष वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने के पश्चात किसी दूसरे के साथ पति-पत्नी की तरह रहने लगा हो।

इस अधिनियम में वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद के लिए जो भी प्रथाएँ अथवा दूसरे अधिनियम के प्रावधान हों, सुरक्षित रखे गये हैं। इनके अतिरिक्त निम्नांकित आधारों पर वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद का भी अधिकार दिया गया है। इस अधिनियम के प्रारम्भ होने के पहले या बाद स्थापित वैवाहिक सम्बन्ध का कोई भी पक्ष सम्बन्ध-विच्छेद के लिए न्यायालय में प्रार्थना-पत्र दे सकता है। प्रार्थना-पत्र देने के निम्नांकित में से कोई भी आधार हो सकते हैं:—

(१) यदि दूसरा पक्ष किसी दूसरे के साथ अनैतिक सम्बन्ध रखने लगा हो।

(२) यदि उसने हिन्दू धर्म छोड़ दिया हो।

(३) यदि वह प्रार्थना-पत्र देने के पिछले तीन वर्षों से असाध्य मानसिक अस्वस्थता से पीड़ित हो।

(४) यदि वह उपर्युक्त समय से भीषण अथवा असाध्य कुष्ट रोग से पीड़ित हो।
(५) यदि वह उपर्युक्त समय से संक्रामक धातुरोग से पीड़ित हो।
(६) यदि उसने किसी धार्मिक स्थिति को प्राप्त कर संसार का त्याग कर दिया हो।
(७) यदि वह पिछले सात वर्षों से जीवित रहता हुआ नहीं ज्ञात होता हो। आदि।

वैवाहिक सम्वन्ध-विच्छेद के उपर्युक्त अधिकार पति और पत्नी दोनों को समानरूप से सुलभ हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त पत्नियों को वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद के लिए दो और अधिकार दिये गये हैं:—

(१) यदि विवाह इस अधिनियम के पूर्व हुआ हो और अधिनियम के पूर्व ही पति ने दूसरा विवाह किया हो अथवा अधिनियम के पूर्व हुए विवाह की पत्नी दूसरे विवाह के समय जीवित रहे। लेकिन यह अधिकार तभी व्यवहृत हो सकता है यदि प्रार्थना-पत्र देते समय दूसरी पत्नी जीवित हो।
(२) यदि विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने पर पति बलात्कार या अनैसर्गिक संगम का अपराधी घोषित किया गया हो। विवाह सम्बन्ध स्थापित होने के तीन वर्ष बाद ही विच्छेद के लिए प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है। लेकिन यदि प्रार्थी विशेष कठिनाई में हो अथवा प्रतिवादी अस्वाभाविक ढंग से अनैतिक हो गया हो तो इस अवधि से पूर्व भी संबंध-विच्छेद का प्रार्थना-पत्र स्वीकार हो सकता है।

वैवाहिक सम्वन्ध-विच्छेद के बाद दोनों व्यक्ति पुनः विवाह करने का अधिकार रखते हैं।

यदि कोई विवाह परित्याज्य घोषित हो गया हो लेकिन इस बीच में कोई सन्तान होती है तो उसे पूर्ण वैधानिक मानेंगे।

यदि कोई व्यक्ति अपने पहले वैवाहिक साथी के रहते हुए दूसरा विवाह करता है तो इस पर दो विवाह का अपराध लगाया जा सकता है। (आई० पी० सी० के अनुसार)। इसी प्रकार अल्प-वयस्कों के विवाह अथवा सपिण्डों और वर्जित सम्वन्धियों में वैवाहिक सम्बन्ध करने अथवा १८ वर्ष से कम वधू के साथ उसके अभिभावक से बिना पूछे यदि विवाह होता है तो उसे भी दण्डनीय अपराध माना गया है। न्यायालय इन कार्यवाहियों को प्रार्थी की इच्छानुसार अथवा अपनी ही इच्छा से गुप्त रूप से कर सकता है। बच्चों के भरण-पोषण की व्यवस्था भी न्यायालय निश्चित कर सकता है।

विवाह सम्बन्धी इस अधिनियम के बन जाने से हिन्दू महिलाओं को अधिक सुखमय दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने की सुविधा मिली है। वैवाहिक सम्बन्ध

स्थिर करने में उनकी इच्छा भी देखी जाती है। यद्यपि १८ वर्ष से कम आयु वाली महिलाओं के विवाह की अनुमति उनके अभिभावक से ली जाती है फिर भी विशेष परिस्थितियों में न्यायालय इस सम्बन्ध को अविहित घोषित कर सकता है। बहु-विवाह वर्जित होने से महिलाओं को सपत्नी-यातना से छुटकारा मिल गया है। यदि अनजान में विवाह हो भी गया हो तो दूसरे विवाह की जानकारी होते ही सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और पत्नी को क्षतिपूर्ति का अधिकार भी रहता है। पहले, एक बार विवाह हो जाने पर पत्नी को पति के अतिरिक्त दूसरा आश्रय ही नहीं माना जाता था। चाहे पति का व्यवहार कितना ही क्रूर क्यों न हो, उसका कितना भी नैतिक पतन क्यों न हो गया हो, लेकिन पत्नी को उसकी अनुगामिनी बन कर रहना पड़ता था। इस अधिनियम ने इन सभी परिस्थितियों में पत्नी को विवाह-सम्बन्ध से मुक्ति पाने और अपने जीवन का नया क्रम प्रारम्भ करने की सुविधा सुलभ की है। इतना ही नहीं, पति की दीर्घकाल तक की अनुपस्थिति, उसके कुष्ट जैसे भयंकर रोगों से आक्रान्त होने और अन्य अस्वाभाविक परिस्थितियों में भी पत्नी को सम्बन्ध-विच्छेद कराने का अधिकार दिया गया है। अधिनियम के इन प्रावधानों से वैवाहिक सम्बन्ध को पूर्व संस्कारों से उत्पन्न अपरिवर्तनीय स्थिति न मानकर पारस्परिक सम्मान और प्रेम पर आधारित सुखमय दाम्पत्य-जीवन बिताने का वैधानिक सम्बन्ध माना जाने लगा है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होते ही जिसमें पारस्परिक सम्मान और प्रेम के साथ दाम्पत्य-जीवन बिता सकना सम्भव न हो, वैवाहिक सम्बन्ध का विच्छेद हो सकता है। इससे पुरानी विचार-धारा के लोगों को ठेस अवश्य लगी है लेकिन महिलाओं की विवशता बहुत कुछ कम हो सकी है। पति के दुराचारों और दुर्व्यवहारों के मध्य अनिच्छापूर्वक घुटने से उन्हें छुट-कारा देने का प्रयास किया गया है। अधिनियम द्वारा प्राप्त विशेष अधिकारों के बल पर अब हिन्दू महिलाएँ पराश्रिता या पराधीन बन कर नहीं बल्कि समानपदी के रूप में वैवाहिक जीवन बिता सकेंगी।

उत्तराधिकार सम्बन्धी शक्तियाँ

वैवाहिक सम्बन्ध की असमानता के अतिरिक्त उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा बिलकुल सीमित अधिकार थे। स्त्रियों को मिता-क्षरा नियम के अन्तर्गत जो अधिक व्यापक था उत्तराधिकार नहीं के बराबर थे। विधवाएँ भी अन्य निकट पुरुष सम्बन्धी के रहते हुए अपने पति की सम्पत्ति की उत्तरा-धिकारिणी नहीं हो सकती थीं। इन दोषों को दूर करने के लिए १९५६ में हिन्दू

उत्तराधिकार अधिनियम बनाया गया। उसके अन्तर्गत महिलाओं को उत्तराधिकार सम्बन्धी कुछ विशेष सुविधाएँ मिली हैं।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम १९५६ में स्त्रियों को प्राप्त सुविधाएँ

इस अधिनियम के अनुसार अब पुत्रों और पूर्व मृतपुत्रों के साथ पुत्रियों, विधवा, पुत्र के पूर्वमृत पुत्र के पुत्र, माता, पूर्वमृत पुत्र की पुत्री, पूर्वमृत पुत्री के पुत्र, पूर्वमृत पुत्र की विधवा, पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र के पुत्र, पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की पुत्री, पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा को समान रूप से हिस्सा मिलेगा। पुत्रियों, माताओं और विधवाओं को जो पहले उत्तराधिकार प्राप्त नहीं था, उसकी व्यवस्था कर दी गयी है (धारा ८)। इसके अतिरिक्त पुत्र की पुत्री, पुत्री की पुत्री की पुत्री, भाई की पुत्री, बहिन की पुत्री, पिता की विधवा, पिता की बहन, माता की माता, माता की बहिन को भी किसी मृतक की सम्पत्ति में हिस्सा लेने का अधिकार मिला है (धारा १०१३ तक)।

कोई भी हिन्दू महिला इस अधिनियम के प्रारम्भ होने के पहले या बाद से जो भी सम्पत्ति जिस भी प्रकार से अपने अधिकार में रखती है उसकी पूर्ण स्वामिनी होती है। लेकिन यह नियम उसकी उस सम्पत्ति पर लागू नहीं होगा जो दान के जरिये, इच्छापत्र, या अन्य किसी लिखित के अधीन या कोर्ट की आज्ञाप्ति या आदेश के अधीन या पंचाट के अधीन अर्जित हो और ये दान, इच्छापत्र, या अन्य लिखित या आज्ञाप्ति आदेश या पंचाट की शर्तें ऐसी सम्पत्ति में निश्चित हक देती हों। (धारा १४)

किसी महिला की सम्पत्ति उसकी मृत्यु के बाद प्रथमतः उसके पुत्रों, पुत्रियों और पति को, द्वितीयतः पति के दायादों को तृतीयतः माता और पिता को, चतुर्थतः पिता के दायादों को और अन्ततः माता के दायादों को सुलभ होती है। (धारा १६) उसकी सम्पत्ति का वह अंश जो माता या पिता से प्राप्त हो पुत्र और पुत्री के अभाव में उपर्युक्त क्रम में दायादों को न मिलकर उसके पिता के दायादों को मिलेगी और अपने पति या श्वशुर से मिला अंश पुत्री और पुत्र के अभाव में पति के दायादों को ही सुलभ होगा।

इस अधिनियम के अनुसार किसी मृतक के उत्तरजीवी स्त्री-पुरुष दोनों प्रकार के दायाद हो सकते हैं। यदि मृतक की सम्पत्ति के अन्तर्गत उसके अपने परिवार के सदस्यों के पूर्णतः अधिकार में कोई निवासगृह है तो नारी-दायाद उस निवास गृह के विभाजन करने के दावे का अधिकार तब तक नहीं रखती जब तक कि पुरुष

दायाद उसमें अपने क्रमागत अंशों का विभाजन करना पसन्द न करें। किन्तु नारी दायाद को उसमें निवास करने का हक है। यदि नारी दायाद पुत्री है तो उसे निवास का अधिकार तभी प्राप्त होगा जबकि वह अविवाहिता हो अथवा अपने पति द्वारा अभित्यक्ता हो या उससे पृथक हो गयी हो, या विधवा हो।

इस व्यवस्था से उन हिन्दू महिलाओं को अपने पिता के घर रहने का अधिकार सुलभ हो गया है जो अपने पति के घर से निरादृत और बहिष्कृत कर दी गयी हों।

लेकिन यदि नारी दायाद पूर्वमृत पुत्र की विधवा, पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा या भाई की विधवा के रूप में मृतक से नातेदारी रखती है और उत्तराधिकार का सूत्रपात होने की तारीख में पुनः विवाहित है तो निर्वसीयत की सम्पत्ति में ऐसी विधवा के रूप में उत्तराधिकार पाने के लिए हकदार न होगी। (अधिनियम की धारा २४ के अनुसार)।

उत्तराधिकार अधिनियम के इन नये प्रावधानों से हिन्दू महिलाओं को उत्तराधिकार सम्बन्धी सुविधाएं पुरुषों के समान ही सुलभ हो गयी हैं। देश के संविधान में पुरुषों और स्त्रियों के अधिकारों की समानता की व्यवस्था मताधिकार, नौकरी, पारिश्रमिक, शिक्षा आदि में पहले ही कर दी गयी थी, विवाह और उत्तराधिकार के सम्बन्ध में पूर्व कानूनों की असमान व्यवस्थाएं और स्त्रियों की पराश्रिता को नये कानून द्वारा दूर कर महिलावर्ग को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिया गया है। इससे भारत के समाज के एक बड़े भाग को आत्म-विकास का स्वतन्त्र क्षेत्र सुलभ हो सका है।

अनैतिकता से सुरक्षा

महिलावर्ग को हमारे समाज में एक और प्रकार की विवशता रही है। परिस्थितियों से बाध्य होकर अथवा कुचक्रियों के फन्दे में पड़कर उनमें से कुछ को अनैतिक जीवन बिताना पड़ता है। इसके लिए १९४२ में अनैतिक व्यवहार निरोधक अन्तर्राष्ट्रीय प्रसभा (इन्टरनेशनल कान्वेन्शन फार दि सप्रेशन आफ इम्मारल ट्राफिक) के बाद से ही प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया गया है। १९२३ में इण्डियन पेनल कोड के अन्तर्गत इस अनैतिकता के निवारणार्थ एक विशेष प्रावधान सम्मिलित किया गया जिसके अनुसार १८ वर्ष से कम अवस्था वाली लड़कियों को अवैधानिक सहवास करने को राजी करने अथवा बाध्य करने के लिए प्राप्त करना अपराध घोषित कर दिया गया और बाहर से २१ वर्ष की कम अवस्था वाली लड़कियों को उपर्युक्त उद्देश्य के लिए मंगाना भी दण्डनीय अपराध बना दिया गया। सभी

प्रान्तों में भी इस अनैतिकता को रोकने, इसे फैलाने में योग देने वाले व्यक्तियों को दण्ड देने के लिए विशेष अधिनियम बना दिये गये। मद्रास और बम्बई में मन्दिरों और देवताओं को स्त्रियां भेंट करना और देवदासी के रूप में उन्हें वेश्यावृत्ति अपनाने को विवश करना समाप्त करने के लिए इसके विरुद्ध विशेष कानून बना दिये गये। देवदासियों को शादी करने और वैवाहिक जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता दे दी गयी। उत्तर प्रदेश में नायक जाति की लड़कियों को वेश्यावृत्ति अपनाने को बाध्य होने से बचाने और उन्हें विवाह करके सम्मानपूर्ण दाम्पत्य-जीवन बिताने के लिए विशेष अधिनियम बनाया गया है।

अन्य सभी राज्यों में भी इस अनैतिकता को रोकने के अधिनियम बने हैं। उनके प्रावधानों को लागू करने और अनैतिक मार्गों से महिलाओं को उठाकर सम्भ्रान्त नागरिक जीवन बिताने का क्षेत्र सुलभ करने का प्रयास हो रहा है। केन्द्रीय समाज कल्याण परिषद ने इस समस्या पर विचार करने और उसे दूर करने का सुझाव देने के लिए एक समिति की स्थापना की थी। समिति ने यह सुझाव दिया कि वेश्यावृत्ति की समस्या हमारे समाज में महिलाओं और लड़कियों के साथ किये जाने वाले उपेक्षापूर्ण और क्रूर व्यवहार से सम्बद्ध है। बिना इसको सुधारे वेश्यावृत्ति रोकना सम्भव नहीं है। राष्ट्र की आर्थिक उन्नति, जीवन-स्तर की वृद्धि तथा सामाजिक शिक्षा के प्रसार से इस दोष को धीरे-धीरे मिटाने का प्रयास हो रहा है। इसके साथ ही पहली समस्या भी सुलझायी जा रही है। आयोजना-आयोग द्वारा प्रकाशित "सामाजिक विधान" की पुस्तक में इसके निवारणार्थ यह भी सुझाव दिया गया है कि महिलाओं के उद्धार के लिए कार्य करने वाली संस्थाओं पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है, क्योंकि ये भी विवाह आदि के नाम पर कम अनैतिकता नहीं फैलाते। नृत्य और संगीत कला-शिक्षण की ओट में भी बड़ी अनैतिकता देखी गयी है। उन पर भी दृष्टि रखना और उन्हें सही मार्गों पर बढ़ाने के लिए उचित निरीक्षण करते रहना आवश्यक है।[1]

१. सोशल लेजिस्लेशन्स—इट्स रोल इन सोशल वेलफेयर, अध्याय ३०, पृष्ठ ३८५, प्लानिंग कमीशन पब्लिकेशन १९५६।

चतुर्थ खण्ड

बच्चों की सुरक्षा और उनका उत्थान

समाज का दूसरा वर्ग जिसके उत्थान और प्रगति पर राष्ट्र का भविष्य निर्भर है, बच्चे हैं। इनके सम्बन्ध में तीन विशेष तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है—बच्चों का उचित लालन-पालन और उनकी शिक्षा—परिस्थितियों वश किये जाने वाले शोषण से उनका बचाव, कुवास के कारण उत्पन्न अपराधी मनोवृत्तियों को दूर कर उन्हें अच्छे नागरिक का जीवन बिताने की प्रेरणा देना।

बच्चों के अधिकार के सम्बन्ध में १९२४ में ही "लीग आफ नेशन्स" के तत्त्वावधान में एक घोषणा की गयी थी। १९४६ में इसे संशोधित करके संयुक्त राष्ट्र संघ ने निम्न रूप दिया—"सभी राष्ट्र के नर-नारी इस बात को मानते हुए कि मानव-समाज बच्चों के प्रति ही सबसे अधिक दायित्व रखता है, इसे अपने कर्त्तव्यरूप में स्वीकृत और घोषित करते हैं कि जाति, राष्ट्र या मत के सभी भेदों के परे—

(१) बच्चों को सामान्य भौतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए उचित साधन मिलना चाहिए।

(२) भूखे बच्चों को खाना, बीमार बच्चों को चिकित्सा, पिछड़े बच्चों को सहायता और बिगड़े बच्चों को आश्रय और सुधार मिलना चाहिए।

(३) आपत्ति काल में बच्चों को सबसे पहले सहायता मिलनी चाहिए।

(४) बच्चों को अपनी जीविका उपार्जित करने योग्य बनाया जाना चाहिए और सभी शोषणों से सुरक्षित रखना चाहिए।

(५) बच्चों का पालन-पोषण उन्हें यह समझाते हुए करना चाहिए कि उनकी प्रतिभा का प्रयोग अपने सहजीवियों की सेवा में लगे।"

हमारे संविधान में इन्हीं तथ्यों के अनुरूप बच्चों के कल्याण को समाज-कल्याण के अन्तर्गत प्रमुख स्थान दिया गया है। ऐसी व्यवस्था लाने का प्रयास हो रहा है जिसमें प्रत्येक बच्चे को स्वस्थ, उत्तरदायी, आत्म-निर्भर नागरिक बनने का अवसर मिल सके और माता-पिता की साधनहीनता उसके विकास में बाधक न बने। संविधान में बच्चों के कल्याण के लिए विशेष प्रबन्ध का प्रावधान है और १४ वर्ष

से कम आयु वाले बच्चों को खानों, फैक्टरियों और दूसरे जोखिमपूर्ण कामों में लगाना निषिद्ध है। इसके अतिरिक्त १४ वर्ष तक के बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य बनाने की भी व्यवस्था है। राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त के अनुसार बच्चों की अल्पायु के दुरुपयोग, शोषण और उनके नैतिक अथवा आर्थिक पतन को रोकना भी सरकार का प्रमुख कर्त्तव्य है।

बच्चों की सुरक्षा के लिए मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मैसूर, बंगाल आदि राज्यों में विशेष अधिनियम बनाये गये हैं। इनके अन्तर्गत दो प्रमुख बातों को ध्यान में रखा गया है—छोटी और बड़ी अवस्था के बच्चों की सुरक्षा तथा अपराधी बच्चों की जांच, सजा और सुव्यवस्था। अपराधी बच्चों के मुकदमे सुनने और उनको दण्ड देने के लिए विशेष न्यायालय की व्यवस्था हुई है, यद्यपि इसका प्रयोग व्यापक नहीं हो सका है। बच्चों के सुधार के लिए विशेष संस्थाएँ भी बनायी गयी हैं। अपराधी बच्चों के सुधार और देख-रेख के लिए विशेष योग्यता प्राप्त अधिकारी भी नियुक्त किये गये हैं। जिन बच्चों को सुधार-शिक्षालयों में नहीं रखा जाता, उन्हें इन अधिकारियों की देख-रेख में छोड़ दिया जाता है। बच्चों को अपराध का दण्ड सजा के रूप में नहीं दिया जाता बल्कि उन्हें सुधारने का प्रयास किया जाता है। सुधार-संस्थाओं में उन्हें दस्तकारियां और दूसरी शिक्षा सम्बन्धी बातें बतलायी जाती हैं। १८ वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर उन्हें स्वतन्त्र जीवन बिताने के लिए छोड़ दिया जाता है।

पन्द्रह वर्ष से ऊपर और २१ वर्ष तक के अपराधी युवकों और युवतियों को सामान्य जेलों में, प्रौढ़ अपराधियों के साथ नहीं रखा जाता। इनके लिए विशेष अधिनियम के अन्तर्गत उचित संस्थाओं की व्यवस्था विभिन्न राज्यों में की गयी है। इन संस्थाओं में उन्हें औद्योगिक और साधारण शिक्षा तथा कड़े अनुशासन द्वारा सुधारने की व्यवस्था की जाती है। आन्तरिक प्रबन्ध इस प्रकार रखते हैं कि ये अपने आप ही व्यवस्थित जीवन बिताने की ओर अग्रसर हों। अवधि बीतने पर ऐसा क्रम आ जाता है कि जिससे बिगड़े बच्चे सुधर कर ईमानदारी से नागरिक जीवन व्यतीत कर सकें।

बच्चों को तम्बाकू और नशीली चीजों के सेवन से रोकने के लिए पंजाब, बंगाल, आसाम, मध्यप्रदेश, मैसूर, राजस्थान आदि राज्यों में विशेष अधिनियम बनाये गये हैं जिनके अनुसार १६ वर्ष से कम आयुवाले बच्चों को इन पदार्थों का बेचना वर्जित है और बच्चों से इन चीजों को छीनने की भी व्यवस्था की गयी है।

बच्चों की शिक्षा और विकास का सर्वश्रेष्ठ स्थान परिवार है। माता-पिता बच्चों की आवश्यकताएँ समझें और उनके विकास के लिए समुचित क्षेत्र प्रस्तुत कर सकें, इसके लिए विशेष सुझावों, शिक्षा और सलाह का प्रसार किया जा रहा है। सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत बच्चों के सुधार के लिए ग्राम-सेविकाओं द्वारा प्रयत्न कराया जा रहा है और बच्चों के खेलने तथा शिक्षा पाने के लिए बाल-मण्डल स्थापित करने की व्यवस्था हो रही है।

बच्चों का शोषण रोकने के लिए यह प्रयास हो रहा है कि किसी भी फैक्टरी या कारोबार में उन्हें तब तक नियुक्त न किया जाय जब तक कि वे शिक्षा का प्रमाण-पत्र न दें। इससे उनकी अवस्था का प्रमाण मिलेगा और साथ ही शिक्षा संस्था में निश्चित समय तक पढ़ना अनिवार्य हो जायगा। विशेष उद्योगों जैसे दियासलाई बनाने, चाय बगान, अभ्रक की खानों, बीड़ी बनाने के कारखानों में बच्चों की नियुक्ति विशेष देखी जाती है। बीड़ी बनाने के कारोबार में तीन से पांच वर्ष के बच्चे भी संलग्न रहते हैं।[१] उन्हें छुटकारा दिलाने और प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कराने की ओर सरकार का ध्यान गया है।

सड़कों, स्टेशनों, भोजनालयों और सिनेमाघरों के आसपास निरर्थक घूमने वाले अथवा भीख मांगने वाले बच्चों को सरकारी देखरेख में लाने के लिए एक विशेष विधेयक श्रीमती सुषमा सेन द्वारा संसद के सम्मुख लाया गया है जिसके अनुसार इन आश्रयहीन बच्चों की सुव्यवस्था और शिक्षा का भार राज्य-सरकारों द्वारा उठाये जाने की मांग की गयी है[२]। जो माता-पिता असावधानीवश अपने बच्चों की देखरेख नहीं करते उनके विरुद्ध सरकारी कार्यवाही करने की भी मांग की गयी है।

ऐसे विधानों से समाज के बच्चों की समस्या हल करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। संविधान के अनुच्छेद ३९ के अनुसार सरकार बच्चों के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने में पूर्ण सतर्क है। इस प्रकार राष्ट्र की भावी प्रगति के आधार-स्तम्भ को सुदृढ़ बनाने के संगठित प्रयत्न हो रहे हैं।

१. "सोशल लेजिस्लेशन, इट्स रोल इन सोशल वेलफेयर", अध्याय २६, पृष्ठ-३३९।

२. पूर्वोक्त पुस्तक देखिए—पृष्ठ ३३९।

पंचम खण्ड

भिखमंगों और अपाहिजों की व्यवस्था

हमारे समाज पर एक बड़ा लांछन स्वस्थ और अपाहिज भिखमंगे हैं। जनता की धार्मिक प्रवृत्ति और दानप्रियता का लाभ उठाने के लिए कार्य करने की योग्यता रखने वाले भी भीख मांगने का अपमानजनक कार्य अपनी जीविका-उपार्जन के लिए अपना लेते हैं। तरह-तरह के बहाने बनाकर अथवा अपनी दयनीय स्थिति प्रकट कर ये भीख मांगते हैं। स्वेच्छा से भीख मांगने वालों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या ऐसे भिखमंगों की है जो विपन्नता अथवा कार्य करने की अशक्तता से बाध्य होकर दूसरों की कृपा और दानशीलता पर जीवित रहते हैं। अपंग और अपाहिज भिखमंगों में लाखों भयंकर कुष्ट रोग से पीड़ित रहते हैं जो समाज के विविध क्षेत्रों में रहते हुए भिक्षाटन के साथ अपने भयंकर रोग का प्रसार करते रहते हैं। इन भिखमंगों और अपाहिजों की व्यवस्था करना मानवता और राष्ट्रीयता की मर्यादा सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है। हमारे संविधान के अनुच्छेद ४१ के अनुसार ऐसे अपाहिजों और अपंगों को संरक्षण देना राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्त के अंतर्गत आ जाता है।

जान-बूझ कर भीख मांगने वालों को रोकने और विवशता की स्थिति में भिखमंगा बनने वालों की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्रता के पूर्व से ही प्रयास हो रहे हैं। भीख मांगना निषिद्ध करने के लिए कानून लगभग सभी राज्यों में बना दिये गये हैं। बंगाल में १९४३ में, बम्बई और मद्रास में १९४५ में, बिहार में १९५२ में इसके लिए विशेष कानून बनाये गये, जिसमें भिखमंगों को पकड़ कर या तो कार्य-शालाओं में रखे जाने की व्यवस्था की गयी है या विशेष गृहों में। बच्चों, स्त्रियों, रुग्णों सभी प्रकार के भिखमंगों को सड़कों, गलियों और दूसरे सार्वजनिक स्थानों से हटा कर इन दरिद्र-सुरक्षा-गृहों में रखे जाने की व्यवस्था है। लेकिन इन गृहों की संख्या सीमित होने से अभी तक व्यापक प्रगति नहीं हो सकी है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हैदराबाद आदि में म्युनिसिपिलटियों को भिखमंगी बन्द करने और दरिद्र-आश्रम कायम करने का भार सौंपा गया लेकिन आर्थिक अभाव के कारण इस ओर विशेष प्रगति नहीं हो सकी है।

कुष्ट रोग से पीड़ित भिखमंगों को समाज से अलग रखने और उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करने के लिए मद्रास, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और बिहार में विशेष प्रयत्न हुए हैं। उत्तर प्रदेश में भिखमंगों की समस्या का हल निकालने का प्रारम्भ, कुष्ट-रोग-पीड़ितों की व्यवस्था से ही प्रारम्भ किया गया है।

इस ओर रेलवे प्रशासन की ओर से भी प्रयास हो रहे हैं और गाड़ियों, प्लेट-फार्मों तथा प्रतीक्षालयों में भिक्षा मांगना पूर्णतः वर्जित कर दिया गया है। इन प्रयत्नों से भिखमंगी का दोष धीरे-धीरे मिटाया जा रहा है। देश की आर्थिक उन्नति तथा रोजगार का क्षेत्र विस्तृत होने पर अखिल भारत में सभी प्रकार के भिखमंगों को आश्रय देने और उन्हें भिखमंगी के अपमानपूर्ण कार्य से बचाने की व्यवस्था सुलभ हो सकेगी।

अपराधी लोगों की सुव्यवस्था

स्वतन्त्रता के पश्चात से अपराधियों के साथ जेलों में किये जाने वाले व्यवहार में बहुत अन्तर आ गया है। अपराध के अनुरूप दण्ड देने और समाज को अपराधियों से सुरक्षित रखने के पुराने सिद्धान्तों को हटा कर अपराधियों की मनोवृत्ति बदलने और उन्हें समाज में शान्ति और सहयोगपूर्ण जीवन बिताने की शिक्षा देने का क्रम जेलों में अपनाया जा रहा है। सभी राज्यों के जेलों में सुधार लाने और पुराने कठोर दण्डों को हटाने का प्रयास हो रहा है। सन् १९१९-२० की जेल रिफार्म कमिटी के उन बहुत से सुझावों को जिन्हें ब्रिटिश शासन काल में कार्यान्वित नहीं किया जा सका था, अब लगभग तीन दशक पश्चात क्रियात्मक रूप दिया जा रहा है। कैदियों के भोजन, चिकित्सा, सफाई, शिक्षा आदि पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। उनके मनोरंजन और मिलने-जुलने की सुविधाएँ बढ़ायी जा रही हैं। संयुक्त राष्ट्र के अभियोग-विशेषज्ञ डा० वाल्टर सी० रेकलेस को भारतीय जेलों के प्रशासन का अध्ययन करने और उसमें सुधार लाने के लिए सुझाव देने के लिए भारत-सरकार द्वारा आमन्त्रित किया गया था। उनके प्रमुख सुझावों को कार्यान्वित करने का प्रयास भी हो रहा है। उनके ये सुझाव कि जेल-कर्मचारी बंदियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखें, उन्हें नियमों की पाबन्दियों को समझायें, उनकी मनोवृत्तियों को विशेष व्यवहारों, प्रोत्साहनों, सुझावों तथा उनके मित्रों और सम्बन्धियों से बातचीत करें और समय पर उनको छुड़ाने की व्यवस्था करें—व्यवहार में लाये जा रहे हैं।

विभिन्न राज्यों के जेल-प्रशासन में सुधार लाने के लिए जेल सुधार समितियाँ बनायी गयी हैं। बम्बई, पश्चिमी बंगाल और उत्तर प्रदेश में कैदियों के रहन-सहन

और उनके प्रशासन में अभूतपूर्व परिवर्तन लाये गये हैं। कारागार में पूर्ण बन्दी रखना, कोड़े लगाना समाप्तप्राय हो चुके हैं। रेडियो, जलपानगृह, खेल और चित्र-प्रदर्शन की विशेष सुविधाएं भी दी जा रही हैं। कैदियों को अपनी व्यवस्था स्वयं देखने का स्वातंत्र्य पंचायत पद्धति के रूप में मिला है। जेलों में कैदियों द्वारा किये जाने वाले कार्यों के लिए पारिश्रमिक भी दिया जाता है।[1]

उत्तरप्रदेश में जेल-प्रशासन के अन्तर्गत अपूर्व प्रयोग हो रहे हैं। लखनऊ में एक आदर्श कारागार खोला गया है। यहां के पहले के गृहमन्त्री माननीय डा० सम्पूर्णानन्द जी (अब मुख्य मन्त्री) के प्रयास से कैदियों को जेल से बाहर लाकर समाज निर्माण-कार्य में प्रत्यक्ष भाग लेने का अवसर भी दिया जा रहा है। बनारस जिले में चकिया के पास चन्द्रप्रभा बांध बनाने के लिए कैदियों का एक बड़ा जत्था (लगभग २००० कैदी) खुले तम्बुओं में सामान्य जेल संरक्षकों की देखरेख में रखा गया है। ये कैदी पारस्परिक सहयोग से अपनी व्यवस्था स्वयं देखते हैं और स्वतन्त्र श्रमिकों के साथ साथ निर्माण-कार्य करते हैं। इनको साधारण श्रमिकों की भांति ही पारिश्रमिक दिया जाता है। कुछ हिस्सा उन्हें खाने-पीने को दे दिया जाता है और शेष उनकी बचत के रूप में रख लिया जाता है जो मुक्त होने पर मिलता है।

यह प्रयोग कैदियों में स्वतन्त्र नागरिक की कर्त्तव्य-भावना जगाने और उनकी मनोवृत्तियों को बदलने की विधियों में अपूर्व स्थान रखता है। दूसरे राज्यों और क्षेत्रों में भी कैदियों को समाज के निर्माण कार्यों में लगाने के इस क्रम का अनुकरण किया जायगा इससे उन्हें बदलने और नया समाज बनाने में पर्याप्त योग मिल सकेगा।

अपराधियों को समाज से सदा के लिए बहिष्कृत न करने और उनमें सुधार लाकर समाज की प्रगति में सहयोगी बनाने के हमारे प्रयास विश्व में अद्वितीय हैं। इन प्रयोगों और प्रयत्नों में हमारे चिरवन्द्य बापू की आत्मा झलकती है, जिनका यह मत था कि अपराध अपराध के आनन्द के लिए नहीं किया जाता बल्कि यह किसी मानसिक विकृति या असाध्य परिस्थिति का द्योतक है। इनके कारणों, परिस्थितियों की विवशता और मानसिक विकास की पर्याप्त छानबीन होनी चाहिए। महात्मा गांधी के ही शब्दों में—हमारे जेल अपराधियों के इलाज और सुधार

१. देखिए [illegible] [illegible] [illegible] पूर्वोक्त पुस्तक—पृष्ठ २९६

के अस्पताल बना दिये जाने चाहिए। जेल के कर्मचारी चिकित्सक बनें और बन्दी यह समझने लगें कि वे (कर्मचारी) उनके मित्र हैं।

बापू के इन्हीं आदर्शों के आधार पर नवराष्ट्र निर्माण के अन्तर्गत बन्दियों की अपराधी मनोवृत्ति बदलने और उन्हें मर्यादापूर्ण नागरिक बनाने के प्रयास देश के विभिन्न राज्यों में प्रारम्भ किये गये हैं।

अगले अध्याय में हमारे समाज के अन्य दलित और अविकसित वर्गों को समुन्नत बनाने के क्रमों का विश्लेषण किया गया है।

ग्यारहवाँ अध्याय

सामाजिक पुनर्गठन : द्वितीय

अछूतोद्धार

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी छुआछूत को हिन्दू धर्म और भारत समाज पर कलंक का टीका मानते थे। उनके अनुसार स्वराज्य का वास्तविक स्वरूप तब तक प्रकट नहीं हो सकता था जब तक कि समाज के मल को स्वच्छ करने वाली करोड़ों जनता के प्रति होने वाले अमानुषिक व्यवहार को बदला नहीं जाता और उन्हें समाज के अन्य वर्गों के समान जीवन बिताने का अवसर नहीं दिया जाता। महात्मा जी अपने जीवन काल में लगातार अछूत और दलित जातियों के उत्थान में लगे रहे। स्वतन्त्रता के पूर्व ही अछूतोद्धार आन्दोलनों को चलाकर और सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर इन जातियों को आगे बढ़ने के विशेष प्रोत्साहन दिये जाने लगे थे। स्वतन्त्रता के पश्चात से भारत-सरकार इन्हें आगे बढ़ाने का समुचित प्रयास कर रही है।

हमारे संविधान में इन ५ करोड़ अनुसूचित जातियों को विकसित बनाने और अन्य वर्गों के समकक्ष होने के लिए निम्नलिखित प्रमुख व्यवस्थाएँ की गयी हैं :—

(१) अस्पृश्यता का पूर्ण परित्याग;

(२) दूकानों, भोजनालयों, सार्वजनिक आमोद-प्रमोद-स्थलों, सार्वजनिक कुओं, तालाबों, सड़कों आदि पर स्वतन्त्र प्रवेश ;

(३) सरकारी नौकरियों में समानता—प्रारम्भिक दस वर्षों तक कुल नियुक्तियों का निश्चित प्रतिशत इनके लिए सुरक्षित ;

(४) कोई भी पेशा, व्यवसाय या कार्य करने का अधिकार ;

(५) सरकार द्वारा चलाये जाने वाले अथवा सरकार से सहायता प्राप्त संस्थाओं में इनके बच्चों की भर्ती की स्वतन्त्रता ;

(६) संसद और राज्य-विधान मण्डलों में इनके लिए विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था ;

(७) इनकी शिक्षा और आर्थिक उन्नति के लिए विशेष सहयोग।

प्रथम पंचवर्षीय आयोजन रिपोर्ट में भी यह स्पष्टतः व्यक्त किया गया था कि सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए चलायी जाने वाली आर्थिक विकास योजनाएं इन वर्गों को विशेष लाभ नहीं पहुँचा सकतीं जब तक कि इन्हें समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष शीघ्र ही नहीं बना दिया जाता। इनके विकास के लिए ऐसे विशेष क्रम अपनाने हैं जिनसे इनका जीवनस्तर उठाया जा सके और इन्हें शिक्षा और नयी विधियों को सीखने का विशेष अवसर मिल सके।

इन दलित और पिछड़ी जातियों को अस्पृश्य समझना रोकने के लिए भारत सरकार ने दो मार्ग अपनाये हैं:—वैधानिक नियम और प्रचार।

अस्पृश्यता अधिनियम (१९५५)

इस अधिनियम को बनाकर भारत भर में अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया है। पहली जून १९५५ को इसे लागू किया गया। इसके अनुसार यदि कोई भी व्यक्ति किसी को अस्पृश्यता के आधार पर किसी सार्वजनिक पूजा के स्थान पर जाने या वहाँ पूजा करने या किसी कुएँ, तालाब, या झरने से जल लेने से रोकता है तो उसे दण्ड का भागी होना पड़ेगा। इसी प्रकार सार्वजनिक चिकित्सालय, भोजनालय, शिक्षा-संस्था, सार्वजनिक आमोद-प्रमोद-स्थल, दूकान में जाना निषिद्ध करना अथवा किसी सार्वजनिक सड़क, नदी, कुआँ, तालाब, नल, स्नानघाट, शवसंस्कार-स्थल, सार्वजनिक विश्रामगृह अथवा उनमें रखे गये बर्तनों का प्रयोग वर्जित करना दण्डनीय अपराध है। किसी व्यवसाय पर छुआछूत के आधार पर प्रतिबन्ध लगाना अथवा किसी धर्मार्थ ट्रस्ट से मिलने वाली सुविधा के उपयोग करने, किसी निवासगृह को बनाने अथवा उसमें रहने या किसी धार्मिक या सामाजिक प्रथा को मानने से रोकना अधिनियम द्वारा निषिद्ध है।

अधिनियम के अनुसार वह व्यक्ति भी दण्डनीय है जो कि किसी को हरिजन के नाते सामान बेचने अथवा किसी प्रकार की सेवा करने से इनकार कर देता है। अस्पृश्यता-निवारण के पश्चात मिलने वाले अधिकार का यदि कोई व्यक्ति उपयोग करता है और उसे इसके लिए जो भी व्यक्ति कष्ट देता है अथवा हानि पहुँचाता है या जाति से बहिष्कृत करने में हिस्सा लेता है तो वह दण्डनीय है।

अधिनियम में अस्पृश्यता सम्बन्धी उपर्युक्त अपराधों को करने वाले ही दण्डनीय नहीं हैं अपितु जो लोग ऐसा करने का बढ़ावा देते हैं उन्हें भी दण्ड का भागी होना पड़ता है। इस अधिनियम के बन जाने से दलित जातियों को अन्य उच्च

जातियों के समान बनने का वैधानिक अधिकार सुलभ हो सका है। इससे अस्पृश्यता के कट्टरपन्थियों को छुआछूत के भेद-भाव बढ़ाने से रोका जा सकेगा।

प्रचार-कार्य

लेकिन अधिनियम के साथ ही जन-साधारण की इस ओर मनोवृत्ति बदलने का भी प्रयास किया जा रहा है। सन् १९५४ से 'अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन' देश भर में संगठित रूप में चलाया जा रहा है। इसके लिए सरकारी और गैर-सरकारी दोनों साधनों का प्रयोग किया जाता है। हर राज्य की सरकारों ने अपने जिला कर्मचारियों को यह आदेश दिया है कि वे जनता में से अस्पृश्यता की भावना मिटाने का यत्न करें। हिन्दू समाज से इस दोष को मिटाने के लिए लगभग सभी राज्यों में "हरिजन-दिवस" और "हरिजन-सप्ताह" मनाने का आयोजन समय-समय पर किया जाता है। अनुसूचित जातियों और अन्य जातियों में सहयोग रखने के लिए जिला सलाहकारिणी समितियाँ बनायी गयी हैं। इसके लिए नाना प्रकार के साहित्य, हिन्दी, अंग्रेजी और अन्य स्थानीय भाषाओं में तैयार कर प्रसारित और वितरित किये जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इस विचार को प्रसारित करने के लिए चित्र, आदि भी प्रदर्शित किये जाते हैं।

अस्पृश्यता निवारण के लिए विशेष जन-संस्था से भी सहयोग लिया जा रहा है। इनमें हरिजनसेवक-संघ, भारतीय डिप्रेस्ड क्लासेज लीग, हरिजन आश्रम के योग उल्लेख्य हैं। इन संस्थाओं को अस्पृश्यता-निवारण के लिए प्रथम आयोजन काल में ६१,५०,७४६ रुपये आर्थिक सहयोग दिया गया था। दूसरे आयोजन काल में इस कार्य के लिए ७२ लाख रुपये की व्यवस्था की गयी है। इसमें से २५ लाख रुपये फिल्मों, रेडियो और समाचार पत्रों द्वारा प्रचार पर व्यय किया जायगा।

अस्पृश्यता के अतिरिक्त पिछड़ी और दलित जातियों के आर्थिक उत्थान के लिए भी विशेष प्रयास किये जा रहे हैं। उनमें शिक्षाप्रसार के लिए प्रौढ़ पाठशालाएं, उनके बच्चों के लिए छात्रवृत्तियाँ और अन्य शिक्षा सम्बन्धी सहायता दी जा रही है। प्रथम आयोजन काल में अनुसूचित जातियों की शिक्षा के लिए ९ करोड़ २० लाख ८१ हजार रुपये व्यय किये गये। इसके अतिरिक्त ३६९५५ हरिजन विद्यार्थियों और २७२७५ अन्य पिछड़े वर्ग के विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ दी गयीं। इनके निवासस्थान की व्यवस्था के लिए इस अवधि में ३१००० घरों को बनाया गया। शुद्ध पानी की सुविधा देने के लिए अनुसूचित जातियों के क्षेत्र में ४,५०० कुएँ भी बनाये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन काल में अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए २७·५ करोड़ रुपये और पिछड़ी जातियों के लिए ९·७ करोड़ रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया है। कल्याण-कार्यों में शिक्षा और संस्कृति का विकास, आर्थिक उन्नति, स्वास्थ्य-रक्षा तथा गृह और कूप-निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जायगा। इनके लिए लगभग ६००० पाठशालाएं और छात्रावास बनाये जायंगे तथा ३० लाख विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ दी जायँगी।

इन विकास कार्यों और वैधानिक प्रयत्नों द्वारा भारत-सरकार हमारे समाज के एक बड़े खण्ड को मानवोचित जीवन बिताने का शुअवसर दे रही है। संकीर्ण और अमानुषिक प्रथाओं के दुःखद जाल से इन्हें मुक्त कराकर स्वतन्त्र देश में स्वतन्त्र जीवन बिताने का क्षेत्र सुलभ किया जा रहा है। इन परिवर्तनों से महात्मा गांधी के आदर्श हिन्दू-समाज का निर्माण धीरे-धीरे सम्भव हो रहा है।

द्वितीय खण्ड

अनुसूचित जन-जातियाँ

हमारे देश में अनुसूचित जातियों के अतिरिक्त एक और बहुत पिछड़ा वर्ग अनुसूचित जन-जातियों का है जो आधुनिक विकसित समाज से दूर देश के जंगली और अविकसित क्षेत्रों में रहता है। इनकी संख्या लगभग २$\frac{1}{2}$ करोड़ आंकी जाती है। *अन्य क्षेत्रों में विकास लाकर इन्हें विलग अर्द्ध-विकसित अवस्था में छोड़ना* न्यायोचित नहीं है। जैसा कि प्रथम अध्याय में बतलाया गया है इनका पूर्ण लोप करना भी हमारी संस्कृति और आदर्शों के अनुरूप नहीं है। उनका आर्थिक और मानसिक विकास करके उन्हें समुन्नत समाज में मिलाना हमारी सरकार का मुख्य उद्देश्य है। हमारे संविधान में भी उनके विकास और उन्नति के लिए अनुसूचित जातियों वाले प्राविधान लागू होते हैं और साथ ही उनके प्रशासन के लिए विशेष नियम भी दिये गये हैं। इसकी पांचवीं अनुसूची के अनुसार जन-जाति-क्षेत्र रखने वाले राज्यों में तथा राष्ट्रपति के निर्देश के अनुसार जन-जातियाँ रखने वाले राज्यों में "जन-जाति सलाहकारिणी परिषदें" स्थापित करने की व्यवस्था भी हुई है। ये परिषदें जन-जातियों के कल्याण के सम्बन्ध में राज्यपाल को सलाह देती हैं। आंध्रप्रदेश, बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान और पश्चिमी बंगाल में ये परिषदें बनायी गयी ह। आसाम में जन-जातियों के प्रबन्ध के लिए क्षेत्रीय परिषद और ५ जिला परिषदें बनायी गयी हैं। प्रत्येक जिला परिषद में अधिक से अधिक २४ सदस्य होते हैं जिनमें तीन चौथाई बालिग मताधिकार से चुने जाते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है।

आसाम के उत्तरी-पूर्वी खण्ड में देश की सीमा के पास रहने वाली ८ लाख जन-जातियों के प्रशासन के लिए एक अलग क्षेत्र ही बना लिया गया है। इसमें बालीपारा, सरहद्दी हिस्सा, तिरपसरहद्दी हिस्सा, अबोर पहाड़ियों का जिला और मिसिमी पहाड़ियों का जिला सम्मिलित हैं। इसमें संगठित प्रशासन लाने के लिए भारतीय सरहद्दी प्रशासन सेवा का प्रारम्भ किया गया है।

जन-जातियों के विकास के क्रम में शिक्षा-प्रसार और आर्थिक उन्नति के साथ परिवहन के साधनों में वृद्धि को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। इससे जन-जातियों और साधारण समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ाने में पर्याप्त सुविधा हो सकेगी।

प्रथम आयोजन-काल में विकास-कार्य

प्रथम आयोजन-काल में अनुसूचित जन-जातियों में शिक्षा-सम्बन्धी विकास लाने के लिए ४००० पाठशालाएं खोली गयी हैं। इनमें १००० आश्रम और सेवाश्रम थे। कुल लगभग ४½ लाख बच्चों को पुस्तकें खरीदने, फीस देने के लिए और वजीफे के रूप में भी आर्थिक सहायता दी गयी। सन् १९५५-५६ में ही १·२८ करोड़ रुपये इनकी शिक्षा पर व्यय हुए थे। जन-जातियों को उनकी शिक्षा स्थानीय मातृभाषा में देने का प्रयास किया जा रहा है। इसके लिए आसाम, बिहार, हैदराबाद और उत्तरी-पूर्वी सरहद्दी क्षेत्र में स्थानीय भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकें तैयार करायी गयी हैं।

जन-जाति क्षेत्रों में परिवहन के साधनों को फैलाने के लिए पहाड़ी रास्ते और सड़कें भी बनवायी जा रही हैं। प्रथम आयोजन-काल में इसके लिए लगभग ६ करोड़ रुपये व्यय हुए और २३४० मील लम्बी सड़कें और मार्ग तैयार किये गये। सन् १९५५-५६ वर्ष में ही १४९७ मील लम्बी सड़कें इन क्षेत्रों में तैयार हुईं।

जन-जाति क्षेत्रों के अविकसित आर्थिक साधनों को समुन्नत बनाने पर भी ध्यान दिया जा रहा है। जंगलों से बाहरी ठीकेदारों और मध्यवर्ती लोगों को हटाने का प्रयास हो रहा है। जंगली श्रमिक समितियाँ बम्बई, आन्ध्र, मध्यप्रदेश, ट्रावनकोर-कोचीन (केरल) में बनायी गयी हैं। प्रथम आयोजन-काल में इनकी संख्या लगभग ६५३ रही। जंगली प्रदेशों में स्थायी खेती का प्रचार कम है। आसाम, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और आंध्र में चलताऊ खेती (शिफ्टिंग कल्टिवेशन) विशेष प्रचलित है। इस क्रम को मिटाने और स्थायी खेती का प्रचार बढ़ाने का प्रयास हो रहा है। जन-जातियों में खेती की नयी विधियों का प्रचार करने और उन्हें अपनी उपज बढ़ाने का प्रोत्साहन देने के लिए आसाम, मध्य प्रदेश तथा अन्य राज्यों में कृषि-प्रदर्शन केन्द्र और अन्य परियोजनाएं (पाइलट प्रोजेक्ट) चलायी जा रही हैं। सन् १९५५-५६ में ४८ ऐसे केन्द्र पहाड़ी इलाकों की जन-जातियों में कृषि के विकसित साधनों का प्रचार करने के लिए खोले गये। प्रथम आयोजन-काल में अनेक पहाड़ी क्षेत्रों में जन-जातियों को स्थायी रूप से निवास की सुविधा दी गयी। इससे लगभग ८००० परिवार लाभान्वित हुए। उड़ीसा बिहार और मध्यप्रदेश के जन-जाति

क्षेत्रों में इसी अवधि में लगभग ३५० अन्न-कोष और ३१० बहु-उपयोगी सहकारी समितियाँ खोली गयीं। बम्बई, हैदराबाद, आन्ध्र बिहार, और मध्यप्रदेश की स्थायी खेती करने वाली जन-जातियों में उपज बढ़ाने के लिए नये कृषि-औजारों, अच्छे बीजों और सुधरे नस्ल के पशुओं को भी वितरित किया गया है।

जन-जातियों की आर्थिक स्थिति सुधारने और उन्हें आय के नये साधन प्रस्तुत करने के लिए नये कुटीर-उद्योगों की शिक्षा दी जा रही है। प्रमुखतः मधुमक्खी पालने, भेड़ पालने, रेशम के कीड़े पालने, ताड़-गुड़ बनाने और बुनाई करने के काम सिखाये जा रहे हैं। सन् १९५५-५६ में ८०० जन-जाति के सदस्यों को ये नये कारोबार सिखाये गये। उनमें से ७५० को कारोबार प्रारम्भ करने के लिए आर्थिक सहायता भी दी गयी। कुटीर-उद्योग का प्रचार करने के लिए इन क्षेत्रों में ११० कुटीर-उद्योग-केन्द्र बनाये गये तथा घूम-घूम कर जन-जातियों को शिक्षा देने के लिए प्रशिक्षण और प्रदर्शन दल भी नियुक्त किये गये हैं।

स्वास्थ्य की दृष्टि से जन-जातियाँ प्रायः बहुत अविकसित हैं। महामारियों के प्रकोप से वे निराधार की मृत्यु मरते हैं। उन्हें चिकित्सा सम्बन्धी सुविधा देने के लिए प्रथम आयोजन-काल में ३२०० चिकित्सालय और चल-स्वास्थ्य केन्द्र, २५ मलेरिया निरोधक केन्द्र और २६ मातृ-शिशु-कल्याण केन्द्र इन क्षेत्रों में खोले गये। पीने के लिए शुद्ध पानी की व्यवस्था के लिए नये कुएँ बनवाये जा रहे हैं और उनके पुराने कुओं की मरम्मत हो रही है। सन् १९५५-५६ में ही ११०० नये कुएँ बने और १३४० कुओं की मरम्मत हुई।

जन-जातियों का सर्वतोमुखी विकास लाने के साधनों का अनुसन्धान करने के लिए विभिन्न राज्यों में अनुसन्धानशालाएं खोली गयी हैं। बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और पश्चिमी बंगाल में रिसर्च इन्स्टीच्यूट और राजस्थान तथा मध्य-प्रदेश में ट्राइबल ब्युरो खुले हैं। ये संस्थाएं जन-जातियों के सांस्कृतिक उत्सवों को भी प्रोत्साहित करती हैं और उनमें चलचित्रों, स्लाइडों द्वारा नयी बातों का प्रचार करती हैं। राज्यों में स्थापित कल्याण विभाग भी जन-जातियों के सुधार सम्बन्धी व्यवस्थाओं पर राज्य-सरकार को सलाह देते हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में व्यवस्था

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजन-काल में जन-जातियों के विकास के लिए ४७ करोड़ रुपये व्यय करने का निश्चय है। इसे जन-जाति क्षेत्रों में परिवहन का साधन बढ़ाने, उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रचार करने और उनका आर्थिक और स्वास्थ्य

सम्बन्धी विकास लाने के कार्यक्रमों पर खर्च किया जायगा। लगभग ३१८७ पाठशालाओं और छात्रावासों तथा २०० सामुदायिक और सांस्कृतिक केन्द्रों को इस आयोजन-काल में खोले जाने का प्रबन्ध है। ३ लाख जन-जाति विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति और अन्य आर्थिक सहयोग दिये जायंगे। जन-जाति क्षेत्रों में लगभग १०,७०० मील लम्बी सड़कें और ४५० पुल राज्य सरकार द्वारा बनाये जायंगे। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार मोटर चलने योग्य ४५० मील लम्बी सड़कें और ७७० मील लम्बे पहाड़ी मार्ग लगभग ४ करोड़ रुपये के व्यय से बनायेगी। चिकित्सा के साधनों में भी प्रसार लाया जायगा और पीने के पानी की व्यवस्था के लिए ४१,००० कुएँ और २ जलाशय बनाने का निश्चय है। इनके अतिरिक्त लगभग १२००० जन-जाति परिवारों को १८६ क्षेत्रों में बसाया जायगा। इनके लिए ४५,८०० घरों का निर्माण होगा।

इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि द्वितीय आयोजन-काल में प्रथम आयोजन के ढांचे पर ही अधिक व्यापक ढंग से विकास कार्य किया जायगा।

तृतीय खण्ड
अपराधशील जन-जातियाँ

भारत की अपराधशील जन-जातियों को सन् १९५२ के पूर्व अनेक कानूनी प्रतिबन्धों और देखरेख में रखा जाता था ताकि वे सामान्य समाज में कम से कम अहितकर हो सकें। सन् १९५२ में उन्हें उन प्रतिबन्धों और सीमाओं से स्वतन्त्र कर दिया गया। लेकिन इतने मात्र से इनका विकास और स्वतन्त्र जीवन चल सकना सम्भव नहीं था। लगभग ४० लाख ऐसी जन-जातियों को जीविका के उचित साधनों के साथ पुनर्वासित करना था तथा उनके बच्चों में उचित शिक्षा की व्यवस्था करनी थी जिससे वे चोरी और दूसरे अपराधपूर्ण कुकृत्यों से बचाये जा सकें।

प्रथम आयोजन-काल में लगभग १ करोड़ रुपये इनकी आर्थिक व्यवस्था में सुधार (कृषि कुटीर उद्योग का साधन सुलभ कर), शिक्षा, चिकित्सा और पुनर्वास आदि में व्यय किये गये। १७ बन्दोबस्तों और ३० पुनर्वास क्षेत्रों में इनके २६०० से अधिक परिवारों को स्थायी जीविका दी गयी। उनकी सहायता के लिए ११२ सहकारी समितियाँ और नये कारबार सिखलाने के लिए ३३७ औद्योगिक केन्द्र खोले गये। उनके बच्चों की शिक्षा के लिए २९० शिक्षा संस्थाएं और महिलाओं के कल्याण के लिए ४४ महिला कल्याण केन्द्र खोले गये।

द्वितीय आयोजन-काल में इनके सर्वतोमुखी विकास के लिए ४ करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था है। इस अवधि में इनके १५२४६ परिवारों के पुनर्वास का प्रबन्ध होगा।

इन कल्याण-कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी प्रयत्न

इन प्रयत्नों से भारत-सरकार समाज के पिछड़े और हेय वर्गों को आगे बढ़ने और मर्यादापूर्ण जीवन बिता सकने का क्षेत्र सुलभ कर रही है। इन वर्गों के लिए केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार द्वारा संचालित विकास योजनाओं की प्रगति का अध्ययन करने के लिए एक विशेष संगठन बनाने पर विचार किया जा रहा है। इसमें एक प्रमुख अधिकारी और १६ सहायक आयुक्त रहेंगे। प्रत्येक राज्य में एक सहायक आयुक्त होगा। यह संगठन सरकार को विभिन्न राज्यों में चलने

वाले कल्याण कार्यों की प्रगति की सूचना देगा और उनके सम्मुख आने वाली बाधाओं को दूर करने का सुझाव बतलायेगा।

इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद ३३८ के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा एक विशेष अधिकारी ऐसा नियुक्त किया गया है जो देश के विभिन्न हिस्सों में पिछड़े वर्गों के लिए संविधान में दी गयी सुरक्षाओं और अधिकारों की छानबीन करता रहता है और विभिन्न क्षेत्रों में इसकी प्रगति की सूचना राष्ट्रपति को देता है। गत वर्ष तक इस सम्बन्ध की पांच रिपोर्टें इस अधिकारी द्वारा प्रस्तुत की जा चुकी हैं। इसकी सहायता के लिए सात सहायक आयुक्त नियुक्त किये गये हैं। इनका क्षेत्र निम्नांकित है :—

(१) आसाम, मनीपुर और त्रिपुरा ;
(२) बिहार और पश्चिमी बंगाल ;
(३) बम्बई और राजस्थान ;
(४) मध्यप्रदेश ;
(५) मद्रास, मैसूर, केरल ;
(६) आन्ध्रप्रदेश, उड़ीसा ;
(७) पंजाब, उत्तर प्रदेश, हिमांचल प्रदेश और दिल्ली।

संसद के सदस्यों और जनकार्यकर्त्ताओं को जन-जाति क्षेत्रों के विकास से परिचित कराने और जन-जाति और अनुसूचित जातियों की स्थिति बतलाने के लिए केन्द्र में दो सलाहकारी मण्डल बनाये गये हैं—एक जन-जातियों के कल्याण के लिए और दूसरा हरिजनों के कल्याण के लिए। ये मण्डल सरकार को इन वर्गों से सम्बन्धित कल्याण कार्यों पर सलाह दिया करते हैं। इसके अतिरिक्त उन वर्गों की आवश्यकताएं समझते रहना, उनके कल्याण के लिए नयी योजनाएं बनाना तथा चलती हुई योजनाओं का इन वर्गों पर पड़ने वाले प्रभाव को आंकते रहना भी इन्हीं मण्डलों का कार्य है।

केन्द्र में इन मण्डलों को स्थापित करने का सुझाव पिछड़ी जातियों से सम्बन्धित आयोग ने १९५५ में प्रकाशित रिपोर्ट में दिया था। इस आयोग की नियुक्ति भारत-सरकार द्वारा निम्नांकित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए १९५२ में हुई थी। काका कालेलकर इसके अध्यक्ष थे।

(१) पिछड़े वर्गों की कठिनाइयाँ और उन्हें दूर करने के उपाय ;
(२) किसी वर्ग को सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा हुआ समझने के समुचित आधार का निश्चय ;

(३) पिछड़े वर्गों की नयी सूची का निश्चय ;—प्रत्येक वर्ग की अनुमानित संख्या और उनके क्षेत्र।

आयोग ने इन सभी उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर निम्नांकित सुझाव दिये थे :—

(१) किसी भी वर्ग को पिछड़ा या विकसित समझने के लिए उसमें शिक्षा की प्रगति और नौकरियों में उनके स्थान पर दृष्टि रखनी चाहिए। किसी वर्ग का मनुष्य अपनी जाति के आधार पर समाज में जिस स्तर में रखा जाय वही उसके पिछड़ेपन या प्रगति का मापदण्ड है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार आयोग ने २३९९ जातियों की सूची तैयार की थी जिसमें से केवल ९१३ की संख्या ११·५१ करोड़ के लगभग आती है।

(२) पिछड़ी जातियों के सुधार के लिए एक मंत्रणालय बनाया जाय और केन्द्र तथा राज्यों में सलाहकारी मण्डल स्थापित किये जायं।

(३) इन वर्गों को नौकरियों में विशेष स्थान सुरक्षित रहें तथा उनके सामाजिक, आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये जायं।

(४) उनके स्वास्थ्य-सुधार और आवासों की समुचित व्यवस्था पर भी विशेष ध्यान दिया जाय। पिछड़े क्षेत्रों को विकसित क्षेत्रों से मिलाने के लिए परिवहन के साधनों में पर्याप्त वृद्धि हो।

(५) प्रस्तुत अनुसूचित जातियों और जन-जातियों की सूची में संशोधन किया जाय।

जैसा कि विभिन्न पिछड़े वर्गों के सम्बन्ध में किये गये पिछले विकास सम्बन्धी प्रयत्नों और द्वितीय आयोजन-काल के निर्धारित क्रमों को देखने से स्पष्ट है, भारत-सरकार आयोग के अधिकांश सुझावों को कार्यान्वित कर रही है। केवल पिछड़े वर्ग निश्चित करने का सिद्धान्त सरकार को व्यावहारिक नहीं जान पड़ा। इसके लिए प्रत्येक राज्य को इस सम्बन्ध में पुनः छानबीन करने का भार सौंपा गया है। लेकिन इस छानबीन से प्रस्तुत कार्यक्रमों में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं आने दिया गया है। पुरानी सूची के अनुसार सहायता और विकास के कार्य चलाये जा रहे हैं। संविधान के १६४ अनुच्छेद के अनुसार बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए एक मन्त्री के अन्तर्गत कल्याण विभाग तो कार्य कर ही रहा है, आंध्रप्रदेश, बम्बई, केरल, मद्रास, मैसूर, पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल, हिमाचलप्रदेश, मनीपुर और त्रिपुरा में भी इस विभाग की व्यवस्था की गयी है। इससे पिछड़े वर्गों की समस्याओं और उनके समाधान को सभी प्रकार की प्रमुखता दी जा रही है।

भारत-सरकार की यह सतर्कता और सर्वतोमुखी विकास के ये प्रयत्न हमारे

समाज के परम्परागत प्रतिरोधों को दूर करने और सभी नागरिकों को इसमें पूर्ण स्वातन्त्र्य का अनुभव कराने में अपूर्व योग दे रहे हैं। दोषपूर्ण प्रथाएं और रूढ़ियाँ जिनके भार से विशेष वर्ग शोषित होते जाते थे, विधानों और शिक्षा प्रसार द्वारा मिटायी जा रही हैं। अब भारत समाज में किसी वर्ग-विशेष अथवा स्थान-विशेष में जन्म लेने मात्र से ही किसी नागरिक को अपने मौलिक अधिकारों से वंचित नहीं रखा जा सकता। कल्याण-राज्य में वर्गविहीन समाज की जो कल्पना हमारे नेता वर्षों से करते आ रहे थे उसी का व्यावहारिक रूप बड़ी शान्ति और दृढ़ता से प्रकट होता आ रहा है। भारत के इतिहास में हिन्दू समाज की जड़ता के लोप का यह क्रम हजारों वर्ष बाद सम्भव हो सका है। इसी का प्रादुर्भाव ही स्वतन्त्र नव-भारत की आधार-शिला है जिस पर बढ़ता हुआ हमारा देश अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

बारहवाँ अध्याय

उपसंहार

पिछले अध्यायों में दिये विवरणों से यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के पश्चात वाले प्रथम दस वर्ष भारत के इतिहास में अपूर्व महत्त्व का स्थान रखते हैं। देश के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में क्रान्तिपूर्ण परिवर्तनों का ऐसा संगठित रूप अन्य किसी नव-राष्ट्र के सम्बन्ध में मिलना दुर्लभ है। नवराष्ट्र-निर्माण के प्रयत्न तीन सबल आधार-स्तम्भों—जनता, जननेता और राज्य-कर्मचारी पर प्रसारित हो रहे हैं। इनका प्रभाव क्रान्तिपूर्ण हिंसात्मक पद्धतियों की तुलना में किसी भी प्रकार कम गम्भीर अथवा कम व्यापक नहीं रहा है।

राजनैतिक क्षेत्र की प्रगतियों में शीघ्रातिशीघ्र संविधान की रचना और उसका सफल प्रयोग, स्वतन्त्रता के प्रथम दस वर्षों के भीतर ही बालिग मताधिकार के आधार पर सामान्य निर्वाचन का दो बार सफल संपादन उल्लेखनीय कृतियाँ रही हैं। भारत के साथ ही स्वतन्त्र हुए कुछ अन्य देशों में न तो संविधान की उपयुक्त रचना ही हो सकी और न बालिग मताधिकार के आधार पर शासन-निर्माण में अपना मत प्रकट करने का अवसर ही उनकी जनता को प्राप्त हो सका है। लेकिन हमारे देश के जननेताओं के प्रयास तथा राज्य-कर्मचारियों के सहयोग से विशिष्ट संविधान की रचना स्वतन्त्रता के प्रथम तीन वर्षों में ही सम्भव हो सकी।

विश्व के सभी प्रमुख संविधानों के उत्कृष्ट सिद्धान्तों का सामंजस्य इसमें हुआ है। इसकी गठन संघात्मक, पर प्रकृति केन्द्रात्मक है। इससे पूरे देश की एकता संगठित रखने में बड़ी सरलता हो रही है। संविधान के अन्तर्गत नागरिकों के मौलिक अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या सफल लोकतन्त्र का आधार प्रस्तुत करती है। राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तों का क्रमबद्ध विवरण और उनके प्रयोग के सम्बन्ध में किये गये भारत-सरकार के प्रयास लोकतन्त्र के सफल व्यवहार के साक्षी हैं। केन्द्र और राज्य के प्रशासन-क्रम की व्याख्या, उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण और सम्पूर्ण भारतीय समाज को प्रगति के पथ पर स्थिर रखने में योग देने वाले विविध प्रावधान जिनकी व्याख्या संविधान में हुई है—भारतीय

नागरिकों को लोकतंत्र का व्यावहारिक रूप समझने और उसका अनुसरण करने का अपूर्व अवसर प्रदान करते हैं।

भारतीय जनता को देश के शासन में आत्मीयता का अनुभव कराने वाले चुनाव, लोकतन्त्र का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करते हैं। इन चुनाव को सफलतापूर्वक चलाने में यहां की जनता की सहयोग-भावना तो प्रमुख रही ही है, यहां के विविध राजनैतिक दलों के नेताओं का सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उग्र साम्यवादी दलों का सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार और उनके द्वारा चुनाव की मर्यादा की सुरक्षा इस सम्बन्ध में विशेषतः उल्लेखनीय है। चुनाव के सफल संचालन में राज्य-कर्मचारियों का भी कम योग नहीं रहा है। इसको निष्पक्ष रखने और शान्तिपूर्ण ढंग से चलाने में राज्य-कर्मचारियों की सतर्कता विशेष सराहनीय है। देश में प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियों का प्रसार संविधान और उसके व्यावहारिक रूप—चुनाव के व्यापक प्रयोग से सम्भव है, लेकिन उनकी स्थिरता सम्पूर्ण राष्ट्र को सुसंगठित रखे बिना कठिन है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय देश पाकिस्तान और भारत दो भागों में विभक्त होनेवाला तो था ही लेकिन इसके साथ ही देशी रियासतों की ऐसी विषम स्थिति थी जिसमें देश भर में फैली छोटी-बड़ी ५६५ रियासतों के पूर्ण स्वतन्त्र होने की भी सम्भावना थी। सम्पूर्ण राष्ट्र का अवैज्ञानिक आधार पर अनेक छोटे-बड़े खण्डों में विभक्त होना, आर्थिक और सामाजिक प्रगति को असम्भव बना देता। हमारे प्रमुख नेताओं, विशेषतः लौह-पुरुष सरदार पटेल के विवेक और साहस से स्वतन्त्रता मिलने के साथ ही देशी रियासतों को भारत में सम्मिलित किया जा सका। इस विषम परिस्थिति को संभालने में राज्य-कर्मचारियों, देशी शासकों और रियासतों की जनता से भी अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ। उन्हीं के सामूहिक प्रयास से नवजात भारत को छिन्न-भिन्न करने वाली रियासतों की विषम समस्या का सरल हल सुलभ हो सका। रियासतों का सफल विलयन ही स्वतन्त्र भारत के सुदृढ़ राजनैतिक भित्ति का अडिग आधार बन गया।

लेकिन रियासतों के विलयन ने भारत के राजनैतिक ढांचे को बहुत ही असन्तुलित बना दिया था। ब्रिटिश भारत के प्रान्तों का रूप पहले से ही असंगठित था। प्रशासनिक सुविधा को ही उनके निर्माण में विशेष महत्त्व दिया गया था। विभिन्न क्षेत्रों की सांस्कृतिक और भाषा सम्बन्धी एकता को ध्यान में नहीं रखा गया था। प्रशासनिक सुविधा के साथ इन तथ्यों पर दृष्टि रखना उपयुक्त प्रशासनिक इकाइयों के निर्माण के लिए आवश्यक था। [illegible] और उसके कार्यकर्ता बहुत पहले से ही समझते आ [illegible] बात इसको

सक्रिय रूप देना अनिवार्य था। लेकिन राष्ट्र की एकता, उसकी आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुव्यवस्था को भी किसी ओर से आंच नहीं आने देनी थी। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इस कठिन कार्य को जितनी शान्ति और सुगमता से पूरा किया वह विश्व के इतिहास में अपूर्व है। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में नासमझी के कारण संघर्ष उठे, लेकिन जन-नेताओं की कुशलता, राज्य-कर्मचारियों की सतर्कता और भारतीय जनता की सहिष्णुता से, परिस्थितियाँ बिगड़ने नहीं पायीं। यह विशद कार्य जिसके सम्पादन के विषय में ब्रिटिश सरकार सोचती ही रह गयी, स्वतन्त्रता मिलने के नौ वर्ष बाद ही सम्पूर्ण हो गया। इससे देशी रियासतें, जिनके विलयन से भारत संघ के विभिन्न क्षेत्रों में विविध रूपता आयी थी और राजनैतिक अधिकारों की असमानता उत्पन्न हुई थी, पूर्ण संवैधानिक रूप से भारत-संघ में सदैव के लिए विलीन हो गयी। देश के राजनैतिक मानचित्र बदलने वाला यह क्रान्तिपूर्ण प्रयास यहां की आर्थिक प्रगति को अवरुद्ध नहीं कर सका। आर्थिक प्रगति अपने निश्चित क्रम से होती रही और देश के सम्पूर्ण चित्र को बदलने वाली राजनैतिक क्रान्ति भी पूर्ण हो गयी। यह अद्भुत कृति भारतीय प्रशासन को संभालने और चलाने वाले जन-प्रतिनिधियों और राज्य-कर्मचारियों की कुशलता का द्योतक है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए संविधान, चुनावों की सुव्यवस्था और राजनैतिक सुदृढ़ता ही आवश्यक नहीं है, बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक असमानता मिटाना और सभी की सम्पन्नता बढ़ाना भी अनिवार्य है। इसके लिए निश्चित समय में देश के सभी क्षेत्रों को विकसित बनाना एकमात्र मार्ग है। संगठित आर्थिक आयोजनों के क्रम से उसकी भी उचित व्यवस्था भारत-सरकार द्वारा की जा रही है। इसके अन्तर्गत देश की प्राकृतिक और मानवीय शक्तियों का उच्चतम प्रयोग करने तथा उत्पादन और रोजगारी बढ़ाने के लिए संतुलित औद्योगीकरण को विशिष्ट स्थान दिया गया है। परम्परागत प्रथाओं को मिटा कर आधुनिक ढंग के प्राविधिक ज्ञान के प्रसार को भी उचित प्रश्रय दिया जा रहा है, ताकि विश्व के समुन्नत राष्ट्रों के समकक्ष भारतीय भी हो सकें; उनका जीवन-स्तर उठाया जा सके; समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक असमानता मिटायी जा सके; और देश को सभी दृष्टि से समृद्ध बनाया जा सके। आर्थिक विकास-सम्बन्धी इन योजनाओं को पंचवर्षीय खण्डों के क्रम में लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप चलाया जा रहा है। उन क्षेत्रों में जहां निजी विनियोग अथवा प्रयत्न सम्भव नहीं है—सरकार स्वयं सक्रिय भाग लेती है। शेष क्षेत्रों को अखिल राष्ट्रीय योजना के अनुरूप गतिशील रखने के लिए उपयुक्त प्रशुल्क-नीति, प्रत्यक्ष प्रोत्साहन और अन्य

सम्बलों का आश्रय लिया जाता है। सम्पूर्ण राष्ट्र को सुसंगठित योजनाओं के आधार पर प्रगतिशील बनाने के ये लोकतंत्रीय प्रयास विश्व के इतिहास में अद्वितीय हैं। एशिया और अफ्रीका के अन्य पिछड़े देश भारत की आर्थिक योजनाओं के सफल प्रयोगों की ओर दृष्टि लगाये हैं। वे भी अपने यहां की स्थिति सुधारने के लिए आर्थिक योजनाओं के क्रमबद्ध प्रयोग करने की ओर प्रयत्नशील हो रहे हैं।

स्वतन्त्र भारत में सर्वतोमुखी आर्थिक विकास के प्रयत्नों के साथ भूमि-व्यवस्था पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। कृषिप्रधान देश होने के कारण यहां के आर्थिक-सामाजिक विकास में भूमि-स्वामित्व और कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों को स्थिति और अवसर-सम्बन्धी समानता देने के लिए भूमि-व्यवस्था में समुचित संशोधन आवश्यक रहा है। भूमि-सुधार के इस महत्त्व को समझते हुए ही स्वतन्त्र भारत-सरकार ने उपयुक्त भूमि-व्यवस्था को आर्थिक विकास योजना के निर्देशक सिद्धान्त के रूप में अपनाया है। स्वतन्त्रता के पश्चात से ही उसे प्राप्त करने के लिए सफल प्रयास भी हुए हैं। इस सम्बन्ध में भू-स्वामी मध्यस्थों को समाप्त करने की ओर सबसे पहले प्रयास हुआ और जमींदारी-उन्मूलन अधिनियमों द्वारा भारत संघ के विभिन्न राज्यों में कृषकों और सरकार के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करा दिये गये। भूमि सम्बन्धी अन्य दोषों को मिटाने के भी प्रयत्न किये गये हैं। छोटे-छोटे भूमि-खण्डों को मिला कर बड़े कृषि-क्षेत्र बनाने के लिए चकबन्दी और सहकारी खेती का प्रसार किया जा रहा है। भूमिहीन कृषक श्रमिकों की समस्या सुलझाने तथा भूमि का अनुचित केन्द्रीकरण मिटाने के लिए विभिन्न राज्यों में जोत पर सीमाएँ लगायी जा रही हैं। आचार्य विनोबा भावे द्वारा संचालित भूदान और ग्रामदान आन्दोलनों ने भी भूमि-सम्बन्धी उपर्युक्त प्रमुख सुधारों के प्रसार में पर्याप्त योग दिया है।

भारत की आर्थिक क्रान्ति देश की ग्रामीण जनता के सहयोग और प्रयत्न के अभाव में सफल नहीं हो सकती थी। देश के साढ़े पांच लाख गांवों में रहने वाली ८२·७ प्रतिशत जनता के सर्वतोमुखी विकास के लिए ऐसा क्रम प्रारम्भ करना आवश्यक था, जिसमें ग्रामीण अपनी विपन्नता, अज्ञान और शिथिलता दूर करने का प्रयास स्वयं कर सकें। इसके लिए भारत सरकार द्वारा सामुदायिक विकास योजनाएँ और राष्ट्रीय प्रसार-सेवाएं चलायी जा रही हैं। उनसे ग्रामीणों में अपनी पैदावार बढ़ाने, नये कारोबार सीखने, अपने घरों को ठीक ढंग से बनाने, सफाई रखने और मनोरंजन के साधनों को ढूंढ़ने तथा उनका व्यवहार करने का उत्साह

भरा जा रहा है। इनके अन्तर्गत शिक्षा और चिकित्सा के साधनों को सरकारी विभागों और राज्य-कर्मचारियों द्वारा प्रसारित कराया जाता है।

प्रथम आयोजन के अन्त तक भारत के लगभग एक लाख चालीस हजार गांव और लगभग आठ करोड़ ग्रामीण-जनता इनसे प्रभावित हुई। द्वितीय आयोजन के अन्त तक सम्पूर्ण देश के ग्रामीण क्षेत्रों को इनके अन्तर्गत ला देना है। इनसे भारतीय ग्रामीणों में नयी चेतना उत्पन्न हुई है। एक-एक व्यक्ति और परिवार अपनी समस्याओं को विवेकपूर्ण ढंग से समझने और उनका सुलझाव अपने प्रयत्नों से करके अपना जीवन-स्तर उठाने की विधि सीख रहे हैं। भारत की सामुदायिक विकास योजनाएं अपने आकार और संगठित प्रशासन की दृष्टि से विश्व के इतिहास में अपूर्व हैं।

किसी भी राष्ट्र की सतत प्रगति उसके नागरिकों के त्याग और श्रम पर आधारित होती है। यह तभी सम्भव है जब अधिकांश लोग अपने वैयक्तिक हितों को राष्ट्रीय हितों से आत्मसात कर लें। नवजात स्वतंत्र भारत-राष्ट्र का भविष्य निश्चित और प्रगतिमय बनाने के लिए भारतीयों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर उनमें राष्ट्र के लिए निजी स्वार्थों और स्वत्वों को त्यागने की भावना बढ़ाना अनिवार्य रहा है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के प्रिय शिष्य आचार्य विनोबा भावे अपने भूदान, सम्पत्ति दान, जीवनदान और ग्रामदान आन्दोलनों से नवराष्ट्र की इसी आधारशिला का निर्माण कर रहे हैं। इन आन्दोलनों का प्रारम्भ आर्थिक दुर्व्यवस्था निवारण के क्रम में होते हुए भी इनका प्रभाव सामाजिक पुनर्गठन के रूप में प्रकट हुआ है। यही कारण है कि इनको प्रस्तुत रचना में आर्थिक क्रान्तियों और सामाजिक क्रान्तियों का संयोजक माना गया है। सन्त विनोबा के कुशल नेतृत्व में संचालित ये आन्दोलन विश्व को यह नया प्रकाश दे रहे हैं कि अहिंसा पद्धति द्वारा भी कितनी सुगमता से स्वामित्व की भावना समाप्त हो सकती है। इनसे विश्व के इतिहास में समाजवादी समाज स्थापित करने का एक नया मार्ग सुलभ हो सका है। सन् १९५६ के अन्त तक भारत के विभिन्न क्षेत्रों से लगभग बयालीस लाख एकड़ भूमि भूदान के रूप में प्राप्त हुई जिसके वितरण से लगभग दो लाख परिवार लाभान्वित हुए।

भारत-सरकार का उद्देश्य केवल प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था कायम रखना ही नहीं है बल्कि एक कल्याणमय राज्य की स्थापना करनी है। इसके लिए देश के प्रत्येक नागरिक को आर्थिक उन्नति का निर्बाध क्षेत्र देने के साथ ही उसके लिए समाज में मर्यादापूर्ण स्थान सुरक्षित करना अपरिहार्य है। वर्ग, जाति, रंग, धर्म आदि से प्रभावित न होकर स्वतन्त्र प्रगति का समान अवसर प्रत्येक नागरिक को

देना आवश्यक रहा है। परम्परागत प्रथाओं और अनुचित सामाजिक संस्थाओं के कारण जिनकी समाज में अवहेलना होती रही है, अथवा जिनका शोषण किया जाता रहा है, उन्हें नैतिक और मर्यादापूर्ण जीवन बिताने के लिए सुरक्षित क्षेत्र देना समाज को प्रगतिशील बनाने के लिए आवश्यक है। भारत-सरकार ने इन्हीं सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए ऐसे नियम बनाये हैं, जिनसे प्रत्येक नागरिक को सभी सीमाओं से मुक्त कर विकास का उन्मुक्त क्षेत्र दिया जा सका है। देश की प्राकृतिक शक्तियों के उच्चतम प्रयोग वाली आर्थिक क्रान्तियों के साथ समाज की कुप्रथाओं को मिटाने तथा दलित और उपेक्षित वर्गों को मर्यादापूर्ण स्थान देने के लिए शान्तिपूर्ण रीति से सामाजिक क्रान्तियाँ हो रही हैं। ये क्रान्तियाँ विधान और प्रचार दोनों मार्गों का सम्बल लेती रही हैं।

विधानों के अन्तर्गत हिन्दू महिलाओं को विवाह और उत्तराधिकार सम्बन्धी विशेष अधिकार देने, उन्हें अनैतिकता से बचाने, बच्चों को शोषण और अनैतिक संदर्भों से सुरक्षित रखने के लिए बनाये गये अधिनियम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। अपाहिजों और भिक्षुकों को भी उचित आश्रय दिये जाने की व्यवस्था स्वतन्त्र भारत-सरकार द्वारा की जा रही है। अपराधी मनोवृत्ति वालों को सुधारने और उन्हें समाज में मिलाने के लिए महात्मा गांधी के विचारों को सक्रिय रूप दिया जा रहा है। जेलों को अपराधियों की चिकित्सा और उनके सुधार के केन्द्रों के रूप में परिवर्तित किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश सरकार के इस सम्बन्ध के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं।

समाज के कलंक----छुआछूत की भावना को समाप्त करने के लिए संविधान के अनुच्छेद १७ के आधार पर सन् १९५५ में अस्पृश्यता अधिनियम बनाया गया ताकि दलित जातियों के प्रति उच्च वर्गों द्वारा किये जाने वाले अन्यायों को वैधानिक रीति से समाप्त किया जा सके। उनको आगे बढ़ने के लिए विशेष सुविधाएं और सहायता दी गयी है। देश के आदिवासी क्षेत्रों को समुन्नत बनाने के लिए भी विशिष्ट प्रयास हुए हैं, ताकि आदिवासी विकसित होकर समुन्नत समाज में घुलमिल सकें। पाश्चात्य देशों की तरह उन्हें समाज से बहिष्कृत नहीं किया जाता, बल्कि उनके स्तर को उठाकर उन्हें विकसित समाज में सम्मिलित कर लेने के लिए संगठित प्रयास हो रहे हैं। स्वतन्त्र भारत में इस प्रकार सामाजिक पुनर्गठन लाने के प्रयास, भारतीय संस्कृति और आदर्शों के अनुरूप ही रहे हैं।

इन विविध क्षेत्रीय प्रयत्नों के समक्ष भी जन-साधारण का बढ़ता हुआ असन्तोष कभी-कभी यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि क्या भारत सचमुच प्रगति के पथ पर

है ? इस पर गम्भीर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि यह असन्तोष हमारी प्रगति का ही द्योतक है। जनता की जागरूकता, अपने अधिकारों के प्रति उसकी सतर्कता और सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नों के प्रति उसकी सचेष्टता ही इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि आज का भारत स्वतन्त्रता के पूर्व वाले भारत से बहुत कुछ बदल चुका है। लेकिन विकास के क्रम में पड़ने वाली बाधाएं जो समय-समय पर क्षेत्रीय भक्ति के रूप में प्रकट होती हैं उग्र रूप धारण कर सकती हैं। उनके प्रति सतर्क होना आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो जाय कि राष्ट्रीय भावना क्षेत्रीय भावनाओं की उग्रता में विलीन हो जाय और सम्पूर्ण भारत में मध्यकालीन स्थिति पुनः लौट आये। अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतियों के अंतर्गत नवराष्ट्र-निर्माण में संलग्न शक्तियों—जनता, जननेता और राज्य-कर्मचारियों की राष्ट्रीय एकता और प्रगति सम्बन्धी सतर्कता को देखते हुए इस प्रकार का अवरोध अब उपस्थित होना असम्भव सा प्रतीत होता है।